—सस्ता साहित्य मण्डल सतानवेवां ग्रन्थ—

समन्वय

श्री डॉ० भगवान्दास के
लेखों और व्याख्यानों का संग्रह

प्रकाशक
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
—शाखायें—
दिल्ली लखनऊ इन्दौर

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण
प्रथम प्रकाशन (भारती भंडार, काशी)
द्वितीय प्रकाशन (सस्ता साहित्य मंडल)
मूल्य
सजिल्द का दो रुपया

मुद्रक,
श्री रामकिशोर गुप्त,
साहित्य प्रेस, चिरगांव (झांसी)

विषय-सूची

प्रथम प्रकाशक का निवेदन

भारती भण्डार का यह सौभाग्य है कि 'समन्वय' के रूप में उस तत्त्व दर्शी मुनिवर श्रीभगवानदास का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। भण्डार को इस बात का गर्व है कि इसके द्वारा पहिले पहल आपकी पुस्तक मातृभाषा हिन्दी में निकल रही है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिसके प्रकाशन से हिन्दी ही नहीं समस्त देशी भाषाओं का मस्तक ऊँचा हुआ है, क्योंकि बाबू साहब संसार के उन इनेगिने लोगों में हैं जो मानवीय जगत के विचारों को कोई वास्तविक निधि दे सकते हैं। हमारा ध्रुव विश्वास है कि यह हिन्दी की एक ऐसी पुस्तक होगी जो केवल भारतीय भाषाओं में ही नहीं, बल्कि विदेशी भाषाओं में भी अनुवादित होगी। क्योंकि जिन समस्याओं का इसमें समन्वय हुआ है वे केवल भारत में ही नहीं सभी देशों में, किसी-न किसी रूप में, विद्यमान हैं।

कारण कि, या तो मनुष्य अपने को—बुद्धि-बल के कारण—पृथ्वी मात्र के प्राणियों में श्रेष्ठ समझता है और वास्तव में बुद्धि है भी एक अमोघ शक्ति। किन्तु उसी बुद्धि का मानवता ने ऐसा दुरुपयोग मचा रक्खा है कि उसने अपने को एक बड़े जाल में जकड़ दिया है। क्या उपासना, क्या ज्ञान, क्या कर्म, तीनों ही मार्गों में मनुष्य इस समय एक भूल भुलैया में पड़ा हुआ है। और उसमें पग-पग पर उसे रूढ़ियों की ऐसी ठोकरें खानी पड़ती हैं कि वह मुँह के बल आ जाता है। खेद कि

अपने को ऐसी स्थिति में बक्षा देने का जिम्मेदार स्वय मनुष्य ही ह ।

ऐसे समय 'समन्वय' सदृश ग्रथ ही अध में पड़ी मानवता को आलाक प्रदान कर सकते ह और उन्ह उन रूढ़ियो के टक्कर से बचा सकते ह जो किसी समय की सामाजिक आवश्यकता के अब ऐतिहासिक चिन्ह मात्र ह । ऐसे ही निबधो से हमारा मोह से निबेरा हो सकता ह और मोह मे निबेरे में ही कल्याण है, तभी भगवान गीता में कहते है—

यदा ते मोहकलिल बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदागन्तासि निर्वेद श्रोतव्यस्यश्रुतस्य च ॥

सो, हमें पूरी आशा ह कि समन्वय-द्वारा लोक अवश्य ही प्राचीन का नवीन के साथ देश-कालानुसार उपयोग करेगा और उसी क आदश पर पुन एक एसे समाज की रचना कर सकेगा जो—

कृणुध्वं विश्वमार्यम्

—इस वेद-मत्र का सिद्ध कर सके ।

आशा है, इस पुस्तक का हिन्दी-ससार खूब स्वागत करेगा ।

काशी
श्रावण शुक्ल ११, १९८५

—प्रकाशक

प्रस्तावना

भगीरथ के रथ पीछे लगी भगी भागीरथी जग तारिबे को,
डिग आइ जबै सब न्हाइये, पाप मिटाइये, पुयय कमाइये को,
येगि चरण विन्ध्याद्रि धर्यौ जब,पै अति आनन्द से जड़ होइ कै,
भूलि गयी है बढ़ाइये को, अरु भूलि गयो है निसारिबे को ॥

काशी स प्राय दस कोस उत्तर-पश्चिम, गंगा के जल में अर्धमग्न, न जाने कितने सहस्र वर्षो स, विन्ध्य पवत का एक दाल तपस्या कर रहा है। कुछ दूर से, पूव की ओर से, देखने स, उसका आकार ठीक मनुष्य क चरण क ऐसा जान पडता है। इसीम उसका चरणाद्रि नाम पड़ा है। प्राय दो सहस्र वप पूव, विक्रमादित्य के समय से, उस पर दुग बना है। कथा प्रथित ह कि विक्रमादित्य के बडे भाई भर्तृहरि ने, विरक्त होकर भाई का राज सौंप कर, इसी स्थान में आकर तपस्या की, योग साधा, मोक्ष पाई, अमर हुए। "कलि में अमर राजा भरथरी।" दुर्ग के भीतर उनका समाधिस्थान अबतक दिखाया जाता है। गिरि दुग के नीचे, गंगा के किनारे, एक छोटी बस्ती बसी ह, जिसको गिरि के नाम से ही, हिन्दी में संस्कृत शब्द के रूप का परिवत्तन करके, (चरनारगढ़, चरनार) चुनार कहते हैं। बस्ती स कोई डेढ़ कोस पर, पवत की दरी में, झरने के किनारे, दुर्गा देवी का पुराना मन्दिर ह। किवदंती ह कि कही उसी के पास, शृगी ऋषि का आश्रम था, जो महाराज परीक्षित् को राजधम का

अल्प ही उल्लघन करने के लिए, अति दण्ड देकर, श्रीमद्भागवत पुराण के अवतार के, परम्परया, कारण हुए ।

इस बस्ती में, गंगातट पर, ढाई वय से मने शरण लिया है । कभी कभी काशी जाता रहता हूँ । प्रीतिपात्र राय कृष्णदासजी ने, वहा एक वार यह इच्छा प्रकट की कि मेरे कुछ हिन्दी लेखो और व्याख्याना का सग्रह छापा जाय । उनकी विशेप आस्था उस लेखमाला पर थी, जा "समन्वय" के नाम से, मेरे प्रिय मित्र श्री शिवप्रमाद गुप्त के "आज' नामक दनिक पत्र में छपी थी । इन लखा का मूल एक व्याख्यान था जिसे, उन्हीं शिवप्रसादजी की उदारता और लोकोपकार बुद्धि से स्थापित काशी विद्यापीठ में समावर्तन सस्कार के समय एक वार्षिकोत्सव में मने दिया था । उसके साथ, कुछ और लेख और व्याख्यान भी मिलाय गये । दो लेख नये भी इस सग्रह के लिए मन लिखे । कृष्णदासजी की श्रद्धा से मुझे भी उत्साह हुआ । सब संग्रह का नाम "समन्वय" ही रक्खा गया, क्याकि सभी लेखा का अभिप्राय विविध विचारा और भावो और रीतियों का विरोध-परिहार और परस्पर सम्बन्ध सम्वाद, समन्वय करना ही ह ।

राय कृष्णदासजी न, अपने मित्र सुकवि श्री मैथिलीशरण गुप्तजी के "साहित्य प्रेस" में, इस संग्रह के छपने का प्रबन्ध किया । मने प्रूफ देखा तो सही, पर छापाखाना चिरगाँव (जिला झासी) में, और म चुनार में, प्राय डढ़ सौ कोस की दूरी पर, इससे अशुद्धियाँ रह गई ह, अध्यता सज्जन सहज में अपनी बुद्धि से इनकी शुद्धि कर लगे । कृष्णदासजी को जितना ये लेख रुचे, उनका चतुर्थांश भी यदि अन्य पढने वाले सज्जनों को रुचे, तो उनका और श्री मथिलीशरणजी का उत्साह, इस संग्रह के छपाने का, सफल हो, और म भी कृताथ और धन्यम्मन्य होऊँ ।

भर्तृहरि की कीर्ति से व्याप्त प्रदेश में आया हूँ, इसलिए जिस श्लोक से उन्होंने अपने प्रसिद्ध नीति—शृंगार—वैराग्य-शतकों का आरम्भ किया है, उसी के कुछ परिवर्तित रूप से इस प्रस्तावना का अन्त करता हूँ।

या (विद्यां) चिन्तयामि (अहं, जीवात्मा, अध्यात्म वैराग्य
बीजेन) सततं, मयि सा विरक्ता,
सा चान्यमिच्छति जनं (परमात्मानं)
स जनोऽन्यसक्तः (अविद्याया सक्तः,
स्वमहिमानं, विद्यापतित्वं कृतं विहाय मद्रूपं जीवात्मत्वं धारयति)
अस्मत्कृते च (जीवात्मना उद्धरणाय, तारणाय,
निरंतरं यतमाना जगद्धात्री विद्या)
परितुष्यति सा त्वथाऽन्या,
धन्या वयं ननु परस्पर भावबद्धाः॥

'विश्राम" चुनार,
सम्वत् १९८५

—भगवान्दास

पुनश्च

यह पुस्तक मूलतः 'भारतीय भंडार, काशी' में, श्री रायकृष्णदासजी के प्रयत्न से छपी, पर अब इसका सारा स्टाक, 'सस्ता-साहित्य-मंडल, नई दिल्ली', ने खरीद लिया है यह उस मंडल के मंत्री श्री मार्तण्ड उपाध्यायजी के पत्र से मुझे विदित हुआ। अब यह पुस्तक मंडल की ओर से ही प्रकाशित मानी जानी चाहिए।

—भगवान्दास

शान्तिसदन, सिगरा,
बनारस कैंट, १०—५—४०

समन्वय

गणपति-पूजा

॥ ॐ ॥
गणाना त्वा गणपतिं हवामहे ।
प्रियाणा त्वा प्रियपतिं हवामहे ।
निधीना त्वा निधिपतिं हवामहे ॥
॥ ॐ ॥

[हिन्दू-विश्वविद्यालय में महाराष्ट्र विद्यार्थियो की एक समिति है। भाद्रपद सं०१९८२ मे उसने गणेश चतुर्थी मे आरम्भ करके तीन दिन गणपति-उत्सव मनाया। तीसरे दिन सन्ध्या समय हिन्दू विश्वविद्यालय के "आर्ट्स-कालेज हाल" में, उनके निमंत्रण से, श्रीभगवानदासजी का व्याख्यान हुआ। उसका आशय यह है।]

अमृत-विष-पान

नैषध-चरित नामक प्रसिद्ध काव्य में श्लोक है—

सततममृतादेवाहाराद् यदाऽरोचक
तन्मृतभुजा भर्त्ता शम्भुर्विषं बुभुजे विभु ॥

देवता सदा अमृत पीया करते हैं। उनके पति, सत्तम बड़े देवता, महा देव का क्या कहना है। वे तो नित्य नित्य उत्तमोत्तम अमृत बहुत ही पीते होंगे। पर इस नित्य नित्य के अमृतपान से वे उद्विग्न हो गये। उनको अरोचक हो गया। तो मनफेर के लिये उन्होंने हालाहल विष पान कर लिया।

आप लोगों को अच्छे से अच्छे शास्त्रज्ञ विद्वान अध्यापकों के व्याख्यान सुनते सुनते अनल्पमेव अजीर्ण हो गया है, इसी लिये आपको मेरी टूटी फूटी बातें सुनने की इच्छा हुई, और आपने अनुरोध करके मुझको यहाँ बुलवाया। मुझे सचमुच व्याख्यान देने का अभ्यास नहीं। इस प्रकार से सभा में बोलने में बहुत श्रम और थकावट मानता हूँ, और उस पर अधिक कठिनता यह है कि झंझट के कामों से अवकाश भी नहीं कि कुछ अध्ययन करके, कुछ सोच विचार के, व्याख्यान की सामग्री एकत्र करूं। आज ही कथंचित् घंटे दो घंटे में एक दो पुराण उलट पुलट कर गणेशजी की कथा कुछ देख पाया हूँ। मैंने सोचा कि गणपति उत्सव के सम्बन्ध में गणपति की कथा ही कहना उचित होगा।

उत्सव और हिन्दू धर्म

छात्रों को विशेष कर, और मनुष्यमात्र को सामान्यत, उत्सव बहुत प्रिय होते हैं। खेल, मनबहलाव, किसको नहीं अच्छा लगता। सब देश में, सब जातियों में, किसी न किसी बहाने से उत्सव मनाये जाते हैं। पश्चिम के देशों में घुड़दौड़, नावदौड़ आदि के व्याज से, और थियेटर, सिनेमा, तो बड़े शहरों में हर रात जारी रहते हैं, जैसा अब इस देश में भी हो चला है। पर यहाँ की पुरानी प्रथा यही रही है कि उत्सव भी धर्म के नाम के संबन्ध से मनाये जायँ। प्रसिद्ध ही है कि हिंदू का खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना, छींकना, खाँसना, रोजगार, व्यवहार, सभी धर्म के नाम से होता है। यहाँ तक कि चोरी और ठगी भी भवानी की पूजा कर के और अच्छा मुहूर्त देख के चोरधर्मशास्त्र के अनुसार होती रही है। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री को सचमुच एक चोरधर्मशास्त्र की संस्कृत में प्राचीन पुस्तक मिली है। यदि धर्म का अर्थ हेतुयुक्त कार्यकारण-सम्बन्धानुसधानात्मक लोकसंग्राहक सत्कर्मोपयोगी ज्ञान समझा जाय, जो ही "सायंस" और शास्त्र का भी सच्चा अर्थ है, तो प्राचीन और नवीन भावों का समन्वय हो जाय, यथा सब ही कर्म, सब ही आहार, विहार, व्यवहार, 'धर्म' अर्थात् "सायंस" अर्थात् दृष्ट अदृष्ट-फलबोधक सच्छास्त्र के अनुसार होना ही चाहिये। अस्तु। उत्सवों का और धर्म का इस देश में घनिष्ठ संबंध बहुत काल से हो रहा

है। यदि सूची तैयार की जाय तो स्यात् वर्ष के तीन सौ पैंठस दिनों के लिये कम से कम सात सौ बीस त्यौहार निकल आवेंगे। पर मुख्य त्यौहार दो प्रकार के हैं, एक युगादिपर्व अथवा ऋतु परिवर्तन सबधी, जैसे वसतपचमी, होलिका, देवशयन, देवोत्थान, श्रावणी, दीपावली, शरत् पूर्णिमा, कार्तिकीपूर्णिमा, आदि। और दूसरे ऐतिहासिक पौराणिक घटना सबधी जैसे राम नवमी, विजयदशमी, कृष्णजन्माष्टमी, शिवरात्रि, वामनद्वादशी, नरसिंहचतुर्दशी, हनुमान्चतुर्दशी आदि। गणेशचतुर्थी को पौराणिक इति वृत्त का स्मारक उत्सव समझना चाहिये।

परिश्रम और विनोद

अंग्रेजो में कहावत है "आल वर्क ऐण्ड नो प्ले मेक्स जैक ए डल व्वाय।" अर्थात् यदि लड़का पढ़ने लिखने ही में दिन रात परिश्रम करता रहे और खेलकूद कुछ न करे तो उसकी बुद्धि मन्द हो जाती है। इस न्याय का परिणाम रूप दूसरा न्याय छात्रों ने अपने लिये बना लिया है कि "आल प्ले ऐ ड नो वर्क मस्ट मेक जैक ए ब्राइट व्वाय।" अर्थात् यदि लड़का खेलकूद ही में लगा रहे, और पढ़ना लिखना न छूवे, तो अवश्यमेव उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र और स्फूर्तिमती हो जायगी। इसी से आप देखते हैं कि स्कूल, कालिज, पाठशाला, मदरसों में प्राय सात आठ महीने छुट्टी होती है और पाच चार महीने पढ़ाई। पर छात्रशुभचिंतक अध्यापक मडली इस फिक्र मे रहती है कि किसी प्रकार से छुट्टियों में भी अध्ययन का काम करा लिया जाय। इस लिये उत्सवों में भी आप लोगों को किसी प्रकार स लेक्चर,

व्याख्यान, ही सुनवा दिये जाते हैं। ठीक ही है, खेल से काम को और काम से खेल को मदद मिलनी ही चाहिए।

कर्मण्यकर्म य पश्येदकर्मणि च कर्म य ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत ॥

"कर्म में अकर्म को, और अकर्म में कर्म को जो देखता और पहिचानता है वही तो मनुष्यों में बुद्धिमान् है, योगी है, सब कामों का करने वाला है।"

इस गीता के श्लोक का भी कुछ ऐसा ही अर्थ होगा। और भी—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयतु व ।
परस्पर भावयत श्रेय परमवाप्स्यथ ॥

"(प्रजापति ने यज्ञ के साथ मानव प्रजा की रचना करके कहा कि) तुम लोग इस यज्ञ से देवताओं का पोषण करो, तब वे देवता तुम्हारा पोषण करेंगे। परस्पर सहायता करते हुए दोनों परम श्रेयस् को पाओगे।"

इसका भी अर्थ यों लग सकता है—देवनात् खेलनाद् देवा, मननाद् अध्ययनात् मनुष्या, देवनं च मननं च परस्परं भावय त'। खेलने से छात्र हृष्टपुष्ट होते हैं, उससे अध्ययन के लिये उत्साह और बल अधिक होता है। तथा उत्साह और बल से अध्ययन करने के बाद खेलने की इच्छा भी अधिक उत्कट होती है।

इस प्रकार खेल-कूद का और ज्ञानवृद्धि का, उत्सवों का और व्यावहारिक परिश्रम का, अन्योऽन्याश्रय है।

गणपति की उत्पत्ति

आप लोग तीन दिन से गणेशोत्सव मना रहे हैं, तो गणपतिपूजन का समयोपयोगी अर्थ भी कुछ लगाना चाहिये।

पश्चिम की रीति से पढ़े लिखे विद्वान यह कहते हैं कि गणेश मूलतः आर्यों के देवता नहीं, किंतु भारतवर्ष की किसी असभ्य प्राचीन जाति के विकृतरूप देवता हैं, जिनको आर्य लोगों ने उस असभ्य जाति को जीतने के बाद उसके सांत्वनार्थ अपनी देवमण्डली में मिला लिया। इस विचार में कितना अंश सत्य है कितना मिथ्या, इसके विवेचन की शक्ति सुगम नहीं। इसका निर्णय आपके महाविद्यालय के महापण्डित पुरातत्त्ववेत्ता अपनी सूक्ष्मेक्षिका से करेंगे। मैं तो श्रीगणेशजी के स्थूलकाय के अनुरूप स्थूल दृष्टि से इतना ही देखता हूँ कि, पहिले जो कुछ रहे हों, अब तो ये आर्यों के परम आर्यदेव, विकृत रूप होते हुए भी बड़े सुन्दर रूपक के आश्रय, हो रहे हैं। तो भी यहाँ इतना कहना अनुचित न होगा कि इन पाश्चात्य विद्वानों का विचार सर्वथा निर्मूल नहीं है। मानव गृह्य सूत्र (२।१४) से जान पड़ता है कि पहिले चार विनायक माने जाते थे, (१) शालकटंकट, (२) कूष्माण्डराजपुत्र, (३) उस्मित, (४) देवयजन। तथा यह माना जाता था कि ये मनुष्यों में, स्त्रियों में, बालकों में, प्रेतवत् आवेश प्रवेश करके विविध उपद्रव करते कराते थे। और इनकी शांति मद्य-मांसादिक के अर्पण तर्पण से की जाती थी, जैसा आजकाल भी, विशेष कर " छोटी " अथवा "नीच" कहलाने वाली जातियों

मे, और पांतो में अधिकतर, झाड़ फूक, टोना-टोटका, उतारा डोला, आदि के विविध उपचारों प्रकारों से भूतप्रेतादि को और रोगादि की की जाती है। याज्ञवल्क्यस्मृति के समय तक ये चार एकत्र करके एक बना लिये गये थे, पर नाम इस एक उपदेव के छः रहे, जो उक्त चार के ही रूपांतर हैं, यथा, शाल, कटकट, कूष्माड, राजपुत्र, मित और सम्मित (१ २७१, २८५)।

इस परिवर्त्तन से क्या अर्थ निकालना चाहिये ?

बात यह है कि सभी संसार परिवर्त्तनशील है। सभ्यता शालीनता, इष्ट पूज्य, पूजा अर्चा, विश्वास आचार, रहन सहन सभी के रूप बदलते रहते हैं। मूलतत्त्व, जिनका प्रतिपादन दर्शनों मे किया है, वे नहीं बदलते। मनुष्य की परिवर्त्तमान प्रकृति के अनुसार उसकी सभी सामग्री बदलती रहती है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुष यो यच्छ्रद्ध स एव स ।
यजते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसा ।
प्रेतान भूतगणांश्चान्ये यजते तामसा जना ॥ (गीता)
यदन्न पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवता ॥ (रामायण)
देवान देवयजो याति मद्भक्ता याति मामपि ॥ (गीता)

"श्रद्धा ही पुरुष का स्वभाव है, तात्त्विक स्वरूप है, जिसकी जो श्रद्धा है, हृदय की इच्छा है, वही वह है। सात्त्विक जीव देवों को पूजते हैं, राजस यक्ष राक्षसों को, तामस भूतप्रेतों को। जो अन्न मनुष्य खाता है वही उसके देवता खाते हैं। देवताओं के पूजने वाले देवताओं के पास जाते हैं, मेरा भक्त मेरे पास आता है।'

अर्थात् तामस प्रकृति के मनुष्यों के देवता भी तामस, राजसों के राजस, सात्विकों के सात्विक। गुणों से परे, गुणों के मालिक, आत्मा को पहिचानने वाले आत्मवानों के लिये एक आत्मा सर्वव्यापी सर्वदेवमय ही देवता है।

ज्यों ज्यों मनुष्यों की प्रकृति में उत्कर्ष होता है त्यों त्यों उनके देवताओं में भी।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राजस तामस उपदेवता कहिये, शक्तियाँ कहिये, भूतप्रेतपिशाचादि कहिये, सर्वथा मिथ्या हैं, केवल कल्पना हैं, अत्यवासत् हैं। ऐसा नहीं। उनमें भी वैसी व्यावहारिक सत्ता है जैसी सात्विकों में। किंतु पूजक की भावना कल्पना वासना के अनुसार भावित इष्ट का आकार और यत्न भी होता है, घटता बढ़ता और बदलता है।

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

मननात् त्रायते इति मंत्र। मंत्रमूर्तिर्देव।

भक्तानामनुकंपार्थं देवो विग्रहवान् भवेत्।

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्। इत्यादि।

"मनन करने से जो त्राण करे वह मंत्र। देव की मूर्त्ति मंत्र है, मंत्रानुसार है। निराकार परमात्मा भक्तों के अनुग्रह के लिये उनकी भावना के अनुसार विग्रह अर्थात् शरीर धारण कर लेता है। जो जैसा मुझे भजते हैं मैं भी उन्हें वैसा ही भजता हूँ।"

यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि मनुष्य जैसे प्रकृति के दृश्य स्थूल पदार्थों और पशुओं से अपने प्रयोजनानुसार काम लेता है और उनके आकार प्रकार बदल लेता

है और उनको सिखा लेता है, वैसे ही अदृश्य, अल्पदृश्य, सूक्ष्म देवोपदेवों के विषय में भी। पर इनके विषय में मानस भावना मुख्य साधन है। जंगली मनुष्य की सामग्री, हथियार आदि, जंगली होती है, नागरिक की नागरिक परिष्कृत संस्कृत। क्रमश उत्कर्ष होता है। ऐसा उत्कर्ष और परिवर्तन हो सकने में हेतु यह है कि तीनों गुण, सत्त्व, रजस्, तमस्, सर्वदा अन्योन्यसंबद्ध और अपृथक्कार्य हैं। रुद्र ही शिवशंकर हो जाते हैं, भव ही संहारकर्त्ता हर हो जाते हैं। विष्णु ही मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन आदि। गौरी ही काली, चंडिका ही अन्नपूर्णा। वही मनुष्य अभी स्नेही अभी क्रोधी, अभी हँसमुख अभी रोनीसूरत, अभी आलसी अभी उत्साही।

निष्कर्ष यह कि पूर्वरूप गणेशजी का चाहे विकट शाल-कटंकट आदि का रहा हो पर अब तो चिरकाल से शुद्धि और संस्कार होते होते सर्वप्रिय गोलमोल बालक का हो गया है।

जिस सुन्दर भवन में इस समय हम आप सब बैठे हैं उसको यदि कोई कहे कि यह मूलत मृत्तिका है तो अवश्य अशत सत्य है। पर क्या सर्वथा सत्य है? क्या यह केवल मृत्तिका ही है? क्या इसमें इसके बनानेवालों की बुद्धि का सौंदर्य नहीं है? हम सबके शरीर हो पांचभौतिक हैं। पर क्या केवल पंचभूत ही इनमें हैं? आत्मा भी तो है। गणेशजी चाहे कहीं से आये हों, इस समय तो सब देवताओं के आगे उनकी पूजा हो रही है। उनकी उत्पत्ति के पौराणिक आख्यान ही कहते हैं कि वे मिट्टी से बनाये गये। पर बनानेवाले की शक्ति भी उनमें है, और इस कारण पीछे जो उनकी महिमा

हुई यह उनके नाम ही से सिद्ध है, 'सर्वदेवगणाना ईश' पति, गणपति, गणेश'।' भिन्न भिन्न पुराणों में थोड़े थोड़े भद से कथा कही है, पर मुख्य बातें समान हैं। शिवपुराण को ज्ञान संहिता में कहा है—

क्रियता चैव कालेन जया च विजया सखी।
पार्वत्या च मिलित्वा च विचारतत्पराऽभवत्॥
रुद्रस्य च गणा सर्वे नंदिभृ गिपुरःसरा।
प्रमथाश्च ह्यसंख्याता ह्यस्मदीयो न कश्चन॥
द्वारि तिष्ठ ति सर्वऽपि शिवस्याज्ञापरायणा।
इत्युक्ता पार्वती देवी सखीभ्या रुचिर वच॥
मदीय सेवक कश्चिद् भवेच्छुभतरस्तदा।
ममाज्ञया पर नान्यद्रेखामात्रचलेदिह॥
इति विचार्य सा देवी करयोर्जलसंभवम्।
चकमुत्सार्य तेनैव निर्ममे पुत्रक शुभम्॥

दला दली

अर्थात्—पर्वत की बेटी पार्वती की दो सखी, जया और विजया। नाम ही से इन लड़कियों की लड़ाकी प्रकृति का परिचय होता है। पर्वतनिवासी जातियाँ प्राय दूसरों से जित विजित नहीं होतीं, स्वय दूसरों पर जय विजय पाती रहती हैं। इन दोनों ने पार्वती को सलाह दी कि रुद्रजी के तो नन्दी, भृंगी आदि असंख्य प्रमथगण नौकर हैं जो सदा उनकी आज्ञापालन के लिये मरे जाते हैं, पर आपका कोई एक नौकर भी नहीं जो आपके कहे को रेखामात्र भी न टाले। बस

क्या-पूछना था। ऐसी सलाह तो झट मन मे बैठ ही जाती है। घर मे पहले छोटे बच्चे लड़ते हैं, तब उनकी माय अपनी अपनायतो दिखाने को लड़ती हैं, फिर उनकी माय उनका उनका पक्ष लेकर लड़ती हैं, फिर उनके बापों को, आपस के सगे भाइयो को, विवश होकर लड़ना पड़ता है। और इल्हे अलग अलग किये जाते हैं। जो दशा मनुष्यलोक की सो दशा देवलोक की। जीव की प्रकृति तो रागद्वेषात्मक सभी लोकों मे एक सी है। पार्वती देवी ने पानी मिट्टी से (किसी पुराण मे लिखा है, अपने पसीने की मैल से) भादो सुदी चौथ को खूब मोटा ताजा बेटा बनाकर महल के दरवाजे पर खड़ा कर दिया और हुक्म दे दिया कि कोई न आने पावे, विशेष करके शिव शकर तो आने ही न पावें। हुकूमत मे बड़ा रस है, और हुकूमत का अर्थ है दूसरों की निष्कारण भी रोक टोक, डॉट घोंट करना, और अपनी शान मशीखत दिखलाना।

सफ्राजेटिज़्म (स्त्रीराज्य)

लोग समझते हैं कि "सफ्राजेटिज्म" अर्थात् स्त्रियों का शासनादि कार्य में पुरुषो के तुल्य अधिकार चाहना, यह एक नयी बात पश्चिम के देशों ही मे पैदा हुई है। ऐसा नहीं। बड़ा पुराना भाव है, और इसके पोषक उदार हृदय पुरुष भी हो गये हैं। आर्यशिरोमणि भीष्मपितामह इसी कोटि मे हैं। स्त्रियो की, अपनी माताओं, बहिनो, पत्नियो को, सदा निन्दा करना, इस अभागे देश की चाल बहुत काल स हो रही है। मध्यकालीन सन्यासी शकर स भी न रहा गया, कह मारा, "द्वार किमेक

हुई यह उनके नाम ही से सिद्ध है, 'सर्वदेवगणाना ईश' पति, गणपति, गणेश।' भिन्न भिन्न पुराणों में थोड़े थोड़े भेद से कथा कही है, पर मुख्य बातें समान हैं। शिवपुराण की ज्ञान संहिता में कहा है—

कियता चैव कालेन जया च विजया सखी।
पार्वत्या च मिलित्वा च विचारतत्पराऽभवत्॥
रुद्रस्य च गणा सर्वे नन्दिभृङ्गिपुरःसरा।
प्रमथाश्च ह्यसंख्याता ह्यस्मदीयो न कश्चन॥
द्वारि तिष्ठन्ति सर्वेऽपि शिवस्याज्ञापरायणा।
इत्युक्ता पार्वती देवी सखीभ्यां रुचिरं वच॥
मदीय सेवक कश्चिद् भवेच्छुभतरस्तदा।
ममाज्ञया परं नान्यद्रेखामात्रचलेदिह॥
इति विचार्य सा देवी करयोर्मलसंभवम्।
पङ्कमुत्सार्य तेनैव निर्ममे पुत्रकं शुभम्॥

दला दली

अर्थात्—पर्वत की बेटी पार्वती की दो सखी, जया और विजया। नाम ही से इन लड़कियों की लड़ाकी प्रकृति का परिचय होता है। पर्वतनिवासी जातियाँ प्राय दूसरों से जित विजित नहीं होतीं, स्वय दूसरों पर जय विजय पाती रहती हैं। इन दोनों ने पार्वती को सलाह दी कि रुद्रजी के तो नन्दी, भृंगी आदि असंख्य प्रमथगण नौकर हैं जो सदा उनकी आज्ञापालन के लिये भरे जाते हैं, पर आपका कोई एक नौकर भी नहीं जो आपके कहे को रेखामात्र भी न टाले। बस

क्या पूछना था। ऐसी सलाह तो झट मन में बैठ ही जाती है। घर में पहले छोटे बच्चे लड़ते हैं, तब उनकी धाय अपनी अपनायतों खिलाने को लड़ती हैं, फिर उनकी माय उनका उनका पक्ष लेकर लड़ती हैं, फिर उनके बापों को, आपस के सगे भाइयों को, विवश होकर लड़ना पड़ता है। और चूल्हे अलग अलग किये जाते हैं। जो दशा मनुष्यलोक की सो दशा देवलोक की। जीव की प्रकृति तो रागद्वेषात्मक सभी लोकों में एक सी है। पार्वती देवी ने पानी मिट्टी से (किसी पुराण में लिखा है, अपने पसीने की मैल से) भादों सुदी चौथ को खूब मोटा ताजा बेटा बनाकर महल के दरवाजे पर खड़ा कर दिया और हुक्म दे दिया कि कोई न आने पावे, विशेष करके शिव शंकर तो आने ही न पावें। हुकूमत में बड़ा रस है, और हुकूमत का अर्थ है दूसरों की निष्कारण भी रोक टोक, डाँट डपट करना, और अपनी शान मशीखत दिखलाना।

सफ्राजेटिज्म (स्त्रीराज्य)

लोग समझते हैं कि "सफ्राजेटिज्म' अर्थात् स्त्रियों का शासनादि कार्य में पुरुषों के तुल्य अधिकार चाहना, यह एक नयी बात पच्छिम के देशों ही में पैदा हुई है। ऐसा नहीं। बड़ा पुराना भाव है, और इसके पोषक उदार हृदय पुरुष भी हो गये हैं। आर्यशिरोमणि भीष्मपितामह इसी कोटि में हैं। स्त्रियों को, अपनी माताओं, बहिनों, पत्नियों को, सदा निन्दा करना, इस अभागे देश की चाल बहुत काल से हो रही है। मध्यकालीन सन्यासी शंकर से भी न रहा गया, कह मारा, "द्वार किमेकं

नरकस्य नारी।" संन्यासी को ऐसी निन्दा करने से क्या मतलब? स्वयं भी तो माता के गर्भ से ही जनमे थे, और तमाशा यह कि बड़े मातृभक्त थे, यहाँ तक कि सन्यासी होते हुए भी, उस आश्रम के नियम के विरुद्ध, इन्होंने माता का अंत्य संस्कार किया! प्राचीन ऋषियों के भाव दूसरे थे।

जीर्णे भोजनमात्रेय गौतम प्राणिनां दया।
बृहस्पतिरविश्वास भार्गव स्त्रीषु मार्दवम्॥

"जब पहिले किया हुआ भोजन पच जाय तब ही फिर भोजन करो, अन्यथा नहीं, यह आत्रेय ऋषि का उपदेश है, सब प्राणियों पर दया करो, यह गौतम का, अत्यंत विश्वास किसी पर मत करो, यह बृहस्पति का; स्त्रियों से सदा मृदुता का व्यवहार करो, यह भार्गव का।"

वीरश्रेष्ठ भीष्म ने पुनः पुनः [शांतिपर्व, अ० २७२, चिरकारी उपाख्यान] में कहा है—

एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति॥
नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यंति चांगना॥

अर्थात्, स्त्री चाहे जो कुछ करे अपराध पुरुषों का ही है, जो कुछ अपराध होता है यह स्त्रियों के विरुद्ध होता है। स्त्री नहीं अपराध करती। पुरुषों को कोई हक नहीं कि स्त्रियों को गाली दें। स्त्रियों को गाली देना स्त्रियों के ही जिम्मे छोड़ा जाय तो इस गाली देने के काम में कभी कोताही न होगी। एक दूसरे की बुराई पीठ पीछे खूब कर लेती हैं। पुरुषों को

क्या प्रयोजन कि अबलाओं को गाली देकर अपना गौरव गांभीर्य खोवें और छिछोरापन दिखावें ?

तो इस तुल्याधिकार की अभिलाषा और प्रतिस्पर्धा से गणपतिजी की सृष्टि हुई। आज काल भी प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है कि तुल्याधिकार के दाने से ही तो दलबन्दी होती है। और दल हुआ तो उस दल के अर्थात् गण के पति की, नेता नायक की, आवश्यकता होती है, और नायक बनाये जाते हैं, चाहे मिट्टी के ही क्यों न हों। इसी वास्ते गणपति का दूसरा नाम भी वैसा ही अन्वर्थ और अर्थगर्भ है। विनायक, "लीडर", शब्द का अर्थ ही है, विशिष्टो नायक।

अच्छा तो अब नायक ही हो के क्या लाभ जो दलों में भिड़न्त न हो ? बिना इसके दलादली का रस कैसे आवे ? तो गणेशजी को हुक्म हुआ कि शिवजी को रोक देना। "लीडर" लोग, दलपति, गणपति, लोग अपने दल की टेक रखने के लिये शिव को भी, भलाई को भी, रोक देते हैं, जब तक अपने हाथों से न हो। आज काल की पार्लिमेंटों में, कौंसिलों मे, "आब्स्ट्रक्शन्", प्रतिरोध, की "पालिसी" कुछ ऐसी ही सी तो मालूम पड़ती है ! आप पूछेंगे कि "लीडर" "गणपति" कैसे जो पार्वती और जया और विजया के हुक्म में रहें ? तो आप अपने आँख के सामने का हाल देख लो। अंग्रेजी में "लीडर" शब्द का अर्थ नायक तो प्रसिद्ध ही है, पर उसका एक अर्थ और है। जैसे धौरेय और धुरंधर शब्द शकट के अगले बैल के लिये कहा जाता है, जो धुर का श्रम मुख्यतया उठावे, वैसे ही 'लीडर' शब्द उस घोड़े के लिये कहा जाता है जो जोड़ी या चौकड़ी में सब से अधिक

परिश्रम से 'अगुआ होकर गाड़ी खींचता है। दूसरे घोड़ 'ह्वीलर' कहलाते हैं। तो आज काल के, क्या सदा काल के, 'लीडर' अगुआ घोड़े के अर्थ में नायक होते हैं, उनके हाकने वाले उनके 'फालोअर्स', अनुयायी, कोचवान और गाड़ी पर सवार मुसाफिर, हुआ करते हैं। 'फालोअर्स' के हुकम के मुताबिक 'लीडर' महाशय न चलें तो उनकी कम्बख्ती आ जाती है, लीडरी छीनकर दूसरे के सपुर्द की जाती है। इसीलिये हितोपदेश की पुस्तक में एक मतलबी स्वार्थी ने कहा है—

न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये सम फलम्।
यदि कार्यविपत्तिः स्यात् मुखरस्तत्र हन्यते॥

"गण के आगे न चले, मुखिया न बने। कार्य सिद्ध भया तो फल सबको बराबर ही मिलता है, यदि बिगड़ा तो मुखिया ही मारा जाता है।" अनुयायी लोग अपने हठ से, और अगुआ के कहने के विरुद्ध चल के काम बिगाड़ते भी हैं और फिर "लीडर" को बुरा भी कहते हैं।

दलों की मुठभेड़ और सुलह

शिव तो आने वाले थे ही। फाटक पर रोके गये। नया अपमान और बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने गणों को आज्ञा दी कि इसको समझाओ। फिर 'हटाओ' की नौबत आई। फिर 'मारो' की। हुई मारपीट। गणपति तो मोटे ताजे खास इस काम के लिये बनाये ही गये थे।

भवद्भवनदेहलीविकटतुण्डदंडाहति-
त्रुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते॥

"मूड़ का झपेट दूटत मुकुट देवराज को।"

शिव के गणों को उन्होंने मार भगाया। और जिन देवों को, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि को, अपनी सहायता के लिये य बुला लाये उनकी भी यही दशा हुई। इधर से चंडिका लोग सब प्रकार स अपने गणपति की सहायता करती रहीं। अन्त में आगे से विष्णु लड़ने आये, उनसे गणपतिजी लड़ने में जो उलझे तो शिव ने मौका पाकर पीछे से जाकर गणपति का सिर त्रिशूल स काट डाला। दूसरे दल के लीडरों को धोखे से भी परास्त करना आज काल भी शुद्ध धर्म समझा जाता है। और भी अर्थ हो सकता है।

विसिनोति, व्याप्नोति, जगत् सर्वं इति विष्णु,

महत्तत्त्व बुद्धितत्त्व का सारभूत, परमसात्त्विक, अव्यक्त और व्यापक आध्यात्मिक ज्ञान। यदि अहकार को तामस राजस बुद्धि से प्रेरित, अज्ञानी, अल्पज्ञानी, कोई जीव उस ज्ञान से लड़ेगा तो उस जीव का शिरश्छेद शिव-रुद्ररूपी उत्तम तमस् द्वारा होना उचित ही है। आगे चल के इसका फल अच्छा होगा। पर इस जीत का फल तत्काल अच्छा नहीं हुआ। चंडिका देवियाँ परम क्रुद्ध हुई। बच्चे पर आपत्ति आवे तो गाय भी सिंहिनी हो जाय। प्रलय की तयारी हो गयी। जब मियां बीबी में लड़ाई ठने तो सिवाय गृहस्थी के प्रलय के और क्या हो सकता है। सर्वनाश होते देखकर नारदादि ऋषियों ने, जो उस समय के 'एडिटर", पत्र सम्पादक-स्थानीय थे, इधर उधर की "रिपोर्ट" जमा किया करते थे, ससार का हाल घूम घूम कर बड़े शौक

से देखा करते थे, और कलह और युद्ध में विशेष रस मानते थे, क्योंकि इनके बिना तो "पेपर" की बिक्री ही कम हो जाय—इन ऋषियों ने दोनों पक्षों को, "मैन वर्सस वुमन", को समझा बुझाकर सुलह कराई। प्रलय ही हो जाय तो फिर तमाशा देखने को कहाँ मिले, "पेपर" बिल्कुल बन्द ही हो जाय। यदि अज्ञान का सर्वथा उच्छेद हो जाय तो ज्ञान का भी प्रयो जन बाकी न रह जाय, सृष्टि समाप्त हो जाय, लीला बन्द हो जाय। चाहिये यह कि अज्ञान थोड़ी मात्रा में बना रहे, और ज्ञान की हुकूमत उस पर हो, तब लीला में सुख आवे। इसलिये विनायक के रूप में परिवर्तन होना आवश्यक हुआ। गणेशजी का अपना पहिला निर्बुद्धि ल्हाके लड़के का सिर तो मिला नहीं, नष्ट हो गया, विष्णु कहीं से खोजकर एक दांत वाले हाथी का सिर लाये, वही चिपका दिया गया, और गणेशजी चंगे होकर चटपट उठ बैठे। "लीडर" को, गणपति को, मन से बड़ा मूढ़ चाहिये ही। पार्वती के पुत्र तो थे ही, शिव ने भी उनको अपना बड़ा पुत्र माना, और गणमात्र के पति नियुक्त हो गये। सभी गणों के।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे।

नारद

जीवस्य नरस्य इदं नारं, संसरणं, भ्रमणं, तद् ददाति इति नारदः, कलहप्रवर्त्तको बुद्धेर्भावः। जीव को संसार में भ्रमण कराने वाली कलहिनी बुद्धि की जो वासना है वही नारद। पर उस वासना के भी हृदय में विष्णुभक्ति छिपी है। आपो

न रा अयनं शयनस्थानं यस्य स नारायण, तत् स्थान नारं मोक्षं अपि भ्रामणानतरं ददाति इति बुद्धे सात्त्विको भावः नारद। परमात्मा के अयन शयन के स्थान को, मोक्ष को, जो संसार में भ्रमण कराने के अनन्तर जीव को दे वह बुद्धि का सात्त्विकज्ञानात्मक भाव भी नारद।

गणपति की प्रतिष्ठापना तथा विवाह

पर सूखे साखे नीरस कुरस महा र्भफटवा र गणपतित्व मे गणेशजी को संतोष नहीं हुआ। 'लीडर' लोगों को कुछ मिहनत के बदले रूप भी तो मिलना चाहिए। थोड़ा अज्ञान तो रह गया है। फर्माइश को कि मेरा व्याह भी होना चाहिये। पर "लीडर" महाशय अकेले कहाँ लीडरी का रस चीखने पाते है? शंकर के पहिले पुत्र छ मुखवाले, जिनके कई नाम हैं, षण्मुख, कार्त्तिकेय, स्वामिकार्त्तिक, साम्ब, सुब्रह्मण्य, सनत्कुमारावतार, गुह, कुमार, स्कंद, महासेन, तारकारि, आदि वे भी आ पहुँचे। एक एक नाम का अर्थ है। छ मुख से छः कृत्तिकाओं का दूध पीया था।

वि यस्तस्तम्भ षड् इमा रजांसि
अजस्य रूपे किमपिस्विदेकम्॥ (ऋग्वेद)

सौर सम्प्रदाय में, सौरजगत् में, सौर ब्रह्माड में, जो पृथिवी के सदृश छ अन्य ग्रह आकाश में थमे हुए घूम रहे हैं, उन सब में मे अनेकानेक जन्म जन्मांतर में घूमता हुआ, सबका अनुभव करके, सबका ज्ञान सचय करके, सबके दूध से पुष्ट होकर, जो महापराक्रमी जीव इस पृथिवी पर देवसेना का सेनानी होकर

मा टपका है, वह षण्मुख स्कद, गणपति का भी बड़ा भाई।
'लोडरी" मे हिस्सा लगाने को, काम में अड़चन डालने को, और
"लाडर" को बढ़ने से रोकने को भी, ऐसे बड़े भाई लोग आ
ही जाते हैं।

अन्टा तो स्कन्दजी ने भी और गणपतिजी ने भी साथ
ही व्याह की फर्माइश की। और मेरा आगे, मेरा आगे, की
स्पर्धा हुई। जान छुड़ाने के लिये और समय टालने के लिये
शिवजी ने कहा कि तुम दो म से जो पृथ्वी प्रदक्षिणा करके
पहिले लौट आवे उसका व्याह पहिले किया जायगा। आज
काल कालापानी की बड़ी नाव पर पैर रखते ही हिन्दू को हिन्दू
के भाई जात बाहर कर देते हैं। पहिले समय में सात समुन्दर
पार करके सारी पृथ्वी की परिक्रमा की हिम्मत दिखाये बिना
व्याह ही नहीं होता था। चोदे बेहिम्मत को कौन कन्या दे?
अस्तु। षण्मुखजी फिर भी अपनी पुरानी घुमन्तू प्रकृति के
अनुसार झट लाठी उठाकर पृथ्वी परिक्रमा को चल दिये।

गणेशजी ने क्या किया? गणेशजी भी उठे, और सात
बेर शिव पार्वती का परिक्रमा करके सामने खड़े हो गये।

"अ-ताजी, अम्माजी, व्याह कर दीजिये।"

"पृथ्वीपरिक्रमा को न कहा था?"

"आपने एक बेर को कहा था, मैं तो सात बेर कर चुका,
आपने देखा ही नहीं?"

"कैसे?"

"आपको और माता को, पुरुष परमात्मा को और उमा
माया प्रकृति को, कई बेर परिक्रमा कर लिया, अपनी बुद्धि में

भीतर ही इनका तत्त्व पहिचान लिया, तो फिर इनके बाहर कौन पृथ्वी है जिसकी परिक्रमा बाकी है ?"

"सचमुच तुम बुद्धिसागर हो, तुम्हारा ही ब्याह पहिले होना चाहिये।"

चले शंकर पार्वती कन्या की खोज में। ढूंढते ढूंढते विश्वकर्मा विश्वरूप को दो कन्या, बुद्धि और सिद्धि, मिलीं। उनसे ब्याह किया गया। यही दो तो समस्त विश्व की सारभूत रत्न हैं।

इत्युक्त्वा तु समाश्वास्य गणेश बुद्धिसागरम्।
विवाहकरणे तौ च मतिं चक्रतुरुत्तमाम्॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र विश्वरूपसुते उभे।
सिद्धिबुद्धी इति ख्याते सर्वांगसुन्दरे शुभे।
ताभ्या चैव गणेशस्य विवाह चक्रतुर्मुदा॥
यथा चव शिवस्यैव गिरिजाया मनोरथ।
तथा च विश्वकर्माऽसौ विवाह कृतवांस्तदा॥
कियता चैव कालेन तस्य पुत्रौ बभूवतु।
सिद्धेर्लक्ष्यस्तथा बुद्धेर्लाभ परमशोभन॥

मालूम पड़ता है कि जहेज भी कुछ ठहराया गया था, नहीं तो यह तो जरूर ही करार विश्वकर्मा से करा लिया गया था कि खिलाना पिलाना बरात को अच्छी तरह। क्योंकि पुराण, जो कदापि झूठ नहीं कह सकता, और जिसमें क्षेपक का संदेह भी करना महापाप है, लिखता है कि जैसा जैसा शिव पार्वती का मनोरथ हुआ वैसा वैसा विचारे विश्वकर्मा ने विवाह में किया। न करता तो उसकी मुसीबत आ जाती। आजकल हिन्दुओं के विवाह

में देख ही पड़ता है कि लड़की वाले की क्या क्या फजीहत होती है।

अच्छा, विवाह हुआ, तो अब विवाह का फल भी होना चाहिये। तो सिद्धि को एक पुत्र हुआ, उसका नाम लक्ष्य। [छपी पोथी में नाम "लक्ष" लिखा है, पर इससे विधि मिलती नहीं। "लक्ष-द" "लक्ष-द", लाख रुपया का एक साथ दान करने वाले की महिमा दानप्रशंसक कवि लोगों में बहुत प्रसिद्ध है, जो चाहते हैं कि किसी गाँठ के पूरे अकल के अधूरे राजा साहूकार की वाहवाही एक दो कवित्तों में कर दें और वे अपनी खुशामद से खुश होकर उनको लाख रुपये की थैली उठाकर दे देवें, चाहे भारी मिहनत करने वाले किसान पेट भर खाने को पावें या न पावें। स्यात् ऐसे ही भावों के कारण पोथी में 'लक्ष" छप गया है। यह ठीक है कि कार्यसिद्धि होने से लक्ष रुपया मिल जाता है। पर लक्ष क्यों, कोटि क्यों नहीं? लक्ष तो छोटी चीज है। पुराने ऋषियों के भाव ऐसे नहीं थे। "पात्रे दान" की प्रशंसा उन्होंने यदि की है तो संतोष की प्रशंसा और भी अधिक की है। आज काल दान ही की प्रशंसा सुन पड़ती है, संतोष की नहीं। कथा प्रसिद्ध है,पर जितना प्रसिद्ध होनी चाहिये उतनी नहीं, कि एक राजा ने सोने की मुद्राओं की थैली मंत्री को दी, और कहा कि किसी साधु महात्मा को देना। कुछ दिन पीछे राजा ने मंत्री से पूछा, 'किसको दी"। उत्तर मिला, 'अपने को"। "क्यों"? तो, "जो साधु महात्मा थे वे लेते नहीं थे, और जो लेते थे वे साधु महात्मा नहीं। मैं ही एक ऐसा मिला जिसमें दोनों गुण, साधु भी और लेनेवाला भी"। यद्यपि देख पड़ता है कि छोटे मोटे

मोटे ताजे गेरुआधारी वैदिकके महाशय, दुबले पतले सूखे साख तरह तरह की चिन्ताओं और आश्रितों के बोझों से लदे हुए गृहस्थ के सामने आ बैठते हैं, और कहते हैं, "आप भाग्यवान् हो, आपको साधु महात्मा का दर्शन हुआ है, आप दानी सुन पड़ते हो, कुछ सेवा करो, हमारे साथ पचास मूर्त्तियाँ हैं आज आपही के जिम्मे इच्छा पूरी की सेवा हो"। और हिंदू गृहस्थ की बुद्धि आज सैकड़ों वर्ष से ऐसी कुंठित और अन्धश्रद्धाजड़ बनाई जा रही है कि उन से यह उत्तर देते नहीं बनता, कि "महाशय! आप अपने मुंह से साधु महात्मा बनत लजाते नहीं हो, आप स्वयं भी कुछ दूसरों की सेवा करते हो या दूसरों ही से सेवा चाहते हो, आपने मुझे दानी सुना है तो मैं भी आपको संतोषी सुना चाहता हूँ, आपके पुरखा सब साधु महात्मा ऐसे होते थे कि दूसरों का काम साधते थे (साध्नोति परेषान् शुभान् कामान् इति साधुः) और माँगना तो दूर रहा, कोई कुछ देता था तो भी नहीं लेते थे।" पर यह सब बातें कहाँ। वर्तमान समय में न उचित संतोष ही न उचित दान। 'लक्ष,' 'लक्षद' करके, अनात्र कुपात्र को राजस तामस दान की मिथ्या प्रशंसा का फल यह हुआ है कि थोड़े से मिथ्यादानी और जनता का बहुत बड़ा भाग भिखमंगा और मोघजीवी होगया है, और वृद्धि सिद्धि देश से दूर चली गई है।

दैवैस्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥(गीता)

ऐसे हेतुओं से सिद्धि का पुत्र 'लक्ष' नहीं होना चाहिये। यथार्थ सिद्धि का पुत्र तदनुरूप होना चाहिये न ?

तो उसका अनुरूप पुत्र "लभ" नहीं, "लक्ष्य" ही है। जो ही कुछ जिस किसी का लक्ष्य हो उसी का लाभ उसके लिये सिद्धि है। यदि वराटिका तो वराटिका ही की सिद्धि। यदि इन्द्रत्व, गणपतित्व, ब्रह्मत्व, तो इन्द्रत्व, गणपतित्व, ब्रह्मत्व की सिद्धि।] जैसे सिद्धि का उचित प्रसव लक्ष्य हुआ वैसे ही बुद्धि को भी लाभ नामक पुत्र हुआ, अथवा लाभोपाय कहिये। सच पूछिये तो मुझे ऐसा भान होता है कि यहाँ भी प्रचलित लिखी और छपी पोथियों में पाठ का व्यतिक्रम हो गया है।

बुद्धेर्लक्ष्यस्तथा सिद्धेर्लाभ परमशोभन ।

ऐसा होता तो अधिक ठीक होता। बुद्धि तो लक्ष्य को और उसके लाभ के उपाय को, मार्ग को, निर्णय करती है, और क्रियाशक्ति, सिद्धिशक्ति, उस लक्ष्य को सिद्ध करती है, साध लेती है, लक्ष्य का लाभ करती है।

गणपतित्व की कठिन शर्तें।

बस, गणपतिजी महाराज, सिद्धि और बुद्धि को पत्नी, और लक्ष्य और लाभ को पुत्र, प्राप्त करके सुख से गृहस्थी करने लगे और सब के अग्रपूज्य बने। जिसकी ऐसी गिरस्ती हो उसकी पूजा कौन न करे। और जो आज काल के शिक्षित महाशय एकपत्नीव्रत पर बड़ा आग्रह करते हैं, उनको यदि ऐसी दो भार्याएँ और ऐसे दो पुत्र मिलने का सम्भव देख पड़े, तो मैं समझता हूँ कि अवश्य ही ये अपना एकपत्नीव्रत का आग्रह छोड़ दें। पर, मित्रो, गणपति होने और ऐसी दो भार्या और ऐसे दो पुत्र मिलने में जो समय हैं, जो शर्तें हैं,

उनका पालन करना सरल नहीं है, इसको खूब समझिये। पहिले एक सिद्धान्त पर, एक पक्ष पर, अटल होकर सब से लड़ाई लड़ना और उसमे अपना सिर तक कटा देना, फिर एक दाँत वाले एक हाथी का सिर पहिनना। अपनी आँख के सामने की "हिस्ट्री" को, "इति+ह+आस" नहीं, बल्कि "इति+ह+अस्ति" को देखिये। जो जन "लीडर" बनना चाहते हैं, बुद्धि-पूर्वक, अपने यत्न से, अथवा अबुद्धिपूर्वक, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, पूर्वकर्मानुसार, दूसरों के हठ से, जबरदस्ती "लीडर" बनाये जाते हैं, उनको क्या क्या दुर्दशा भोगनी पड़ती है। पहिले तो वे प्राय कुछ दिनों तक ऐकपाक्षिक और टेकी जिद्दी लड़ाके होते हैं। पर क्रमश जब उनकी युद्धशक्ति देख कर कुछ लोग उनके साथ हो जाते हैं तब उनको अपनी राय छोड़नी पड़ती है, और जो "सब की राय", अर्थात भूयिष्ठ की राय हो, वह माननी पड़ती है। यथा "सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्न", तथा "सर्वं मुण्डं हस्तिमुण्डे निमग्न।" सब से बड़ा सिर, बहुतर बहुतम मत का सिर, हाथी का है। उसमे भी दाँत एक ही होना चाहिये। द्वन्द्व नहीं, द्वैत नहीं, द्विविधा नहीं। और भी। मनुष्य के सिर मे केवल ज्ञानेंद्रिय और ज्ञानशक्ति है, हाथी के मुण्ड मे ज्ञान-शक्ति के साथ साथ प्रधान कर्मेन्द्रिय हस्तरूपी नासिका शुंड भी है। अर्थात् लीडर महाशय को ज्ञानी भी और कर्मण्य भी होना चाहिये। जो ऐसे ज्ञान-कर्म-आत्मक बहुमत को अपने कन्धे पर ओढ़कर सभाल सके, और छोटे से छोटे चूहों को भी और बड़े से बड़े हाथियों को भी एक ही घर में रख सके, बल्कि हाथी का मुंड लेकर चूहो की पीठ पर इस नजाकत और

होशियारी से बैठें कि पूरा चिपटा हो जाने के ठिकाने और भी चेतन और जानदार हो कर दूसरे विरुद्ध दल वालों के रास्ते में बिल ही निल कर दे,' ये ही सब दलों, सब छोटे और बड़े, का समेकन करके लीडरी, नायकी, चौधराहट, चतुर्धरता, 'पेशवाई', सर्वगणपतित्व को निबाह सकते हैं। यह सब तभी हो सकता है जब उनमें कर्मयोग-साधक एकतात्मक अद्वैतभाव हो, दुजागरी नहीं, नहीं तो भेदबुद्धि जोर करके दलों को छिन्न भिन्न कर देगी। एक को अधिक खुश किया तो दूसरे बिगड़े। दूसरे को ज्यादा अपनाया तो एक बिगड़े। महा कठिन काम है सब को खुश रखना। अंग्रेजी में कहावत है "प्लीज आल् प्लीज नन", अर्थात् "सब के तोषण के जतन सब को रोषण होय"। पर "लीडर" को यही करना पड़ता है। यदि ठीक ठीक एकरत हो, तो स्यात् कथंचित् कुछ कृतार्थता पावे। और इसके साथ साथ "लीडर" महाशय को "लक्ष्य" का भी ज्ञान होना चाहिये, क्या लक्ष्य है जिसकी सिद्धि चाहिये, तथा उसके लाभ के उपाय की बुद्धि भी होनी चाहिये, और बड़ा एकरतता, एकाग्रता, एक-लक्ष्यता से उसके साधने में लगना चाहिये। "इक साधे सब ही सधै सब साधे सब जाय"। नहीं तो लीडरी बहुत दिन तक नहीं चल सकती। बड़ी कठिन शर्तें हैं।

लक्ष्य और लाभोपाय और लाभ

आज काल तो प्राय यही देख पड़ता है कि न लक्ष्य का ही स्पष्ट ज्ञान है, न उसके लाभोपाय की सुविचारित सुव्यवस्थित

बुद्धि है। विचारी सिद्धि कहाँ पास आवे। आपको क्या चाहिये, इसको यथाशक्ति सुस्पष्ट निर्णय कर लीजिये। तत्पश्चात् किस एक प्रकार से, अथवा किन किन विविध प्रकारों से, वह लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, इसको यथाशक्ति यथाबुद्धि पूरे परिश्रम से विचार करके, लाभोपायों को स्थिर कर लीजिये। तब काम में प्रवृत्त हूजिये।

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेक परमापदा पद।
वृणते हि विमृश्यकारिण
गुणलुब्धा स्वयमेव संपद ॥ (भारवि)
गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजात
परिणतिरवधार्या यत्नत पण्डितेन।
अतिरभसकृताना कर्मणामाविपत्तेर्
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाक ॥ (भर्तृहरि)

"जल्दबाजी से काम नहीं करना। अविवेक से बड़ी बड़ी आपत्तियाँ सिर पर पड़ती हैं। अच्छी तरह सोच विचार कर काम करने वाले के गुणों पर लुभा कर सपत्तियाँ आप ही उस के पास आती हैं। कार्य आरम्भ करने के पूर्व पडित को चाहिये कि अच्छी प्रकार उसके गुण और अवगुण को विचार ले और क्या परिणाम होगा इसका यथाशक्ति निश्चय करले। बहुत जल्दबाजी से किये हुये कामों का फल ऐसा हो जाता है कि मरते दम तक हृदय में कांटा चुभा और जला करता है।"

पर इस बात का अर्थ यह मत लगा लीजियेगा कि चुप बैठना अच्छा है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता)

"उचित कर्त्तव्य कार्य करने ही का अधिकार तुमको है, फल पाने का अधिकार नहीं है। कर्म का फल मुझको मिले–ऐसी बुद्धि मत करो, मत यह बुद्धि करो कि मैं कुछ कर्म न करूँ।"

काम भी अवश्य कीजिये, पर आगा पीछा भी अवश्य पहिले सोच लीजिये, और फल को परमात्मा पर छोड़िये, तब गणपतित्व चमकेगा।

निर्वचन और बुद्धि

गणपति के स्वरूप और सामग्री का और भी अर्थ किया जा सकता है। निरुक्त शास्त्र में प्रसिद्ध है कि वेद का अर्थ कई प्रकार से करना चाहिये, यौगिक, याज्ञिक, ऐतिहासिक, आदि। सांख्य के शब्दों में कहने से तीन मुख्य प्रकार ठहरते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। प्रत्यक्ष ही है कि पुरुष अर्थात् आत्मा, प्रकृति अर्थात् भूत, और उनके सम्बन्ध की शक्ति अर्थात् देव की ही लीला यह सब संसार है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों हैं। इसी से तीनों भाव हर जगह मिलते हैं। वेद के वाक्यों के भी तीन मुख्य अर्थ होना उचित है। और जैसे वेद का निर्वचन करना उचित है, उससे भी अधिक आवश्यक है कि पुराणों के वाक्यों का निर्वचन किया जाय। पर कालगति से यह सब ज्ञान इस देश से प्राय लुप्त हो गया जिसके यत्न से ऐसा निर्वचन किया जा सकता है। और उसके स्थान पर शब्दाडम्बर, मिथ्या दुराग्रह, परस्पर ईर्ष्या, यही अधिक देख

पड़ता है। यदि कोई गणपति के पुराणोक्त रूप को रूपक कहकर उसका निर्वचन करना चाहे तो स्यात् वह नास्तिक और म्लेच्छ और पतित और अस्पृश्य समझा जायगा। "वर्ग के विषय में बुद्धि को मत लगाओ"—यही हुक्म सुन पड़ता है। यद्यपि अग्रपूज्य गणपति का विशेष विशेषण "बुद्धिसागर" है। हनुमान् भी 'बुद्धिमतांवरिष्ठ" कहे जाते हैं, "शास्त्रसागर" और "शास्त्रवरिष्ठ" नहीं। दर्शन का सिद्धान्त है कि सृष्टि का पहिला आविर्भाव, प्रकृति का प्रथम परिणाम, महत् तत्त्व=बुद्धि तत्त्व है। प्रकृतेर्महान् अर्थात् बुद्धि।

सर्वमान्य भीष्म का आदेश है,

> तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये।
> बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना॥
> (शान्तिपर्व, अ० १४१)
>
> उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
> अध्यात्मचिंतामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत॥
> (अ० ३६०)
>
> जाजजे तीर्थमात्मैव मास्मदेशातिथिर्भव।
> कारणैर्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान॥(अ०२६९)

अर्थात् धर्माधर्म का निर्णय कृतात्मा-आत्मज्ञानी मनुष्य बुद्धि से ही कर सकता है, और ऐसी ही आध्यात्मिक बुद्धि के बल से कपिलादि ऋषियों ने सब शास्त्र बनाये। उत्सर्गरूपी साधारण नियम भी बनाये, और विशेष विशेष अवस्थाओं के विचार से उन नियमों के अपवाद भी कहे। सब से बड़ा महा तीर्थ आत्मा ही है। दूसरे तीर्थों में क्यों भटको। अपने

भीतर ही धर्माधर्म को हेतुपूर्वक विचारो। जो मनुष्य हेतुयुक्त धर्म पहिचानता और करता है वही शुभ लोकों को पाता है।

जिस धर्म में धर्माधिकारी लोग बुद्धि का, जिज्ञासा का, शंकासमाधान का, कार्य-कारणान्वेषण का, विचार का, ही तिरस्कार करेंगे, वह धर्म अवश्य डूबेगा। यही कारण है कि जब से "सनातन" धर्म में यह "अधुना-तन" अबुद्धि घुसी है, और उसका 'बौद्ध'—स्वरूप इस देश से बिल्कुल निकाल दिया गया, तब से, अर्थात् कोई बारह सौ वर्ष से, यह धर्म परायों की जूतियाँ खाता ही चला आता है और सिकुड़ता ही जाता है।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना
स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जघन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (उपनिषत्)

अविद्या में बूड़े, भेदबुद्धि में सने, अपने को बड़ा धीर बड़ा पंडित मानते हुए निष्कारण "छूओ मत" से ही धन्यम्मन्य पवित्रम्मन्य, समानरूप पाँचभौतिक त्रिगुणात्मक शरीरों में बिना प्रत्यक्ष अशुचितादि अस्पृश्यता का कारण हुए भी मूढ़ आत्यन्तिक जन्मना वर्णभेद मानते हुए, वज्रसूच्यादि वेदोपनिषदों की विरुद्ध शिक्षा का अहंकारवशात् अवहेलन करते हुए, ऐसे लोग ही यदि इस महासार्थ के नेता गणपति बने रहेंगे, तो अवश्य यह सार्थ अन्धनीतान्ध की दशा को प्राप्त होकर गहरे गढ़े में गिरेगा।

इस लिये, प्रिय विद्यार्थीजन, आप लोग, जिन ही पर देश के भविष्य उत्कर्ष की, उन्नति की, आशा आश्रित है,

जो ही हमारे भविष्णु, शुभंयु, प्रीतिपात्र हो, जो ही पूर्व पुरुषों और उत्तर पुरुषों का उद्धार कर सकते हो, सच्चे गणपति का अनुकरण करना, मिथ्या गणपतियों का नहीं। अथच, संसार का तथा अध्यात्म का अनुभव प्राप्त करके स्वयं सच्चे गणपति बनने का यत्न करना। तभी पतित देश का उद्धार करोगे।

आध्यात्मिक अर्थ

गणपति के रूपक का जो अर्थ आप लोगों से अब तक मैंने कहा वह अधिभूत और अधिदैव मिश्रित है। एक और सीधा सादा अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष ही घर के भीतर सबसे अधिक आदर और फिक्र सबसे छोटे बच्चे की की जाती है। और जितना हो मोटा ताजा बच्चा हो उतना ही अच्छा लगता है। और हाथी के बच्चे से बढ़ कर कोई बच्चा अधिक गोल मोल नहीं होता। अब दूसरा अर्थ सुनिए। मेरे एक मित्र (श्री चम्पतरायजी जैन, अवध प्रान्त के हरदोई नगर के बारिस्टर) ने (अपनी "गज-वाणी" नामकी छोटी पर बड़ी उत्तम पुस्तक में) बड़े यत्न से इस रूपक का शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ भी निकालने का यत्न किया है। वह भी कुछ घटा बढ़ा कर और शब्दों को बदल कर, आपको सुना देता हूँ।

वस्तुओं को काट डालनेवाले चूहा का अर्थ विवेचक, विशेषक, विभाजक, विच्छेदक, भेदकारक, विस्तारक, व्यासकारक, विश्लेषक ("एनालिटिकल्") बुद्धि है, जो बुद्धि सकलमय संसार के अवयवों को पृथक् पृथक् करके पहिचानती है, विशेषों को पकड़ती है। "अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः"।

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्"। अर्थात् वस्तुओं के सूक्ष्म सूक्ष्म विशेषों को ही पहिचानने से उनके विषय में निश्चयात्मक ज्ञान होता है। और मन का यह विशेष लक्षण है कि वह दो ज्ञानों को साथ उत्पन्न नहीं होने देता।

अपना सिर कटना अहंकार का नाश है।

हाथी के सिर का नर शरीर से जुटना—यह संयोजक, समाहारक, समासकारक, समूहक, अनुगमक, अभेद-साधक, समन्वय-कारक, विरोध-परिहारक, संश्लेषक ("सिंथेटिकल्") बुद्धि है। सबसे बड़ा हाथी का सिर "महद्-बुद्धि" का सूचक है, जिसी का दूसरा नाम महानात्मा है।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥
सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
तुल्यार्थता तु सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ॥ (चरक)

अर्थात्, "यदि सामान्य अंश पर ध्यान दें, तो एका और विस्तार बढ़ता है। यदि विशेष अंश पर ध्यान दें, तो भेदभाव, पृथकत्व और संकोच बढ़ता है। संसार में दोनों ही काम कर रहे हैं"। यथा यदि कहें, "हम भारतवासी", तो भारत-वासितारूपी सामान्य गुण पर ध्यान देने से बत्तीस कोटि मनुष्य एक में आ जाते हैं। यदि कहें कि हम ब्राह्मण, तो कुछ लाख ही रह जायेंगे। इस पर भी कनौजिया, इस पर भी पवित्र पावन, तो दस ही बीस बच जायेंगे।

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनो गतिः।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥

(म० भा० शान्ति० अ० २५४)

"त्रिकालदर्शिनी बुद्धि"। "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व"।

अर्थात् बुद्धि ही आत्मा है, आत्मा की गति, आत्मा का स्फुरण, आत्मा की ज्योति का ही नाम बुद्धि है। बुद्धि ही जब विशेष भाव को पकड़ती है तब मन हो जाती है। बुद्धि ही तीनों काल देखती है। सब बुद्धियों का साक्षी, सब अनुभवों का अनुभव करने वाला आत्मा है। इत्यादि वाक्यों से इस बुद्धि की सूचना होती है। जीव को दोनों प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है। चूहों को भी, हाथी की भी, विशेष ज्ञान की भी, सामान्य ज्ञान की भी, अनेकज्ञान की भी, एकज्ञान की भी।

संमत विदुषां ह्येतद समासव्यासधारणम्॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ (गीता)

विद्वानों को यह प्रिय है कि ज्ञान के संक्षिप्त रूप को भी और विस्तृत रूप को भी सूत्र को भी और भाष्य को भी, बुद्धि में रखें। जब संसार के अनंत नानात्व को एक आत्मा में बैठा हुआ, और उसी एक से सब नाना वस्तुओं को निकला हुआ, जीव पहिचान लेता है तभी उसका ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान संपन्न होता है और वह स्वयं ब्रह्मतत्त्व हो जाता है।

भेद देखना, व्यक्तियाँ देखना, यह साधारण जीव का काम है। वैदृश्य में सादृश्य देखना, व्याप्तिग्रह से अनुमान करना, "सिमिलारिटी इन् डैवर्सिटी" पहिचानना, यह न्यायशास्त्री, "सायंटिस्ट" का काम है। अनेक में एक देखना, भेद में अभेद, वैदृश्य में सादृश्य के कारण को परमात्मा का ऐक्य

जानना, "यूनिटी इन् डैवर्सिटी" समझना, यह वेद को अंतिम बात, ज्ञान को पराकाष्ठा, वेदांत है ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्ष च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ सात्त्विकी ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं ॥
(गीता)

अर्थात् प्रवृति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य भय और अभय, बंध और मोक्ष के सच्चे स्वरूप को जो बुद्धि पहिचानती है वही बुद्धि सात्विक है ।

इसी बुद्धि के बल से गणेश को बुद्धिसागर का विशेषण प्राप्त हुआ है, विद्यार्थियों के विशेष रूप से इष्टदेव बने हैं, सब विद्याओं, सब शास्त्रों के शिक्षक, प्रवर्तक, निर्माता हैं। बिना इस बुद्धि के शास्त्र बेकार हैं ।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
नेत्राभ्यां तु विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

जिसको अपनी निजी बुद्धि नहीं उसको दूसरे की बुद्धि रूप शास्त्र क्या सहायता कर सकता है। जिसको आँख नहीं वह दर्पण लेकर क्या करेगा ?

एकदंतता इसी अद्वैत बुद्धि का सूचक है। यहाँ का अर्थ यह भी हो सकता है कि इस बुद्धि के प्राप्त करने में हजारों छोटे मोटे विघ्न होते हैं। ब्रह्मत्व इसको न मिले, जीव मेरे ही काबू में रहे, इसलिये अविद्या देवी हजारों विघ्न किया करती हैं। जो वाहन और साधक हैं वे ही बाधक बना दिये जाते

हैं। यथा "शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरससर्गः"। शुचिता की जब वृद्धि होती है तब पहिले अपने शरीर से जुगुप्सा, और पीछे दूसरों से असंसर्ग होना चाहिये। पर देखा क्या जाता है? सच्ची शुचिता तो है नहीं, केवल दम्भात्मक द्वेषात्मक पवित्र-मन्यता अधिकतर फैली है। अपने शरीर से तो जुगुप्सा के स्थान में परम राग, "हमारा शरीर दूसरों के शरीरों से बहुत पवित्र है"—जन्मतः ही, उत्तम रूप रङ्ग स्नान सदाचार मेध्याहारादि के हेतुविचार की कोई आवश्यकता ही नहीं। तपस्या से उसको कृश करने के स्थान में सुस्निग्ध पालन पोषण। दूसरों से असंसर्ग का अर्थ व्यवहारवर्जन नहीं किंतु केवल मिथ्या "छूओ मत," "छूओ मत"। इस सबका क्या फल है? जो ही शौच सात्त्विक होने से ब्रह्मज्ञान का साधक होता, वही राजस तामस होकर, अहंकार, द्रोह, और दम्भ से प्रेरित होकर, उस अभेददर्शन में नितान्त बाधक हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (गीता)

हजारों में एक सिद्धि पाने का यत्न करता है। और हजारों यत्न करने वालों में कोई मुझे, मैं को, आत्मा को, परमात्मा को, ठीक ठीक पहिचानता है।

यह अभेदबुद्धि "बहूनां जन्मनामन्ते" जीव को प्राप्त होती है। इसलिये एतत्स्वरूप गणेश सब से छोटे, सब से पीछे जन्मे, बालक रूप है। पर छोटे होने पर भी वृद्धों से वृद्ध हैं, "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"। पुरानों के भी पुराने हैं, कालातीत हैं, प्रधानप्रकृति के पहिले आविष्कार हैं। इसलिये मन्त्र के आगे

इने की पूजा होती है। यदि बुद्धि ही की पूजा नहीं, तो कार्य की सिद्धि कहाँ ? आज काल के बुद्धि द्रोहियों को इस पर विचार करना चाहिये। पर यदि विचार कर सकते तो बुद्धिद्रोही क्यों होते। यदि बुद्धिद्रोही हैं तो विचार कैसे करेंगे। अभेद्य चक्र है। कोई अभिमन्यु परमात्माभिमानी ही इसे भेद सकता है। स्यात् उसकी मृत्यु भी इसी भेदन में हो। पर रिपु अवश्य परास्त होंगे।

अच्छा, इस हाथी को "मोदक" बहुत प्रिय हैं। क्यों न हों। महाबुद्धिवाला जीव, "नित्यानन्द परमसुखद केवलं ज्ञानमूर्त्ति," तो मोदस्वरूप ही, सदा ब्रह्मानन्द में, "भूमा वै सुख" में, मग्न ही है। उसको मोदक के सिवा और क्या अच्छा लगे ?

एकदन्त है, अद्वैतवादी है, लम्बोदर है, अनन्त ब्रह्माण्ड रूप प्रत्यक्ष गोल लड्डुक जिसके उदर में हैं, "जगति यस्या सविकासमासत," प्रत्यक्ष चमड़े की आँख से दृश्य पड़नेवाला आकाश ब्रह्म, जिसमें ये सब ब्रह्म के अंश ब्रह्माण्ड, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, बुध, शुक्र, बृहस्पति, शनि, तारागण, फिर रहे हैं, ऐसा महाप्राणी, महाविराट् लम्बोदर न हो तो और क्या हो ?

यह हुआ गणपति का आध्यात्मिक रूप। ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेश खण्ड, में लिखा ही है—

ज्ञानार्थवाचको गश्च णश्च निर्वाणवाचकः ।
तयोरीशं परं ब्रह्म गणेशं प्रणमाम्यहम् ॥

"ग" का अर्थ ज्ञान, "ण" का अर्थ निर्वाण, दोनों का ईश गणेश अर्थात् ब्रह्म, उसको नमस्कार है।

तथा लिंगपुराण में भी यही बात दूसरे शब्दों से कही है। अर्थात्, शिव ही गणेश रूप हो गये।

ततस्तदा निशाम्य वै पिनाकधृक् सुरेश्वरः।
गणेश्वरः सुरेश्वरः वपुर्दधार स शिवः॥
(अ० १०५)

घूम फिर के सभी देवता परमात्मा ही के नाम और रूप हैं। और असली गणपति भी और महादेव भी वही हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋग्वेद)
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ (मनु)

जो गणपति के इस असली आध्यात्मिक स्वरूप को हृदय में सदा धारण करेंगे वे ही सच्चे गणपति स्वयं बन सकेंगे।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

गणपतित्व की मुसीबतें

गणपतित्व की मुसीबतें आप लोग आँख के सामने देख रहे हो। यह नई बात नहीं है, बहुत पुरानी है। पाँच हजार वर्ष पहिले कृष्ण इसी विषय का अपना रोना नारद से रोये। उनकी जीवनी के ऐसे अंशों पर आजकल भक्तजन कम ध्यान देते हैं। देना चाहिए। बड़ी व्यवहार शिक्षा मिलती है। अपने मामा कंस को मारकर कृष्ण ने नाना उग्रसेन को राज-

गद्दी पर बिठा कर मथुरा से काम चलाना चाहा, और शराब कबाब प्रधान मद्य-मांस भूयिष्ठ इन्द्रमख को बन्द करके कृषि प्रधान गोमख की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
क्रियाविशेषबहुलां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

इत्यादि गीता के श्लोकों से, तथा भागवत (११ स्कन्ध) के—

फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ।
अग्निमुग्धा धूमताता स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन्न तथैव माम् ॥

अर्थात, यह जो, वेद वेद कर के, नासमझ लोग, छोटी छोटी व्यर्थ क्रियाओं से भरी कर्मकाड की बात सदा किया करते हैं, मानों दूसरी कोई बात है ही नहीं, उसके भुलावे में आकर, भोग और ऐश्वर्य मिलेगा इस लालच में पड़कर मनुष्य अपना सच्चा कल्याण नहीं पहिचानते और ब्रह्मज्ञान के लिये दृढ़ निश्चय करके समाधि में बुद्धि को नहीं लगाते। इस फूलपत्ता सी फैलाई, लुभावनी फलश्रुति के फेर में पड़कर अग्नि जलाते और धूआं खाते हैं, जिह्वा के सुख के लिये यज्ञ के बहाने हिंसा करते हैं राजस तामस देवताओं की पूजा करते हैं, और मुझको, मैं को, परमात्मा को भूल जाते हैं।

इत्यादि वाक्योंसे, कृष्णके समाजसुधारमय जो भाव जान

पड़ते हैं। शांतिपर्व, अ० २७१ में भी हिंसायज्ञों को धूर्तप्रवर्तित कहा है। बुद्ध शंकर आदि ने भी अति-क्रिया-बहुल बुद्धिनाशक कर्मकांड की निन्दा की। पर समाजसुधारकों की जो दशा सदा होती है वही कृष्ण की हुई। एक सौ आठ वर्ष पृथ्वी पर रहे। स्यात् ही कोई दिन बीता हो जिसमें लाठी सोंटा डंडा उनसे और दूसरे से नहीं चला। मार खाना और मारना ही मुख्य काम रहा। मथुरा में उनको उनके पड़ोसियों ने, उद्धत, महा "मिलिटरिस्ट" सेनावादी, युद्धवादी, शस्त्रवादी, बलवादी, क्षत्रियों ने, अपने मनमाना प्रबन्ध प्रजा का नहीं करने दिया। सत्रह बेर जरासंध ने मथुरा पर धावा किया। अंत को पाँच सौ कोस दूर, मरुधन्व के पार जाकर, समुद्र के किनारे, कृष्ण ने द्वारका बसाया। समुद्र ही से तो लक्ष्मी देवी का प्रादुर्भाव होता है। जैसा अँग्रेजों को हुआ। जमीन से तो अन्नपूर्णा ही मिलती हैं। अस्तु। द्वारका में अन्धक-वृष्णि-संघ के रूप में कृष्ण ने एक चाल के संघराज्य, गणराज्य, "रिपब्लिक" अथवा "आलिगार्की" की स्थापना करने की परीक्षा "एक्सपेरिमेंट", किया। बड़ी कठिनता पड़ी। नारद से इन्हीं का रोना रोये। "अपने दिल का हाल किससे कहूँ। तुम मेरे पुराने सच्चे मित्र हो, इससे तुमसे कहना चाहता हूँ।" "कहिये महाराज, अवश्य। 'सुनो।'"

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां तु करोम्यहम्।
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे।
अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मां दहति नित्यदा॥

बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं सदा गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किंनु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किंनु दुःखतरं ततः॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम्॥

(म० भा० शांति० अ० ८१)

"नाम तो मेरा ईश्वर पुकारा जाता है, पर काम मेरा गुलामी करने का है। मजा दूसरे लेते हैं, मिहनत मैं करता हूँ। सुख भोग बहुत थोड़ा और गाली-भोग बहुत अधिक मिलता है। जिनका भला चाहता हूँ, जिनके लिये दिनरात पिसौनी पीसता हूँ, वे ही सबसे अधिक मुझे बुरा कहते हैं। आग बालने के लिये जैसे आदमी अरणी के ऊपर, मन दे के, वेग से, अग्निकाष्ठ को मथता है, वैसे रस से ये सब मेरे रिश्तेदार मेरे हृदय को गालियों से और निंदा से नित्य मथा करते हैं। इसके कारण दिन रात मेरा हृदय जला करता है। बलदेव, मेरे बड़े भाई साहब, अपनी भुजा ही देखा करते हैं, और बल के मद में मस्त रहते हैं। छोटे भाई साहब, गद, अपनी सुकुमारता के मारे घर रहते हैं। चिरञ्जीव प्रद्युम्नजी महाराज को अपना सुन्दर सुघड़ा गेना में निहारने ही से छुट्टी नहीं मिलती। दुनिया भर के झंझट का काम जो मेरे सिर पर लदा है, उसके ढोने म कोई मेरी सहायता नहीं करता। उग्रसेन-आहुक, और अक्रूर, दोनों मेरे तो बड़े भक्त बनते हैं, और हैं भी, पर आपस में इतना लड़ते हैं कि मेरे नाकों दम रहता है। जिसके पास ऐसे दो भक्त न हों

उसकी जिंदगी व्यर्थ है। और जिसके पास ऐसे दो भक्त हों, उसका जीवन और भी व्यर्थ है। मेरी तो हाल्त उस अम्मा को ऐसी हो रही है जिसके दो जुआरी पुत्र हों, और आपस में ही जूआ खेलें, और उनका दिन यही मनाते बीते कि एक तो जीते और दूसरा तो हारे नहीं। सो मेरे पुराने मित्र, तुमको कोई उपाय सूझे तो सलाह दो।"

नारद बोले, "सुनिए महाराज, आपत् दो प्रकार की होती है, एक तो दूसरों की की हुई, एक अपने आप बुलाई हुई। सो आपकी आपत अपनी बुलाई हुई है। आपको क्या जरूरत पड़ी थी कि कंस को मारकर उनके सठियाये बूढ़े पिता आहुकउग्रसेन को गद्दी पर बिठाने गये, और फिर उनको अकर्मण्य "बभ्रु" देख कर उनके ऊपर अक्रूर को "भोज" बनाया। (अक्रूरभोजप्रभवा बभ्रूग्रसेनत । बभ्रु और भोज शब्दों के अर्थ का निश्चित पता नहीं चलता, पर ऐसा जान पडता है कि जब राजगद्दी का अधिकारी कार्य-क्षम न हो तो उसको बभ्रु कहते थे, और राजकार्य करने को, जो नियुक्त किया जाता था उसको भोज।) आपको गोटें या चालीका, चट्टे बट्टे लड़ाने का, हृद्देश में स्थित होकर कठपुतली ऐसा आदमियों को नचाने का शौक है, तो फिर, आपको भी उनके साथ नाचना पड़ता है। अब जो किया उसको निबाहिए। बिना लोहे के शस्त्र से इन ज्ञातियों की जीभ काटिये।"

"सो कौनसा शस्त्र है?"

"गाली के बदले मीठी बोली। चोरी के बदले और दनाम। अपमान के बदले सम्मान।

नान्यत्र बुद्धितपोभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गुणं प्राज्ञोऽधिगच्छति ॥

दुनिया की गति को, आदमियों के चाल चलन को, देखना बूझना, और बूझ के सहना, क्षमा करना, अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, धन को नित्य नित्य त्यागते रहना, इसके सिवाय प्रज्ञावान् पुरुष के लिये और कोई काम बाकी नहीं रहता।"

"बहुत अच्छा, सलाह कड़ुई तो है पर ठीक है। तत्काल तो आपने जो मेरा आश्वासन किया यह मानो कटे पर नोन और जले पर अंगारा रखा। पर भाई, बात सच्ची कही।"

"महाराज, आपको मैं क्या सलाह दे सकता हूँ। आप स्वयं गुरुओं के गुरु, जगद्गुरु हो, आपने मेरे मुह से जगत् की शिक्षा के लिये जो कहलवाया वह मैंने कह दिया।"

गणराज्य

यह हुई कृष्ण की कथा। (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ८१)। ब्रह्मवैवर्त में कहा है कि गणेश श्रीकृष्ण विष्णु के ही अंश हैं। सत्त्व के देवता विष्णु। सत्त्व का अर्थ है, ज्ञान, बुद्धि। गणेश बुद्धिसागर। इसलिये विष्णु का अंश होना ठीक ही है। ऐसे ही कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न, स्वामिकार्त्तिक गुह के, तथा कामदेव के, तथा सनत्कुमार के अंश कहे गये हैं। यह सब पौराणिक रूपक, साङ्ख्य के तीनों गुणों के परस्पर सहचार तथा विरोध के ही रूपक हैं।

"प्रकृतं किमायातम्।" तो प्रकृत में यह बात पुन पुन

इन सब कथाओं से निकलती है कि गणपतित्व कैसा कठिन है।
भीष्म ने गणराज्य के विषय में कहा है—

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये ।
मंत्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥
गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥
भेदे गणा विनश्येयुर्भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥
कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ।
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारणम् ॥
अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात् ।
अन्योऽन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम् ॥
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च नाम्यन्ते रिपुभिर्गणाः ।
तस्मात्संघातमेवाहुः गणानां शरणं महत् ॥

"गणों का नाश एक मात्र परस्पर भेद से होता है। और रहस्य का, शासनसंबंधी मन्त्रों का, गुप्त रखना भी बहुत आदमियों की सभा के लिये दुष्कर है। गण में जो मुख्य कुल होते हैं, और उन कुलों के जो मुख्य होते हैं और राजा के नाम से कहलाते हैं, (कुलपति भी नरपति, राजा, आदि शब्दों से व्यवहार किये जाते थे) उनमें आपस में अकस्मात् वैर बढ़ जाने के मुख्य कारण लोभ और अमर्ष होते हैं। और इन कुलमुख्यों के वैर से कुलों में वैर, और कुलों में वैर

से गण मे व्यापी भेद, पैदा होता है, और तब पराये उनको सहज मे जीत लेते हैं। इसलिये संघात अर्थात् मेल बनाये रहने का सदा यत्न करते रहना गणों का परम धर्म है। मनुष्यों का स्वभाव ही है कि क्रोध मोह लोभ अकस्मात् उनके हृदय में पैदा हो जाते हैं, और उनके कारण एक दूसरे से बोलना बन्द कर देते हैं। दूसरों के हाथ से पराभव पाने का यह साक्षात् लक्षण है। इसलिये कुलवृद्धों का धर्म है कि जब ऐसे कलह कोई देख पडे तो तत्काल उनके रोकने और मिटाने का यत्न करे, नहीं तो सारे गोत्र और गण का नाश हो जायगा। इस क्रोध लोभ मोह की उत्पत्ति का मुख्य कारण यह है कि गण में, जाति तो सबकी सदृश, कुल में भी सब सदृश, कोई किसी को ऊँचा नीचा नहीं कह सकता, पर उद्योग में, बुद्धि मे, रूप मे, द्रव्य में तो कोई दो आदमी भी ठीक बराबर नहीं। तो भी जिनमें ये गुण कम हैं वे भी उनकी बराबरी ही करना चाहते हैं जिनके पास ये गुण अधिक मात्रा में है, और ये उस संघर्ष का अमर्ष करते हैं, उसको सहते नहीं। एक ओर लोभ और ईर्ष्या, एक ओर अमर्ष, सब ओर मोह"। कैसे काम चले ?"

सर्वे यत्र प्रणेतार सर्वे पंडितमानिनः ।
सर्वे महत्वमिच्छंति तद्वृन्द द्याशु नश्यति॥

जिस समाज में सभी नेता बनना चाहें, सभी अपने को सर्वोत्तम पंडित समझें, सभी चाहें कि सबसे बड़ा मैं ही होऊँ— ऐसा समाज बहुत जल्दी ही डूबता है ।

सघे शक्तिः

संघे शक्ति कलौ युगे। कलहप्रधान देश और काल में, कलियुग में, जो ही दल, चाहे छोटा ही हो, आपस का मेल बनाये रहेगा, संघातशक्ति, संघशक्ति बनाये रहेगा, वही अन्य सब पर विजय पावेगा।

अंग्रेजो में कहावत प्रसिद्ध है कि "ए हनड्रेड डिसिप्लिन्ड आरगेनाइज्ड मोलजर्स कैन ड्राइव एबाउट ऐज दे प्लीज, ए माब आफ टेन थाउजेण्ड मेन", अर्थात सौ सिपाहियों का सन्नद्ध संग्रथित व्यूह दस हजार आदमियों के असंग्रथित झुण्ड को मनमाने हाक सक्ता है। तथा वृद्ध भीष्म के उपर्युक्त एक श्लोक का पूरा पूरा "अनुवाद" हाल की छपी एक वृद्ध अंग्रेज की किताब में, जो प्राय संस्कृत का एक अक्षर भी नहीं जानते थे, मिलता है। कारण यह कि अनुभव समान होने से विचार भी समान होते हैं। "आलिगार्कीज आर एप्ट टु बी डिवाइडेड इन टू फैक्शन्स बाई दि राइवलरीज ऐण्ड जेल्सीज आफ लीडिंग फेमिलीज" [ब्राइस-कृत "माडर्न डेमोक्रेसीज" भा० २ पृ० ५९१] अर्थात् संघराज्यों में मुख्य मुख्य कुलों की आपस की ईर्ष्या और कलह से परस्पर विरोधी दल पैदा हो जाते हैं।

सघात, सहनन, संग्रन्थन का उपाय

तो अब यह नैसर्गिक कठिनता कैसे सरल की जाय? बिना सघ के शक्ति नहीं। बिना कायव्यूहवत्, शरीरसघातवत् अगागिभाव के मुख्य, और गौण अवयव के, सिर और हाथ

पैर के, बड़े छोटे के, नेता नीत के, गणपति और गण के, सब नहीं। पर गण में, संघ में, सभी बराबरी का दावा करनेवाले। कौन किसका कहना माने? इस महा विरोध का परिहार कैसे हो। बहुत ही कठिन है। इसीलिये इतिहास से जान पड़ता है कि "रिपब्लिक" ज्यादा चलती नहीं। रोज उथल पुथल इनमें हुआ करता है। जो रिपब्लिक अर्थात् गणराज्य कुछ चले वे नाम को गणराज्य थे, पर वस्तुत गणपति-राज्य थे। कृष्ण के ऐसे गणपति रहते हुए भी अंधक-वृष्णि-संघ ने अपना संहार कर ही डाला। गणराज्य चलाने का एक मात्र उपाय वही है जिसकी सूचना आपके सामने इस व्याख्यान में वेदपथ के अर्ध-श्लोक से की गई। तथा नारद ने कृष्ण से स्पष्ट शब्दों में कहा। और पुरुषसूक्त में भी वही सूचना दूसरे प्रकार से की है।

समुद्र मन्थन

पुराण का समुद्र-मन्थन का रूपक बड़ा उदात्त, उद्दाम, ओजस्वी, सारगर्भ, ज्ञानपूर्ण है। समुद्र नाम आकाश का भी निरुक्त में कहा है। देव और दैत्यरूपी दो विरुद्ध शक्तियाँ, जो एक ही मूलशक्ति, माया, अविद्या, तृष्णा, के दो अंश हैं, यथा "इलेक्ट्रिसिटी" के "नेगेटिव्" और "पाजिटिव्" अंश, इस आकाश समुद्र में परस्पर संघर्ष की क्रीड़ा करती हैं। "इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" प्रत्येक इन्द्रिय के प्रत्येक विषय के साथ, राग भी, और द्वेष भी, दोनों ही सदा लगे हैं। यह बात चर्म चक्षु को भी प्रत्यक्ष है। संसार का नाम ही द्वन्द्व है। सृष्टि जब होती है तब संबद्ध-विरुद्ध जोड़ों की ही होती है। सब चीज

जोड़ा जोड़ा हैं। कुरान में भी लिखा है। "मिन कुल्ले शयीन् खलक्ना जौजैन" "मैंने (आत्मा ने) सब चीजें जोड़ा जोड़ा पैदा की हैं।" दुर्गा सप्तशती में यही बात मधुकैटभ के रूपक से कही है। ब्रह्मा सृष्टि का विचार कर ही रहे थे कि मधुकैटभ नाम के दो असुर—

विष्णुकर्णमलोद्भूतौ ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ।
मधुस्तु काम संप्रोक्त कैटभः क्रोध उच्यते॥
अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा शुभ्रचतुर्मुख।
स तामसो मधुर्जातः कैटभो राजसस्तु स॥
(म० भा० शांति० अ० ३५७)

अर्थात, ब्रह्मा नाम अहंकार का सात्विक अंश, कहीं बुद्धितत्त्व भी कहा है। विसिनोति, व्याप्नोति इति विष्णु। व्यापक महत्तत्त्व। उसके कर्ण के मल से, अर्थात दूषित राजस तामस शब्दरूप (आकाश का गुण शब्द, जो कर्णग्राह्य है), मधु अर्थात् काम, और कैटभ अर्थात् क्रोध पैदा हुए, और ब्रह्मा को मारने, अर्थात वेद के शुद्ध सात्त्विक छंद को दूषित करने को दौड़े।

"ब्रह्मा वेदमयो निधि" हुआ। उसके मारनेवाले काम और क्रोध। दोनों मरें तो कैसे। "आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता।" अपनी खुशी से ही मरेंगे। "चरिताधिकार चेतसि" इत्यादि। जब उनका अधिकार, उनका संयोग, कम हो जाता है, तब उस भूमि पर, अर्थात् चित्त की उस अवस्था में, ये दोनों मरते हैं, जहाँ पृथ्वी और जल का संयोग न हो। "अग्नीषोमीय जगत्"। "भूस्थानी देवता अग्नि"। जहाँ इन दोनों का संयोग न

हो (और ये दोनो भी काम क्रोध ही के दूसरे रूप हैं, जल काम का, अग्नि क्रोध का), अर्थात् दोनों की मध्यावस्था में, चित्त शांत और मध्यस्थ, तटस्थ, होता है।

यथा शीतोष्णयोर्मध्ये नैवोष्ण न च शीतता।
न पुण्य न च वा पाप न सुख नैव दु खिता॥
न बंधो न च वा मोक्ष इत्येषा परमार्थता।

अर्थात् शीत और उष्ण के बीच में एक ऐसी अवस्था होती है जिसको न शीत ही कह सकते हैं न उष्ण। परमार्थता का स्वरूप ही यह है कि उसमें द्व द्व नहीं, न सुख न दुःख, न पुण्य न पाप, न बंध न मोक्ष।

इस अवस्था मे भी कौन मारे ? तो सात्विक ज्ञानात्मक परमार्थ बुद्धि स्वरूप विष्णु। और वह भी कहाँ पर ? "ततस्तु जघने कृत्वा मन्त्रिन्ने शिरसी तयो "। जघन भी शरीर का मध्य भाग है। इससे मध्यस्थता का पुनरपि सूचन होता है। इस भाग पर वश होने से, आहारेषणा और दारैषणा पर निग्रह होने से, काम क्रोध का निग्रह हो सकता है। ओत्र पहिली इन्द्रिय है। वहीं इनका जन्म हुआ। कटि प्राण का एक मुख्य स्थान है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि चक्र यहीं हैं। इसी कटि मे, मध्य मे, इन दोनों की शांति भी होनी चाहिये। साथ ही यह द्व द्व आविर्भूत होता है, साथ ही तिरोभूत होता है। इस द्व द्व, जोड़ा-जोड़ा, दोनों मे, विरोध भी है और साथ ही साथ अनुरोध भी है। तो देव और दैत्य जब एक ही मूल शक्ति, वासुकि (जगद् वासयति, व्याप्नोति, इति) नाग को, जो मन्दर पर्वत (मेरु दंड, पृष्ठवंश, कर्दमूर अश्वत्थ, इद

पिंगलादि नाड़ीस्थान) के चारों ओर कुण्डलित है, दो ओर से खींचते हैं, तब इस जड़ शरीर में चक्रवत् परिवर्त्त आरम्भ होता है और आकाश समुद्र में से विविध प्रकार के रत्नभूत पदार्थ निकलते हैं। पर इस उत्कट रगड़ का पहिला फल हालाहल क्रोध विष पैदा होता है। उसको पीनेवाला और पचानेवाला यदि कोई न हो तो सब खेल बिगड़ जाय। जो कुल के वृद्धतम हों उन्हीं का यह धर्म और कर्त्तव्य है कि वे इस जहर को पीकर बैठें, और सदा पचाते रहें। और सब बोझ ढोने का, मिहनत करने का, दौड़ धूप का, खींचा तानी का काम जवान लोग, देव दैत्य करेंगे। यह तो हुआ क्लेश का बटवारा। शुल्क का भी बटवारा देखिये। महादेव को और कुछ मिहनत नहीं करनी पड़ी। और देव दैत्य वारुणी और अमृत आदि रत्न को आपस में बाँट लेते हैं, और उस बटवारे के हेर फेर के लिये, कौन अधिकार किस को मिले इसके लिये, सदा लड़ते रहते हैं। पर महादेव का सब ही, देव पक्ष भी और दैत्यपक्ष भी, दोनों दल ('पार्टी') आदर और पूजन करते रहते हैं।

"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥"

अर्थात् जो आगे कड़ुआ विष समान जान पड़ता है वह पीछे मीठा अमृत ऐसा फलदायी और गुणकारी होता है।

इस रूपक से गणपति और गण का कर्त्तव्य जान पड़ता है, जिसके पालन से उपर्युक्त घोर गणनिसर्गान्तर्गत विरोध का परिहार हो सकता है। कृष्ण-नारद-संवाद का भी यही अर्थ है। पुरुष-सूक्त-सूचित पुरुषबलि और वर्ण धर्म कर्म-वृत्ति-जीविका-शुल्कादि के विभाग का भी यही अर्थ है। जब तक गण-

पति में ऐसा स्वार्थत्याग और लोकहितबुद्धि होगी, "वात्सल्ये मनुवन् नृणां", और गण में ऐसे वृद्ध का आदर होगा, तब गण की संघशक्ति क्षीण न होगी। जब नहीं तब गण अवश्य नष्ट होगा।

जब शिव भी हालाहल को गले में धारण करते करते घबरा जाते हैं तब

हर मक्षुभ्यंन भजति भसितोद्धूलनविधिं।

ब्रह्माण्ड को जलाकर पीस कर भस्म कर धूल उड़ा डालते हैं और प्रलय होता है। तथा नित्य नित्य झगड़ा निपटाते निपटाते, दोनों ओर की मनौती करते करते, जब वृद्ध लोग स्वयं थककर क्रुद्ध हो जाते हैं तब मनुष्य समाज में महाभारत होती है।

क्या उपाय किया जाय कि राजस तामस भावों की रोक और सात्विक उदार भावों का उद्भावन और परिपोषण समाज में और समाज के नेता में सदा होता रहे, यहाँ तक कि नेता तो सम्मान से भागता रहे, और जनता उसके पीछे सम्मान का उपहार लेकर दौड़ती रहे?

इसका एक मात्र उपाय यही है कि एकद्वंतता सर्वप्रयत्न साधी जाय। इसमें जितना परिश्रम किया जाय वह थोड़ा है। बिना इसके कोई सत्कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। गणपति के सारे कुनबे के आचरण की सिरधन यही अद्वैतता, अभेदबुद्धि और तज्जनित स्वार्थत्याग है। गणपति के पिता महादेव, सबसे बड़े देव, अल्लाह अकबर [अकबर=सबसे बड़ा, अल्लाह= देव] का स्वरूप ही यह है।

महोक्ष खट्वाँगं परशुरजिन भस्म फणिन,
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरण ।
सुरास्ता तामृद्धि दधति तु भवद्भ्रू प्रणिहिता
नहि स्वात्माराम विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥

अर्थात्,

बल अरु डमरू अरु फरसा अरु गज को चर्म,
भस्म, सर्प, माला कपाल के कलाप की।
देवन के देव, वरदाता वर वस्तुन के,
आपनो सुख संगति सब एती ही आपकी।
तुमरी भौं के इसारे पुनि देव पावत ऋद्धि सिद्धि,
काम आत्माराम कौ नहिं एहि सब मायापाप की॥

(उक्षति, वर्षति, मेहति बीजान, जीवान्, प्राणान, धर्मान् इति महोक्ष, वृष, गर्भेश, धर्म, चार पैरवाला चार-वर्ण आश्रम-पुरुषार्थ-वेद-महावाक्य-दिशा-आदिरूपी परमात्मा का वाहन। कुंडलिनी शक्ति की इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों में गति के आकार का अनुसरण करनेवाला डमरू। परमे ब्रह्मणि शाययति, आत्मन अन्यत् इतरत् जड़ जगत् शृणाति नाशयति, इति परशु, अविद्या का, जड़जगत् का, वध का, खंडन करनेवाला, ब्रह्म में शयन कराने वाला, मोक्ष देने वाला, ज्ञान, आत्मबोध। गजचर्मवत् काला और अतिविस्तारशाली अनन्त नील आकाश। श्वेत भस्म के ऐसे ज्योतीरेणुरूप नक्षत्र तारों के असंख्य ब्रह्माड। सर्पवत् चक्राकार भ्रमण करने कराने वाली संसार के प्रत्येक अणु में व्याप्त शक्तियाँ। उत्कृष्ट महर्षि और देव और जगन्-नियता, संसार के चलाने वाले, प्रत्येक नक्षत्र तारा ब्रह्माड के

सदाचार के परस्पर मेल और "अभय सत्त्वसंशुद्धि ज्ञानयोग-व्यवस्थिति" नहीं। बिना इन के आत्मपराता, स्वाधीनता, स्वतन्त्रता नहीं।

भारतवर्ष में वर्तमान काल में, गणपति के केवल एक ही गण का पति होने से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। सभी गणों का पति होना चाहिये। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, यहूदी, जैन, बौद्ध, सिख आदि। यह कैसे हो ? जब वह एकत्त हो। सब मतभेदों का ऐकमत्य कर सके। यह शक्ति उसी भगवती परमा विद्या की उपासना से प्राप्त हो सकती है। जो बुद्धि, जो विद्या, सारग्राहिणी है, मूल बातों को, गम्भीर तत्वों को, पकड़ती है, ऊपरी कृत्रिम विशेषों में ही नहीं अटक रहती है, वह निश्चय से जानती है कि "सर्वेषु वेदेष्वहमेव वेद्य"। "अहम," मैं, आत्मा, "आइ" (अंग्रेजी), "अना" (अरबी), "खुद" (=खुदा, फारसी), यही एक अजर अमर वस्तु सब मतों के सब वेदों में, सब धर्मग्रन्थों में, पक्की है। इसी पर चारों ओर ज़ोर देने से लोकविग्रह घटेगा, लोकसंग्रह बढ़ेगा, ऐकमत्य होगा, विरोध-परिहार होगा।

देखिये, हम आप इस समय सभाभवन में इस समय बैठे हैं। देखने को तो एक ही स्थान है। पर इस एक स्थान में इस एक क्षण में सैकड़ों लोक समन्वित हैं। रूप की दुनिया अलग ही है, पर यहाँ मौजूद है। गन्ध का लोक भिन्न है, पर यहाँ है। शब्द का संसार, स्पर्श का जगत्, "दि वर्ल्ड आफ टेस्ट", "दि वर्ल्ड आफ इलेक्ट्रिसिटी," "दि वर्ल्ड आफ हिस्ट्री", सायंस का आलम, कविता का "वर्ल्ड", एक सायंस के अन्दर विशेष विशेष

सैकड़ो विज्ञानों के जगत, कलाओं के लोक, आलमे इश्क, आलमि जग, आलमि नासूत, आलमि मिसाल, आलमि मलकूत, वग़ैरा, अर्थात् भू भुव स्व आदि लोक, सूर्यलोक, (दि वर्ल्ड आफ लैट), वरुण लोक (" वाटर ") इत्यादि "प्लेन" (अंग्रेजी), 'लौह (अरबी) "अर्द" (अरबी), यह सभी इसी जगह उपस्थित हैं। जिसी का हम ध्यान करते हैं उसी में पहुंच जाते हैं। क्या बात हुई ? द्रष्टा में, मैं में, आत्मा की बुद्धि में, ही इन सबका समन्वय होता है। सभी उसी में सदा वर्तमान हैं। आत्मा ही सबका समाहार, सबका समन्वय, करता है। और यस्मात् सनातन धर्म परमात्मधर्म है, क्योंकि सिवाय परमात्मा के और कोई वस्तु सनातन सदातन नित्य नहीं, और परमात्मा को किसी से विरोध नहीं, बल्कि वह सब में है और सब उसमें है, इसी लिये इस धर्म मे सब धर्मों का देश-काल-निमित्त अधिकार भेदेन समन्वय हो सकता है और है। इसको किसी से विरोध नहीं। इस धर्म के सच्चे तात्त्विक सात्त्विक स्वरूप के विरुद्ध, आज काल जो इसका बर्त्ताव परस्परविरोधमय, भेदमय, "मत छू"-मय, "छुई-मुई"-मय, हो गया है, उसका मूल कारण यही है कि सात्विक ज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मबुद्धि, आत्मविद्या का ह्रास और रागद्वेष रजस् तमस् से ग्रास हो गया है।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते। (मनु)

आत्मज्ञान की दृष्टि के बिना जो कोई कुछ काम करता है वह उसके अच्छे फल को नहीं पाता। क्योंकि उसको सत् लक्ष्य का ज्ञान नहीं, सत् पुरुषार्थ का ज्ञान नहीं, और इस हेतु से वह

अपनी शक्तियों का सत् प्रयोग नहीं करता। तो आप लोग जो विद्यार्थी हो, इस परम विद्या आत्मविद्या का बहुत आदर से संग्रह कीजिये, तभी अन्य सब विद्या आपकी सफल होगी। सच्चे गणपति आत्मा की पूजा नहीं की, तो वरह के पट्टे सब रास्ता काट डालेंगे। आत्मा में सब देवता वर्त्तमान हैं।

विनयाद्यायकोऽन्येषां, विशिष्टो नायक स्वयम्।
नायकेन विना जातस्तस्माज् ज्ञातो विनायक॥
आत्मैव देवता सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितं।
सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहित।
सर्वमात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मन॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञान पर स्मृत।
तद्ध्यग्र्य सर्वविद्याना प्राप्यते ह्यमृतं तत॥
उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मन॥

अर्थात्, आत्मा ही सबका विशिष्ट नायक है, विनयन करने वाला है, उसका कोई नायक नहीं है, बिना किसी नायक के, किसी माता पिता के, उत्पन्न हुआ है स्वयभू है, विनायक है। आत्मा ही सब देवता है। सब कुछ आत्मा में है। जो सब कुछ को आत्मा में ही देखता है वह अधर्म में मन नहीं देता। सब से बढ़ कर आत्मज्ञान है, सब विद्याओं में श्रेष्ठ है। इसी से अमृत मिलता है, अमरत्व प्राप्त होता है। आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिये, आत्मा को कभी अवसन्न नहीं होने देना चाहिये। आत्मा ही आत्मा का रिपु हो सकता है, क्योंकि दूसरे किसी को शक्ति नहीं जो आत्मा की हानि

कर सकै। और आत्मा ही सच्चा बंधु आत्मा का है, क्योंकि दूसरे किसी में ऐसी शक्ति नहीं जो इसकी सहायता करे।

यही बात सूफियों ने भी कही है।

लौहि महफूज़स्त दर मानी दिलत।
हरचि मी खाही शवद जू हासिलत॥

अर्थात्,

ब्रह्मदेव की परमनिधि हृदय तुम्हारो होय।
जो कुछ अभिलाषा उठै तातें पावहु सोय॥

और भी,

आनाँ कि तलबगारि खुदाएद, खुदाएद,
हाजत बतलब नीस्त, शुमाएद, शुमाएद।
चीजे कि न गर्दीद गुम अज बहरि चि जोयेद,
कस गैरि शुमा नीस्त, कुजाएद, कुजाएद॥

अर्थात्,

ईश्वर को जे खोजते!, सुनो हमारी बात,
खोजन कौ नहिं काज कछु, तुम ही हौ वह, तात।
कबहुँ जु खोयौ नाहिं तेहि क्यों ढूँढ़त अकुलात?
तुम सिवाय जग में कछू दूजौ नाहिं दिखात॥

आपके हृदय में महा गणपति परमात्मा का सदा वास है, यदि आप यत्न करोगे तो पहिचानोगे कि आप स्वयं ही परम गणपति हो, और ऐसा पहिचानने से ही आप अपना भी और अपने समाज का भी कल्याण कर सकोगे।

निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे ।
प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे ।
गणानां त्वा गणपतिं हवामहे ॥
ॐ

(टिप्पणी—इस व्याख्यान में एक स्थान पर गणपति के एक प्राचीन नाम सालकटंकट की चर्चा की गई है । वाल्मीकि रामायण में, तथा महाभारत में, सालकटंकट और शालकटंकटा शब्द राक्षस राक्षसों के नामों में मिलते हैं । आधुनिक मंगोलियन जाति इस राक्षस-नामक महाजाति की वंश परंपरा में है । यथा मुद्राराक्षस नाटक से विदित होता है कि नंद का मंत्री राक्षस अर्थात् तिब्बती या चीनी था । इस प्राचीन महाजाति का वासस्थान, अटलांटिस महाद्वीप, जलप्रलय से समुद्र-मग्न हो गया, सहस्रों वर्ष पूर्व, ऐसा कुछ वैज्ञानिकों का विचार है । संभव है कि यह नाम और रूप चीनियों तिब्बतियों के द्वारा आगे चल कर भारतवर्ष में पहुँचा हो ।)

समन्वय

(अर्थात् आत्मज्ञानद्वारा सर्व धर्मों का समन्वय)

[तिथि ८ चैत्र (मीन) संवत् १९८० (ता० २२ मार्च १९२४) को गुरुकुल, कांगड़ी, में स्नातकों के समावर्तन-संस्कार का वार्षिक उत्सव हुआ। उस अवसर पर श्रीभगवानदासजी का व्याख्यान ("कान्वोकेशन ऐड्रेस") हुआ। ति० २८ माघ (मकर) १९८१ (ता० १० फरवरी १९२५) को काशी विद्यापीठ में स्नातकों के समावर्तन संस्कार का जो प्रथम उत्सव हुआ, उसमें भी श्रीभगवान्दासजी ने प्राय उसी आशय का व्याख्यान दिया। वह आशय यहाँ प्रकाश किया जाता है।]

ॐ

यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि।
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमान स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु॥

प्रिय विद्यार्थी जन,

आज के ऐसे समावर्त्तन संस्कार के समय के व्याख्यानों में, प्राय विद्यार्थियों और स्नातकों के जीवन के कर्त्तव्य के विषय में कुछ उपदेश देने की प्रथा प्रचलित है। पर आप लोग त्यागशील, तपस्याशील, विद्वान्, आचार्यों और अध्यापकों

के उपदेश और निदर्शन वर्षों से सुन और देख रहे हैं। मैं आप को कौनसी नई बात सुनाऊँ।

पुरातन ही नित्य नवीन है।

आज सवेरे से इसी चिन्ता में मैं मग्न हो रहा था, कि मुझे ध्यान आया कि जो सब से पुरानी बात है वही रोज नयी है।

नवो नवो भवति जायमान अह्नांकेतु ।

अर्थात्, दिवसों के पताकारूप सूर्यदेव, अति प्राचीन होते हुए भी, नित्य नये होकर जन्म प्रतिदिन लेते हैं।

सो मैं आप लोगों को कुछ बहुत पुरानी बातें सुनाऊँगा। बहुत पुरानी होते हुए भी वे नित्य नयी हैं।

आज आप में से कई विद्यार्थियों का समावर्तन संस्कार हुआ है। और बाकी का भी प्रतिवर्ष कई कई का होता जायगा। प्राचीन काल में भी ऐसा होता था। उपनिषदों से ज्ञात पड़ता है, उस समय आचार्य समावर्तमान विद्यार्थियों को घर लौटने से पहिले अन्तिम उपदेश बहुत स्नेह से, बहुत गम्भीर भाव से, बहुत शुभ कामना से, देते थे, जैसा आज भी आपके आचार्यों ने आपको दिया।

आचार्य का विद्यार्थी को अन्तिम उपदेश।

"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तान्येव त्वयोपास्यानि, नो

इतराणि। प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सी। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणा तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात, ये तत्र ब्राह्मणाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथा। एष आदेश। एष उपदेश। एषा वेदोपनिषत्।" (तैत्तिरीय उपनिषत)।

अन्तिम उपदेश, अन्तिम आदेश यही है—सत्य बोलना धर्म के अनुसार आचरण करना, स्वाध्याय में अर्थात् बुद्धिवर्धक—ज्ञान वर्धक शास्त्रों के नित्य अवलोकन करने में प्रमाद नहीं करना। पढ़ना समाप्त हुआ, अब हमको पठन पाठन से क्या काम, ऐसा मत समझना। कुशलता साधनेवाले, कौशल के कामों के करने मे मत चूकना। भूति, विभूति, विभव सम्पादन करनेवाले धर्मयुक्त कामों के करने से मत चूकना। देवों और पितरों के ऋण चुकाने वाले कामों से मत चूकना। जो अच्छे काम हैं वही करना, दूसरे काम नहीं करना। यदि हमने भी कोई अनुचित काम किया है तो यह विचार के कि आचार्य ने ऐसा किया है उसका अनुकरण नहीं करना, जो हमसे अच्छे काम बन पड़े हैं उन्हीं का अनुसरण करना, हमारे अनुचित कामों का अनुकरण मत करना। हमसे जो अधिक श्रेष्ठ सच्चरित्र विद्वान मिलें उनकी उपासना करना। अन्धश्रद्धा मत करना, अपनी बुद्धि पर भरोसा करके विवेक से काम करना। अपने मन में सार्वजनिक स्नेह का भाव रखना। प्रजा सन्तान का उच्छेद मत करना। अपने सुख चैन की स्वार्थी लालच से गार्हस्थ्य के उत्तम धर्म का बोझ उठाने से जान मत छिपाना।

यथा नदी नदा सर्वे समुद्रे याति संस्थिति ।
तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे याति संस्थिति ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजंतव ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रिण ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ (मनु)

अर्थात् जैसे सब नद नदी समुद्र ही में आसरा पाते हैं, जैसे सब जीव जन्तु वायु के हो सहारे जीते हैं, वैसे सब आश्रम गृहस्थ के आसरे रहते हैं। अन्य तीन आश्रमवालों को गृहस्थ ही अन्न भी देता है और ज्ञान भी देता है।

हाँ, सब उत्सर्गों के लिये, सब नियमों के लिये, अपवाद होते हैं। विशेष विशेष अवस्था में नैष्ठिक ब्रह्मचर्यादि हो सकता है। और परार्थ के लिये, परोपकार के लिये, निश्चित होकर देश सेवा के लिये, यदि कोई नैष्ठिक, अथवा परिमित काल के लिये, ब्रह्मचर्य का व्रत धारे, तो यह उनके और देश के बड़े सौभाग्य की बात है और देश को ऐसे ब्रह्मचारी (तथा वानप्रस्थ) स्वयंसेवकों की बड़ी आवश्यकता है। पर साधारण धर्म इसी को जानना, अर्थात् विद्याध्ययन से समावृत्त होकर गार्हस्थ्य करना, और अपने त्रिविध ऋण को यत्न पूर्वक चुकाना। माता, पिता, आचार्य रूपी देवताओं ने आपके लिये बड़ा परिश्रम किया है, उनका ऋण आपके ऊपर बहुत है, उसको अपने आगे की पुश्त के लिये वैसा ही परिश्रम करके चुकाना। माता पिता और आचार्य के लिये नम्रता भाव स्नेह भाव, विनय भाव, अपने मन में सदा बनाये रहना। इससे

आप ही को आगे बहुत रक्षा होगी। मिथ्या अहंकार जनित कलह के दुष्फलों से बचियेगा। हमसे आपसे जो वृद्ध हैं उनका अनादर मत करना। मातृभक्ति विशेष कीजिएगा। शरीर को जन्म देने वाली माता की, तथा जन्मभूमि रूपिणी माता की, जिससे पहिली माता का भरण पोषण हुआ और होता है, तथा उस जन्मभूमि की भी माता स्वयं जन्मरहित सर्व-जगज्जननी, परमात्मा की स्वभाव रूपिणी प्रकृति देवी की, परमपुरुष की प्रकृति की, जिसकी सारी सृष्टि ही सन्तान है, हृदय में भक्ति बनाये रहियेगा।

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां सर्वाः प्रजाः सृजमानां नमामः।

अर्थात् परमात्मा की जन्मरहित अनादि अनन्तशक्ति, त्रिकमयी, त्रिगुणात्मिका, तीन रङ्ग वाली, सरस्वती रूपेण श्वेत, काली रूपेण कृष्ण, और लक्ष्मी रूपेण रक्त, देवी को, जो सब असंख्य प्रजाओं की जननी है हम लोग नमस्कार करते हैं।

माता का सात्त्विक भक्ति और वन्दना का यह भाव परम पावन और मनोमलशोधन है। इसीलिये मनु ने कहा है,

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (मनु)

दस उपाध्याया से बढ़ कर आचार्य, सौ आचार्यों से बढ़ कर पिता, और सहस्र पिताओं से बढ़ कर माता की गुरुता है।

वृद्ध पितामह भीष्म ने इसका फल थोड़े में कहा है,

जीवतः पितरौ यस्य मातुरङ्कगतो यथा।
षष्टिहायनवर्षोऽपि स द्विहायनवच्चरेत्॥ (शान्तिपर्व)

जिसके माता पिता वर्तमान हैं वह साठ वर्ष की उमर पाकर भी वैसा निश्चिन्त और प्रसन्न रहता है जैसा मा की गोद में दो वर्ष का बच्चा।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। जिस रहन सहन आचार विचार से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों मिलें, इस लोक में अभ्युदय भी, और संसार के सुखों में सदा लिपटे हुए दुःखों के बन्धनों से मोक्ष भी, वही धर्म है। इसलिये धर्मप्रधान सभ्यता शालीनता के गुरुकुल का आचार्य अंतिम उपदेश फिर भी धर्मविषयक ही देता है, कि यदि कभी सन्देह हो कि इस विशेष अवस्था में क्या कर्तव्य है, क्या कृत्य है, क्या धर्म है, तो जो सद्गुरु, सच्चे विद्वान्, धार्मिक और तपस्वी जीव, जिन्हीं का नाम ब्राह्मण है, वे जैसा उस अवस्था में, उस देश काल-निमित्त में, आचरण करते हों वैसा ही आप आचरण करना।

एषा वेदोपनिषत्।

यही सब वेद का अर्थात् ज्ञान का निचोड़, निष्कर्ष, रहस्य, उपनिषत् है।

कर्त्तव्य धर्म विषयक सन्देह का निर्णय कैसे हो।

वेद अर्थात् सद्ज्ञान कर्मपरक है, धर्म का, व्यवहार का, उपयोगी है, सार्थक है, आत्मज्ञानप्रतिपादक ज्ञानकाण्ड को छोड़कर। इसलिये ब्रह्मचर्य काल के विद्याध्ययन का साक्षात् और मुख्य प्रयोजन व्यवहारशुद्धि, आचरणशुद्धि। इसलिये अंतिम उपदेश इसी विषय का है कि धर्मपरक कर्म के सम्बन्ध में यदि शंका उत्पन्न हो तो उसका समाधान कैसे करना।

इसी अर्थ का अनुवाद मनु ने किया है।

मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ।
अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
य शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयु स धर्म स्यादशंकित ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद सपरिबृंहण ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया श्रुतिप्रत्यक्षहेतव ॥(मनु)

अर्थात् इस मानवशास्त्र का रहस्य यही है कि यदि ऐसी नयी अवस्था उत्पन्न हो कि उसके सुलझाने के लिये प्राचीन निर्णीत धर्म ग्रन्थों में कुछ न मिले, और प्रश्न उठे कि इस अवस्था मे क्या करना चाहिये, तो शिष्ट ब्राह्मण जो निर्णय करदे वही धर्म माना जाय। तथा शिष्ट ब्राह्मण वे मनुष्य समझे जायँ जिन्होंने इतिहास पुराण सहित धर्मपूर्वक वेदों का, सच्चे ज्ञानों का, अध्ययन किया है, और जो वदों में, ज्ञानग्रन्थों में, कही सुनी वातों को प्रत्यक्ष करके दिखा सकते हैं।

"एषा वेदोपनिषत्" और "मानवशास्त्ररहस्य" दोनो एक ही वात है। क्योंकि,

य कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स ॥ (मनु)

अर्थात्, जो जिसका धर्म मनु ने बताया है वह सब वेद मे कहा है, वेद भी और मनु भी सर्वज्ञान मय हैं।

तो यह अन्तिम उपदेश कर्ममार्ग का है, कि सशयावस्था मे जिसको अच्छे लोग कहैं वही धर्म है। महाभारत मे इसी विषय को दूसरे प्रकार से अनुवाद किया है।

तर्कोऽप्रतिष्ठ , श्रुतयो विभिन्ना,
नैका ऋषिर्यस्य वच प्रमाणं ।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया
महाजनो येन गत स पन्था ॥ (विदुरनीति)

अर्थात्, तर्क की कहीं प्रतिष्ठि, समाप्ति, नहीं, श्रुतियाँ विभिन्न परस्पर विरुद्ध मिलती हैं, एक ही ऋषि नहीं जिसी का वचन प्रमाण मान लिया जाय। धर्म का तत्त्व (आत्मा के वासस्थान, हृदय की) गुहा में छिपा है। महाजन (समूह उस अन्तरात्मा से प्रेरित होकर) जिस पथ से चले वही पथ ठीक है।

महाजन शब्द का अर्थ कोई तो करते हैं "महान्तो जना", "बड़े आदमी", कोई कहते हैं "महान् जन-समूह," अर्थात "मेजारिटी", बहुतर मत, भूयसीय। बड़े आदमी का अर्थ होता तो नैको ऋषि न कहते।

मनु का उपदेश इस विषय में यह है,

एकोऽपि वेदविद्धर्मं य व्यवस्येद् द्विजोत्तम ।
स विज्ञेय परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतै ॥ (मनु)

अर्थात्, सदा वेदवित्, ज्ञानी, उत्तम चरित्र वाला द्विज जो निर्णय कर दे उसी को धर्म जानना मानना। यदि दस सहस्र मूढ़ भी किसी बात को धर्म कहें तो नहीं मानना।

यह बड़ी बात विरुद्ध ऐसी जान पड़ती है। इनका विरोध परिहार कैसे हो? इसके विषय में आगे फिर कहूँगा।

वन्देमातरम् और स्वराज्य।

आचार्य ने अन्तिम उपदेश में विद्यार्थी को धर्ममार्ग विषयक अन्तिम बातें कहीं। आजकाल के शब्दों में जिनको

'डोमेस्टिक ड्यूटीज्' 'सोशल ड्यूटीज्' 'सिविक् एन्ड पोलिटिकल ड्यूटीज्', 'ह्यूमनिस्ट ड्यूटीज्' अर्थात् गृहधर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, मानवजाति सबधी कर्तव्य, आदि कहेंगे, उनका आशय पुराने शब्दों में देव पितृ अतिथि आदि कार्य, और भूति, कुशल, और सर्वोपरि व्यापक शब्द धर्म के नाम से आचार्य ने सूचित किया। और उस 'प्रिंसिपल् आफ् लिविङ् लेजिस्लेशन्" को भी, जिस जीवत्त जाग्रत् सिद्धात के अनुसार नवीन धर्म की परिकल्पना, नवीन धर्म का व्यवसान, आम्नान, होना चाहिये, और जो ही सब राज्यप्रबन्ध का मूल है, सूचना कर दी। "मातृदेवो भव" से 'वन्देमातरम्' का सूत्रपात, और "धर्मकामा यथा वर्तेरंस्तथा वर्त्तेथा" इससे 'स्वराज्य' के मूलमन्त्र का सूत्रपात, कर दिया।

इसके बाद ब्रह्मचारी घर जाय। पर इतना पठनपाठन भी पर्याप्त नहीं होता। कुछ और बाकी रह जाता है।

तर्कोऽप्रतिष्ठ, श्रुतयो विभिन्ना।

शास्त्रों में बहुत से विकल्प, और परस्पर विवाद, विरोध, खडनमंडन, देख पड़ते हैं। नवीनधर्म के परिकल्पन के उपाय के विषय में जो शंका उठती है उनकी चर्चा अभी ही की। कौन सच्चे विद्वान्, ज्ञानी, तपस्वी, धर्मकाम हैं, जिन पर विश्वास किया जाय, इसी का निर्णय कैसे हो। महाजनसमूह भी प्राय वाद विवाद के अनन्तर किसी नेता के दिखाये पथ पर ही चल पड़ता है, उसको भी और उसके नायक को भी पथ निर्णय मे किसी हेतु को देखना ही पड़ता है, उस हेतु के उचिता-नुचित भाव का निर्णय कैसे हो। इन शकाओं का समाधान, इन अनत विकल्पों का समन्वय, कैसे हो?

आत्मज्ञान की आवश्यकता।

इसका अन्तिम रहस्य, इसकी परमोपनिषत, अभी बाकी ही है। ज्ञानकाण्ड के बिना कर्मकाण्ड भी ठीक ठीक नहीं सधता। यह मनु ने फिर फिर कहा है।

ध्यानिक सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

(मनु)

अर्थात्—'एतत्' 'इदम्' 'यह' शब्द से जो कुछ कहा जाता है यह सब 'ध्यानिक' है, परमात्मा का ध्यानमात्र है, सारा दृश्य जगत् आत्मा के ध्यान से ही कल्पित है। इसलिये अध्यात्मविद्या, आत्मसंबंधी ज्ञान, जिसको नहीं है वह कोई क्रिया ठीक नहीं करेगा, न किसी क्रिया से सत्फल पावेगा। क्योंकि उसको सद्-उद्देश्यों का ज्ञान नहीं, सच्चे पुरुषार्थों का ज्ञान नहीं, उनकी प्राप्ति के प्रकारों का ज्ञान नहीं, और वह शक्तियों का सत् प्रयोग नहीं कर सकता। सेनापति का काम, राजा का काम, दण्डनेता न्यायाधीश प्राड्विवाक का काम, अब कि, सर्व संसार के अधिपति का काम भी, करने के योग्य वही है जो अध्यात्मशास्त्र को अच्छी रीति से जानता है। जो सब भूतों में, जीवों में, पदार्थों में, आत्मा को, "मैं" को, चेतना को, और आत्मा में, मैं में, सब को देखता है, और तदनुसार समान

रूप से आत्मा का यत्न करता है, सब के साथ यथोचित नीति-युक्त, धर्मयुक्त, व्यवहार करता है, वही स्वराट् की अवस्था को, स्वाराज्य को, आत्मवशता को, स्वाधीनता को, पाता है

छांदोग्य में भी यही कहा है—

"आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराड् भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्य-लोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।"

(छांदोग्य उपनिषत्)

अर्थात्—आत्मा ही, "मैं" ही, यह सब कुछ है, क्योंकि विना "मैं" की चेतना के, विना देखने वाले के, यह सब दृश्य कुछ भी हो ही नहीं सकता है—ऐसा जो देखता है, मानता है, जानता है, आत्मा में ही सुख पाता है, आत्मा से ही खेलता है, आत्मा को साथी बनाता है, आत्मा से ही आनंद पाता है, वही स्वराट्, अपना राजा, आत्मवश, स्वाधीन, स्वतंत्र होता है। जो इसके विरुद्ध देखते हैं, "मैं" के बड़प्पन को नहीं पहिचानते, आत्मा से, "मैं" से, अतिरिक्त किसी दूसरे को बड़ा समझते हैं, उनके ऊपर दूसरे ही राजा होते हैं, उनके लोक, उनकी सामग्री, पराधीन और क्षीयमाण होती है, किसी लोक में, किसी देश में, इसी भूर्लोक के विविध खंडों में, तथा भुवः स्वः आदि अन्य लोकों में, वे मनमाने, आदर से, सम्मान से, नहीं घूम फिर सकते।

उसी से स्वराज्य का संभव।

स्वराट् का भाव स्वराज्य। यह किसी को धोखा न हो कि

स्वराज्य की चर्चा केवल "फ़लसफी" की बात है, ख्याली पुलाव है, मनोराज्य है, उससे इस दुनिया के काम काज से, कोई वास्ता नहीं। ऐसा किसी को धोखा न हो, इस वास्ते मनु ने स्पष्ट कहा कि अध्यात्मशास्त्र को जो नहीं जानता उसकी सब क्रिया निष्फल होती है, और जो जीव वेदशास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र को जानता है वही सैनापत्य, दण्डनेतृत्व आदि सब लोकव्यवहार के काम को ठीक ठीक कर सकता है।

इतिहास से इसकी पुष्टि।

सेनापतित्व से और अध्यात्मशास्त्र से क्या सम्बन्ध, ऐसी किसी को शंका हो सकती है, तो,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति॥

वेद का उपबृंहण, विस्तार, व्याख्यान, संसार में इतिहास पुराण की सहायता से करना चाहिये। वेद का ठीक अर्थ करने के बहुत ज्ञान की आवश्यकता है। अल्प ज्ञान वाले से वेद बहुत डरता है कि यह मेरे अर्थ का अनर्थ करेगा, मेरे मन्त्रार्थ को धोखे में डालेगा, और झूठा मार्ग करके लोक को ठगेगा।

इस न्याय का अनुसरण करके मनु के श्लोक का उपबृंहण महाभारत के इतिहास में अन्तर्गत भगवद्गीता के उपाख्यान में कीजिये। पांडवों की सेना के मुख्य सेनापति अर्जुन नियुक्त किये गये थे, और वे ही, युद्धारम्भ के समय में ही सब सेना को छोड़कर भाग जाना चाहते थे। अध्यात्मशास्त्र से जब उनकी विषाद-ग्रस्त बुद्धि का उद्बोधन हुआ तभी सेनापति के काम के

योग्य हुए। नहीं तो यही न कहा जाता कि कहाँ तो लाठी सोंटे की तयारी कहाँ वेदान्त सूझना ?

इस वास्ते गीता में कहा है,

"अध्यात्मविद्या विद्यानां वाद प्रवदतामहम् ॥"

तथा उपनिषदों में,

स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।

(मुंडक)

अर्थात, सब विद्याओं में से अध्यात्मविद्या मैं (आत्मा, श्रेष्ठ) हूँ। सब विद्याओं की प्रतिष्ठा, नींव, मूल, ब्रह्मविद्या है। राजनीति शास्त्रों मे भो, जो प्रत्यक्ष ही व्यवहार के शास्त्र हैं, यही कहा है। राजा को, प्रबन्धकर्त्ता को, शास्ता को, चार विद्या जाननी चाहिये,

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ॥

अर्थात दर्शनशास्त्र, जिससे आत्मा के स्वरूप का ईक्षण हो, तथा त्रयी वेद जिससे धर्म अधर्म का ज्ञान हो, तथा वार्ता शास्त्र जिससे अर्थ और अनर्थ, धन और दरिद्रता के हेतु, कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य का पोषण और तिरस्करण आदि, तथा दण्डनीति।

उसमें आन्वीक्षिकी सबसे पहिले है,

आश्रय सर्वधर्माणामुपाय' सर्वकर्मणाम् ।

प्रदीप सर्वविद्याना विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

(न्याय भाष्य)

यह विद्या सब धर्मों की आश्रय, सब कर्मों की उपाय, सब अन्य विद्याओं के लिये दीपक है, क्योंकि,

आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदुःखयोः ।
ईक्षमाणस्तया तत्त्व हर्षशोकौ व्युदस्यति ॥

विना इस विद्या के, संसार का और संसार के व्यवहार का, तथा अन्य शास्त्रों के विरोधपरिहारपूर्वक उपयोगिता के तारतम्य का और बलाबल का, तत्व ठीक नहीं समझ में आता, और उस व्यवहार को ठीक चलाते नहीं बनता । सुख दुःख ही सब व्यवहार के हेतु हैं । उनका सच्चा स्वरूप जानना परमावश्यक है । उसका निरीक्षण परीक्षण करती है और तत्त्व को, आत्मा के स्वरूप को बताकर, जीव का सुख और दुःख दोनों के पार तार देती है, और शांत और स्थिर चित्त से सब व्यवहार करने की शक्ति देती है, इसीसे इसका नाम आन्वीक्षिकी है ।

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ (मनु)

अर्थात, जो निष्काम है वह निष्क्रिय है, कामरहित जीव की कोई क्रिया देखने में नहीं आती । वेद का पढ़ना पढ़ाना और वैदिक कर्म—सब ही काम से प्रेरित है ।

सुख दुःख का साक्षात् सम्बन्ध काम क्रोध से है । सुखानुशयी राग, दुःखानुशयी द्वेष । सुख के पीछे राग चलता है, दुःख के पीछे द्वेष । इन राग द्वेष काम क्रोध के उचित प्रयोग से व्यवहार बनता है, अनुचित से बिगड़ता है,

धर्माविरुद्धो भूतानां कामोऽस्मि भरतर्षभ । (गीता)

अर्थात्, धर्म से अविरुद्ध काम मो मैं ही हूँ ।

और,

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
(मनु) इत्यादि ।

अर्थात् कामात्मा, काममय, काम के वशीभूत होजाना तो अच्छा नहीं, पर सर्वथा काम रहित होना भी इस लोक में सम्भव नहीं। और इस काम क्रोध का नियमन, नियन्त्रण, आत्मदमन, आत्मनिग्रह, विना आत्मज्ञान के ठीक ठीक नहीं बनता। ऐसे आत्मज्ञान और आत्मनिग्रह के विना कलह अनन्त होते हैं। किसी बात पर निर्णय निश्चय नहीं होता। परस्पर विश्वास नहीं पैदा होता। पदे पदे विवाद होते हैं। आदमी आदमी का साथ नहीं निभता। कोई भी "आर्गेनिजेशन", समग्रथन, व्यूहन, नहीं होने पाता, अथवा यदि उसका आभास मिथ्या कारणों से हो भी जाता है तो सच्ची सूत्रात्मा के अभाव स थोडे ही समय में भग हो जाता है।

इन हेतुओं से भारतवर्ष में इस अध्यात्म शास्त्र को प्रथम स्थान दिया है, और सासारिक व्यवहार का परमोपकारी कहा है। दूसरे देशों में इसको प्राय ठाले समय का खेल समझा है, यद्यपि वहा भी विचारशील, शातप्रकृति, लोकहितैषी, अक्षुद्र और अनुद्दंड वृद्ध, "स्पिरिचुएलिटी" अर्थात अध्यात्मभाव को ही, स्थिर सासारिक अभ्युदय का हेतु समझते हैं। यह एक भारी विशेष दूसरे देशों से इस देश की प्राचीन सभ्यता का है। इसी विशेष के कारण इस प्राचीन शालीनता मे इतना "सामान्य", सत्तासामान्य, इतनी व्यापकता है, कि यह सर्वलोकसग्राहक, सर्वविरोधपरिहारक, सर्वसमन्वय करनेवाली रही, और फिर भी हो सकती है, यदि हम लोगों से इसका समुचित पुनरुज्जीवन करते बन पडे।

छांदोग्य में कहा है, श्वेतकेतु बारह वर्ष की उमर से चौबीस वर्ष की उमर तक गुरुकुल में रहकर बहुतसी विद्या सीखकर अपने पिता आरुणि उद्दालक के पास अपने को बड़ा पंडित समझते हुए वापस आये।

सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय।

आज काल के पश्चिम के शब्द में "इलेट्, स्वेल्ड् हेड्, नो-आल, स्टिफ् विथ् प्राइड्" कहेंगे। यौवन में शरीर में बल का, बुद्धि में स्फूर्ति का, विकास होना, और इस हेतु से किंचित् अहंकार की भी वृद्धि होना, स्वाभाविक ही है। श्वेतकेतु का कोई दोष नहीं। पर पिता का भी कर्तव्य था कि परमावश्यक परिशिष्ट शिक्षा दे। इसलिये उन्होंने पुत्र से पूछा, सब तो आपने पढ़ा, पर वह जाना या नहीं जिस एक के जानने से और सब वस्तु जानी जाती हैं ? पुत्र ने कहा नहीं। तब पिता ने उनको आत्मा का उपदेश किया, जिससे सच्चा स्वाराज्य सिद्ध होता है। अन्य सब कुछ जाना, पर जानने वाले ही को न जाना, अपने ही को न जाना, तो क्या जाना ? इसामसीह ने भी कहा है, सब कुछ पावे और अपने को खो दे, तो क्या पाया ?

ऐसे ही नारद सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने पूछा क्या पढ़ा ? कहा,

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं
चतुर्थं, इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं। इत्यादि,
(छांदोग्य)

चारों वेद और इतिहास पुराण रूपी पंचम वेद सब मैंने पढ़ा, पर मैंने आत्मा को नहीं जाना, केवल वाग्विन्यास को जाना,

और आप ऐसे वृद्धों से सुना है कि "तरति शोकमात्मवित्",
जो आत्मा को जानता है वह शोक के पार तर जाता है, सो
आत्मा को आप मुझे बताइये। तब सनत्कुमार ने उपदेश
किया। इस प्रकार की कथा पुन पुन उपनिषदों और पुराणों में
कही है। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से, नचिकेता ने यम से, राम ने
वसिष्ठ से, ऐसे ही प्रश्न किये। रानी मदालसा ने अपने पुत्र
राजा अलर्क को यही समझाया। क्योंकि और सब ज्ञानों की भी
प्रतिष्ठा नहीं होती, नींव नहीं बधती, उनका परस्पर सबध, उनका
परस्पर बलाबल, उनका यथास्थान उपयोग, उनका हृदय, उनका
मूल तत्व, उनका मर्म्म, समझ में नहीं आता, जबतक यह
आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा के ही लिये तो, मेरे ही लिये
तो, सब शास्त्र हैं, मैं तो शास्त्रों के लिये नहीं। फिर जब मैं
को न जाना तो शास्त्रों को जान के क्या होगा?

जिसने अपने को नहीं जाना कि मनुष्य क्या वस्तु है, जीना
मरना, सुख दु ख, काम क्रोध, हर्ष शोक, क्या चीज है, जिसने
यह नहीं जाना कि हम क्या हैं, कहाँ से आये, किसलिये आये,
कहाँ जायेंगे, जीने का क्या फल है, मेरा और दूसरे जीवों का
क्या सम्बन्ध है, परस्पर क्या कर्तव्य है, पुरुष क्या है, पुरुषार्थ
क्या है—जिसने अपने को ही नहीं पहचाना वह दूसरों को
क्या जानेगा? जिसने अपना रास्ता ठीक नहीं समझा वह
दूसरों को कैसे ठीक रास्ते पर चला सकता है? जीवन का
अर्थ ही जिसको नहीं मालूम वह दूसरों की जिंदगी को कैसे
सुधार सकेगा? वह क्या गृहराज्य का, क्या देशराज्य का,
क्या परराज्य का, क्या स्वराज्य का प्रबन्ध करेगा? मनुष्यों के

छांदोग्य में कहा है, श्वेतकेतु बारह वर्ष की उमर से चौबीस वर्ष की उमर तक गुरुकुल में रहकर बहुतसी विद्या सीखकर अपने पिता आरुणि उद्दालक के पास अपने को महा पंडित समझते हुए वापस आये।

सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय।

आज काल के पश्चिम के शब्द में "इलेट्, स्वेल्ड् हेडेड्, नो-आल, स्टिफ् विथ् प्राइड्" कहेंगे। यौवन में शरीर में बल का, बुद्धि में स्फूर्ति का, विकास होना, और इस हेतु से किंचित् अहंकार की भी वृद्धि होना, स्वाभाविक ही है। श्वेतकेतु का कोई दोष नहीं। पर पिता का भी कर्तव्य था कि परमावश्यक परि-शिष्ट शिक्षा दे। इसलिये उन्होंने पुत्र से पूछा, सब तो आपने पढ़ा, पर वह जाना या नहीं जिस एक के जानने से और सब वस्तु जानी जाती है? पुत्र ने कहा नहीं। तब पिता ने उनको आत्मा का उपदेश किया, जिससे सद्यः स्वाराज्य सिद्ध होता है। अन्य सब कुछ जाना, पर जानने वाले ही को न जाना, अपने ही को न जाना, सो क्या जाना? ईसामसीह ने भी कहा है, सब कुछ पावे और अपने को खो दे, तो क्या पाया?

ऐसे ही नारद सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने पूछा क्या पढ़ा? कहा,

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं
चतुर्थं, इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं। इत्यादि,
(छांदोग्य)

चारों वेद और इतिहास पुराण रूपी पंचम वेद सब मैंने पढ़ा, पर मैंने आत्मा को नहीं जाना, केवल वाग्विलास को जाना,

और आप ऐसे वृद्धों से सुना है कि "तरति शोकमात्मवित्", जो आत्मा को जानता है वह शोक के पार तर जाता है, सो आत्मा को आप मुझे बताइये। तब सनत्कुमार ने उपदेश किया। इस प्रकार की कथा पुन पुन उपनिषदों और पुराणों में कही है। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से, नचिकेता ने यम से, राम ने वसिष्ठ से, ऐसे ही प्रश्न किये। रानी मदालसा ने अपने पुत्र राजा अलर्क को यही समझाया। क्योंकि और सब ज्ञानों की भी प्रतिष्ठा नहीं होती, नींव नहीं बधती, उनका परस्पर सबध, उनका परस्पर बलाबल, उनका यथास्थान उपयोग, उनका हृदय, उनका मूल तत्व, उनका मर्म्म, समझ में नहीं आता, जबतक यह आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा के ही लिये तो, मेरे ही लिये तो, सब शास्त्र हैं, मैं तो शास्त्रों के लिये नहीं। फिर जब मैं को न जाना तो शास्त्रों को जान के क्या होगा ?

जिसने अपने को नहीं जाना कि मनुष्य क्या वस्तु है, जीना मरना, सुख दु ख, काम क्रोध, हर्ष शोक, क्या चीज है, जिसने यह नहीं जाना कि हम क्या हैं, कहाँ से आये, किसलिये आये, कहाँ जायँगे, जीने का क्या फल है, मेरा और दूसरे जीवों का क्या सम्बन्ध है, परस्पर क्या कर्तव्य है, पुरुष क्या है, पुरुषार्थ क्या है—जिसने अपने को ही नहीं पहचाना वह दूसरों को क्या जानेगा ? जिसने अपना रास्ता ठीक नहीं समझा वह दूसरों को कैसे ठीक रास्ते पर चला सकता है ? जीवन का अर्थ ही जिसको नहीं मालूम वह दूसरों की जिंदगी को कैसे सुधार सकेगा ? वह क्या गृहराज्य का, क्या देशराज्य का, क्या परराज्य का, क्या स्वराज्य का प्रबन्ध करेगा ? मनुष्यों के

काम काज जीवन,मरण का प्रबन्ध करने के लिये तो मनुष्यों की प्रकृति और मनुष्यों के पुरुष अर्थात् अन्तरात्मा का ज्ञान होना चाहिये न ? फिर जिसको यह ज्ञान नहीं, जिसको अध्यात्म विद्या नहीं, वह कैसे एक छोटी गिरस्ती का अथवा एक बड़े राज का काज ठीक चला सकता है ? 'स्व' किसको कहते हैं यही जिसको मालूम नहीं, 'राज' का क्या सच्चा अर्थ और स्वरूप है इसका जिसको ज्ञान नहीं, वह 'स्वराज' 'स्वराज' पुकार कर काम बनायेगा नहीं किन्तु अधिक बिगाड़ेगा ही।

इसलिये इस देश की प्राचीन शिष्टता में आत्मज्ञान का बहुत प्रचार रहा। और कुछ लोगों का यह विश्वास है कि इसी बचे खुचे आत्मज्ञान के बल से ही यह शिष्टता, एक ओर दम्भ और दूसरे ओर अंध श्रद्धा और मूढ़ता से नितांत जर्जर होकर भी, अबतक यथा-कथञ्चित् जीवित है। क्योंकि इसमें उस आध्यात्मशास्त्र की लोक-संग्रह करनेवाली, सच्चे "को आपरेशन" अर्थात् सहयोग, सहकारिता, "संभूयसमुत्थान" की, शक्ति है, और जहाँ इस शास्त्र की छाया नहीं है वहाँ लोकविग्रह की, अन्धाधुंध "काम्पिटिशन्" और प्रतिद्वंद्विता, प्रतिस्पर्धा, परस्पर समर्द, संघर्ष, और द्रोह की ही शक्ति अधिक होती है।

शंका-समाधान।

कुछ लोगों को ऐसी शंका यहाँ हो सकती है कि मनुष्य के चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके साधन चार शास्त्र हैं, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्ष-शास्त्र। तीन अर्थ और तीन शास्त्र सांसारिक व्यावहारिक

अभ्युदय सम्बन्धी हैं। चौथा अर्थ और शास्त्र तो संसारत्याग सम्बन्धी है, इसका अनुशीलन परिशीलन चौथेपन मे, सन्यासावस्था मे ही होना चाहिये। अध्यात्मविद्या, आत्मज्ञान, मोक्षशास्त्र का ब्रह्मचर्यावस्था ही मे कैसे सम्भव होसकता है ?

इसका समाधान यह है कि विदेह मोक्ष के साक्षात् साधन के उपाय संन्यासावस्था में भ ही वरतना चाहिये। पर मोक्षशास्त्र अर्थात अध्यात्मशास्त्र वा ब्रह्मविद्या के मूलतत्व तो अन्य शास्त्रों के अनतर प्रथमावस्था में ही यथासम्भव जान लना चाहिये। अभी जो उपनिषदों और पुराणों की कथा कही उनमें इस ज्ञान के प्रष्टाओं और श्रोताओं का वयस् नवीन ही है, वृद्ध नहीं। उपदेष्टा अवश्य वृद्ध हैं।

प्रत्युत मन्वादि में यह सूचना है कि यदि इस ओर प्रथम-वयस् मे यत्न न किया जाय तो पीछे इस ज्ञान का मिलना कठिन हो जाता है। इस प्रत्यक्चेतना के अधिगम को, अपने मन में क्या विकार हो रहे हैं उनकी जाच करने की इस शक्ति के लाभ को, ही द्वितीय जन्म कहते हैं। और यह गायत्रीमत्र के श्रवण, और उसके अर्थ का ध्यान, आवाहन, मनन, निदिध्यासन, करने से होता है। इसी से गायत्री को ही सावित्री अर्थात् ज माने वाली, नया जन्म देने वाली कहते हैं। और भी कारण इस नाम के हैं, पर यह एक मुख्य हेतु है।

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबंधनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ (मनु)

जैसे शरीर की व्यवस्था है वैसे ही बुद्धि की। जो फुर्ती के काम, घुड़सवारी, तैरना, निशानावाजी, मल्लविद्या, नट की कसरत, प्राणायाम, योगासन, योगमुद्रा, छोटी उमर में आरम्भ कर ली जाती हैं, ये ही पीछे अच्छी तरह मनुष्य को आती हैं। शरीर के लोच की अवस्था बीत जाने के बाद फिर उनका सीखना कठिन हो जाता है। वैसे ही अन्तर्मुख प्रत्यक्चेतन, होकर विचार करने की शक्ति यदि क्रमश कोमल उपायों से बाल्यकाल और यौवनावस्था में न जगायी जाय, तो पीछे, उमर बढ़ जाने पर और बहिर्मुखवृत्ति दृढ़ हो जाने पर, वह अन्तर्मुखवृत्ति मिलना, यह प्रत्यक् चेतना का अधिगम, दुष्कर हो जाता है। और जिसकी ज्ञानग्राहिणी बुद्धि अधिक तीक्ष्ण होगी उसकी यह शक्ति जल्दी लुप्त भी हो जायगी। प्रसिद्ध है कि तीव्र बुद्धिवाले बालकों और युवाओं के बिगड़ जाने का समय भी अधिक होता है। शक्ति यदि अपने उचित काम में न लगायी जायगी तो अकर्मक्रस् और निश्चल तो रहेगी नहीं, किसी अनुचित ओर लग जायगी। इसलिये जिस ब्रह्मचारी में सत्व की मात्रा अधिक है, जो ज्ञानप्रधान जीव है, जो इस हेतु ब्राह्मण कहलाता है, जिसका सम्बन्ध शब्दब्रह्म से और परब्रह्म से अधिक निकट है, उस युवा का सस्कार देर से देर सोलहवें वर्ष के पहिले हो जाना चाहिये, नहीं तो बिगड़कर "ब्रह्मराक्षस", "ब्रह्मपिशाच" आदि हो जाने का भय है। एव रज प्रधान क्रियाशील क्षत्रियप्रकृति के युवा का बाईसवें वर्ष के पहिले, एव जो तम प्रधान द्रव्यसंग्रहेच्छाशील ईहार्थी वैश्य-प्रकृतिक युवा है उसका चौबीसवें वर्ष के पहिले। जो अनुद्बुद्ध-

बुद्धि हैं, जिनमें इन तीनों में से किसी एक गुण के विशेष अभिव्यञ्जन का इस जन्म मे सम्भव नहीं है, और इस कारण "शुचा द्रवतीति" शूद्र कहलाते हैं, थोड़ी बात पर भी बहुत भय और शोक में, क्षोभ में, पड़ जाते हैं, उनके लिये यह सस्कार असम्भव है, और इसी वास्ते "न शूद्रे पातक किंचित्" कहा है।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

अर्थात्, जो मूढ हैं, मोहग्रस्त हैं, उनके मन में दिन दिन सहस्रों शोक और सैकड़ों भय पैठा करते हैं, वे ही शूद्र कहलाने के योग्य हैं, जो आत्मज्ञ हैं, आत्मवान् हैं, सद्सद्विवेक्नि बुद्धि पंडा वाले पडित हैं, धीर हैं, गभीर हैं, उनको ऐसे क्षोभ नहीं होते। पातक का अर्थ वह काम जो करनेवाले को मानमर्यादा से नीचे पतन करावे, गिरावे। बाल्बुद्धि शूद्र को मानमर्यादा नहीं, पातक नहीं, उसका दड शिक्षारूप है।

ऐसे हेतुओं से आत्मविद्या का बीजारोपण प्रथमावस्था ही में कर देना आवश्यक समझा जाता था। और सारे देश में सच्चे ब्रह्मवित् मनुष्यों की संख्या इतनी पर्याप्त रखी जाती थी कि उनके शान्तिसाधक विरोधबाधक प्रभाव से लोकसंग्रह का भाव सदा अधिक मात्रा से समाज मे बना रहता था।

यदि इसमें फिर भी सन्देह बाकी रहे कि यह अध्यात्मज्ञान प्रथमावस्था के अनुरूप नहीं है तो मनु के इस श्लोक पर ध्यान करना चाहिये।

उपनीय गुरु शिष्य शिक्षयेच्छौचमादित।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च॥ (मनु)

में अवश्य परिश्रम करना होगा। तो आपको यह विदित रहना चाहिये कि ज्ञान का, वेद का, जो अन्तिम चरम और परम भाग वेदान्त अर्थात् आत्मविद्या है, उससे कैसे लोकसंग्रह में सहायता मिलती है।

प्राय: दस बारह वर्ष हुए एक अखबार ने यह प्रश्न निकाला था कि हिन्दू किसको कहते हैं, हिन्दुत्व का क्या विशेषक व्यावर्तक लक्षण है, किस आचार विचार वाले मनुष्य को हिन्दू कहना चाहिये। और इस प्रश्न को बहुत से जाने माने हिन्दुओं के पास भेजकर उत्तर मँगवाये और उनको छापा। कोई एक भी अव्यभिचारी विशेषक व्यावर्तक व्यापक आचार या विचार नहीं ही स्थिर हुआ। जो अपने को हिन्दू कहे वही हिन्दू, इतना ही सिद्ध हुआ।

जो लोग इस दशा को केवल दोषज्ञ दृष्टि से जानते हैं वे तो इसको दुर्दशा समझते हैं। जो केवल गुणज्ञ दृष्टि से देखते हैं वे इसको सुदशा जानते हैं। जो उभय दृष्टि से देखते हैं वे विवेक करना चाहते हैं कि इसमें कितना अंश सुदशा का है और कितना अंश दुर्दशा का है।

निष्कर्ष यह है कि जैसे मनुष्य के शरीर में बहुत विभिन्न कर्म, धर्म, रूप, आकार के अवयव हैं, पर जब तक जीवात्मा उन सबका संग्रह किये रहता है, तब तक वे सब अत्यंत भिन्न होते हुए भी मिलकर एक ही शरीर कहलाते हैं। पर जब यह सूत्रात्मा हट जाता है तब उनके आपस में तरह तरह के विकार और विरोध पैदा हो जाते हैं, और शरीर मृत होकर उसकी एकता नष्ट हो जाती है, और सब

अवयव छिन्न भिन्न हो जाते हैं, और सड़गल जाते हैं। जैसे माला के दाने सूत्र से बँन्धे रहते हैं, और शोभा देते हैं, पर उसके टूटने पर बिखर जाते हैं। वैसा ही आत्मवत्ता का बुद्धिमत्ता का, आत्मज्ञ बुद्धि का, और विविध आचार विचारों का है। जब तक आत्मज्ञान और आत्मज्ञानवान् जन विविध आचार विचारों को और विविध-आचार-विचारवान् जनों को, अपने साथ, और एक दूसरे के साथ, बांधे रहते हैं, तब तक वे सब एक एक अपनी हद के अन्दर अपना अपना कर्म धर्म करते रहते हैं, और समाज शरीर के शोभा सौंदर्य बल आदि की वृद्धि होती रहती है। पर जब ऐसा नहीं होता तब वे एक दूसरे से कलह करके मर मिटते हैं।

इसी लिये मनु ने कहा है,

सर्वेषामपि चैतेपामात्मज्ञान परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

अर्थात्, सब कर्मों, धर्मों, ज्ञानों से अधिक अत्यंत श्रेयस्कर आत्मज्ञान है, क्योंकि अमरत्व उसी से मिलता है।

आत्मा ही में तो सब कुछ है, इसलिये आत्मज्ञान ही से, सब भिन्न अथवा विरुद्ध भी व्यक्तियों और धर्मों और वस्तुओं का, समन्वय हो सकता है। इसी का अनुवाद याज्ञवल्क्य ने भी किया है,

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

अर्थात्, यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि सब कर्मों का अन्तिम लक्ष्य, सबसे बड़ा धर्म यह है कि योग करके आत्मा को देखै पहिचानै।

ऐसे आत्मज्ञानवान् मनुष्य को यह समझ हो जाती है कि कौन आदमी किस काम के योग्य है, और यह सबका यथा स्थान प्रयोग करके सबसे यथोचित काम ले सक्ता है। जैसा मत्स्य पुराण में कहा है,

नामन्त्रमक्षरं किंचिन्न च द्रव्यमनौषधम्।
नायोग्य पुरुष कश्चित् प्रयोक्तैव तु दुर्लभ ॥

अर्थात, कोई अक्षर नहीं जिसमें कोई विशेष मंत्रशक्ति नहीं, कोई द्रव्य नहीं जिसमें विशेष औषधशक्ति नहीं, कोई पुरुष नहीं जो सर्वथा अयोग्य ही हो। पर उसकी विशेष शक्ति और योग्यता को पहिचान कर काम लेने वाला ही दुर्लभ है।

इस आत्मज्ञान पर प्रतिष्ठित सनातन, बौद्ध, आर्य, वैदिक, मानव धर्म ने जो लोकसंग्रह किया है उसके कुछ नमूने देखिये।

समन्वय का मुख्य उपाय।

विचार के विषय में, यह प्रसिद्ध है कि सब प्रकार के आस्तिक दर्शन और सब प्रकार के नास्तिक दर्शन इस वेदवेदाग रूपी ज्ञानसागर में मग्न हैं। जब यह सिद्धात है कि परमात्मा की, परमेश्वर की, चेतना में, उसीकी इच्छा से, सब कुछ है, तो इन विविध विचारों को भी उसीने जगत् में स्थान दिया है, यह भी निश्चयेन होगा।

मन्म सर्वमायुस्य तिष्ठति।

ब्रह्मैव सर्वाणि नामानि सर्वाणि रूपाणि सर्वाणि कर्माणिविभर्त्ति ।
सोऽयमात्मा सर्वानुभू । (उपनिषत्)

अर्थात् सब पदार्थों को घेर कर, लपेट कर, ब्रह्म बैठा है। सब नाम, सब काम, सब रूप, उसी एक ब्रह्म के, ही के, "मैं" हैं। वह यह आत्मा "मैं" सब अनुभवों का अनुभव करने वाला है। (मुसलमानों के क़ुरान में भी ठीक यही बातें कही हैं, 'अल्लाहो विकुल्ले शयीन् मुहीत्" "लाहुल् अस्मा उल् हुसना," "वसेआ रब्बीना कुल्ले शयीन् इल्मा।")

पुराणों में भी कहा है,

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व ।
अद्वृत्स्याननुभूतोऽर्थो न मन स्प्रष्टुमर्हति ।
(भागवत)

सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रय ।
द्वंद्वमयोऽय ससार । इत्यादि ।

तो इन विरुद्ध धर्मों और विचारों का समन्वय कैसे हो? इस समन्वय के मूल सूत्र रूप ये वाक्य हैं,

अधिकारिभेदाद् धर्मभेद ।
देशकालनिमित्तानाम् भेदैर्धर्मो विभिद्यते ।
प्रस्थानभेदाद्दर्शनभेद ।
स एव धर्म सोऽधर्मस्त त प्रति नर भवेत् ।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च॥
(म० भा०, शांति, अ० ३१४)

न धर्म परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ।
अन्यो धर्म समस्थस्य विषमस्थस्य चापर ॥

(म० भा० शा० अ० २६६)

यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते
स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति ॥

(शांकर-शारीरक भाष्य, ३ १ २५)

अर्थात्, अधिकारी के भेद से धर्म में भेद होता है। देश, काल, निमित्त के भेद से धर्म में भेद होता है। जिस स्थान पर खड़े होकर देखते हैं उस स्थान के बदलने से दर्शन, अर्थात् दृश्य का रूप, बदल जाता है। जो ही एक देश काल पात्र निमित्त और कर्म के विशेष से एक आदमी के लिये धर्म है वही दूसरे आदमी के लिये दूसरे देश काल पात्रता निमित्त और कर्म के विशेष से अधर्म होता है। केवल एक दो ग्रंथ पढ़ लेने से धर्म का पता नहीं लगता, अच्छी अवस्था का धर्म दूसरा और विषम अवस्था का धर्म दूसरा होता है।

उपासनाओं का समन्वय।

बच्चों को मिट्टी का खिलौना ही अच्छा लगेगा। उनको रेखागणित और बीजगणित पढ़ाने का यत्न करना व्यर्थ है।

यही दशा मतों की, सम्प्रदायों की, पन्थों की है। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।" 'भिन्नरुचिर्हि लोकः।" इत्यादि।

जब बचपन बीत जायगा तब मिट्टी के खिलौने आप ही छूट जायँगे, और दूसरे प्रकार के खिलौनों में मन लग जायगा।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम्।
बालानां काष्ठलोष्टेषु बुधस्यात्मनि देवता ॥
उत्तमा सहजावस्था द्वितीया ध्यानधारणा।
तृतीया प्रतिमापूजा होम यात्रा चतुर्थिका ॥इत्यादि।

अर्थात्, बालकों के देवता काठ पत्थर में, साधारण मनुष्यों के जल में, मनीषी विद्वानों के आकाश में हैं। बुध का, बोधवाले का, ज्ञानवान् का देव आत्मा ही है। सहज अवस्था, अर्थात् सम दृश्य ससार को ही परमात्मा का स्वरूप जानना, यह उत्तम कोटि है। विशेष विशेष ध्यान धारणा करना, यह उससे नीची दूसरी कोटि है। प्रतिमाओं की पूजा तीसरी कोटि है। होम और यात्रा चौथी है।

बालबुद्धि जीव, जिनकी बुद्धि सर्वथा बहिर्मुख है, जो इन्द्रियग्राह्य आकार ही का ग्रहण कर सकते हैं, वे अपने मन का सन्तोष काष्ठ लोष्ठ की प्रतिमा से ही करें। यह बहिर्मुख माया-रोग मनुष्य का ऐसा बढ़ा हुआ है कि मुसल्मान धर्म में भी, यद्यपि वह अपने को बड़ा भारी बुत्शिकन् यानी मूर्ति तोड़ने वाला कहता है, लोग देवालयों को तोड़कर मक़बरे और क़ब्र बनाते और पूजते हैं। किसी उर्दू शायर ने ही कहा है "जिंद-गाहें तोड़ करके मुर्दगाहें भर दिया"। इसी बहिर्मुख माया का वर्णन उपनिषदों ने किया है।

पराचि खानि व्यतृणत् स्वयभू
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्ष
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (कठोपनिषत्)

अर्थात्, स्वयंभू ने, ब्रह्मा (सृष्ट्युन्मुख रज प्रधान महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, ने) सब इद्रियों को, छिद्रों को, बाहर की ओर खोला, छेद कर के निकाला। इस लिये जीव बाहर की वस्तु देखता है, भीतर अपने को नहीं देखता। कोई कोई धीर विरक्त

जीव, ससार की दौड़ धूप आयागमन और मृत्यु से थक कर, विश्राम और अमरत्व को चाह कर, आस भीतर फेरता है और प्रत्यगात्मा को टेरता है ।

पर, हां, उन बालकों के जो रखवारे वृद्ध बुजुर्ग हैं, उनको यह फिक्र रखनी चाहिये कि बीच बीच में मिट्टी के खिलौनों के खेल के साथ साथ कुछ अक्षरज्ञान भी दिलाते जायँ, कुछ पुस्तकों का शौक पैदा कराने का यत्न भी करते रहें। यह न चाहें कि लड़के सदा खिलौनों में ही खुश रहें, मूर्ख बने रहें, पोथी पत्रा कभी न छुएं, और हम उनको हमेशा बेवकूफ रखकर अपना गुलाम बनाये रहें।

और भी, यदि ये वृद्ध सात्विक बुद्धिवाल और लोकहितैषी हों तो इस खिलौनापूजा को भी बहुत शिक्षाप्रद, उत्तमसात्विकभाववर्द्धक, कलावर्द्धक, शिल्पवर्द्धक, शास्त्रप्रवर्त्तक बना सकते हैं। सुन्दर मन्दिरों से ग्राम की, नगर की, शोभा सौंदर्य बढ़ा सकते हैं, और उनसे पाठशाला, चिकित्सालय, पुष्पवाटिका, उद्यान, चित्रशाला, संगीतादिविविधकलागृह, सार्वजनिक सभामंडप, सम्मेलनस्थान व्याख्यानशाला, आदि का काम ले सकते हैं। योग साधनादि में भी ये मन्दिर सीढ़ी का काम दे सकते हैं। क्योंकि

तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ।

अर्थात् ध्यान धारणा प्राय किसी मूर्त्त विषय के बिना नहीं सधती।

और भी तरह तरह के उत्तम वैज्ञानिकशास्त्रानुकूल, आधिदैविक शास्त्रसम्मत आधिभौतिकशास्त्रसम्मत, काम लिये जा सकते हैं।

पर जब उनके रखवारे अपने कर्तव्यपालन में चूके, स्वयं शास्त्रों से विमुख, सभी विद्या से शून्य, दुष्ट वासनाओं में मग्न हो गये और मन्दिरों को अपनी निजी जायदाद और दूकान बना डाला, तथा सरलहृदय उपासकों की बुद्धि को दिन दिन अधिकाधिक मूढ और कुण्ठित करने लगे, और झाड़ फूक, टोना टोटका, जन्तर मन्तर, "भभूत" (विभूति-भस्म), फूंके थूंके पानी आदि में ही उनकी बुद्धि अटकाकर, और उनको हर तरह से बेवकूफ बनाकर, उनसे रुपया पैसा ठगकर, अपने ऐश आराम और बदमाशी पर खर्च करने लगे, तब आवश्यक हुआ कि इनका प्रतिरोध किया जाय। अन्यथा, "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्तं च" (उपनिषत्), यह याद रखते हुए और यह समझते हुए कि सारा साकार जगत् ही उस जगदात्मा का रूप है, जनता को क्रमशः इस मूर्त रूप से अमूर्त रूप की ओर ले जाना उचित ही है, और मूर्तियों की और मूर्ति पूजा की आत्यंतिक निंदा करना अनुचित ही है।

दूसरे दर्जे की बुद्धि के लिये जलमय तीर्थ, सरिता, सरोवर आदि की अनुज्ञा दी गयी। अदृष्ट फल वे हैं जिनसे सूक्ष्म शरीर, मनोमय अथवा विज्ञानमय कोष, अर्थात् अन्तःकरण, मन, बुद्धि, अहंकार, का संस्कार हो। दृष्ट फल ये हैं जिनका प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है। इन तीर्थों में भ्रमण करने से, देशाटन के जो शिक्षाप्रद, बुद्धि की उदारता बढ़ानेवाले, संकोच हटानेवाले, फल हो सकते हैं, वे होना चाहिये। यदि तीर्थरक्षक और पुजारी और भिखमंगे लोग कौआरोड़ करके यात्रियों को जान आपत्ति में न डाल दें, और तीर्थों के जलों में फल, फूल,

पत्ता, कचा और पका अन्न डल्या डलवाकर पानी को सड़ाकर घिनौटा न कर डालें। स्वयं पुराणों ने कहा है,

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जना ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गत' ॥

(भागवत माहात्म्य)

तीर्थ स्थानों का और यात्राओं का इष्ट फल भी शरीर की स्वच्छता, दृढ़ता, शीतोष्णसहिष्णुता, आदि होने चाहिये। पर जब तीर्थों का पानी इस तरह गन्दा किया जाय तो शरीर में सफाई की जगह बीमारी ही आयेगी। हाल में मुझे एक ऐसे स्थान पर जाने का अवसर हुआ। सुन्दर पुराना मंदिर और सुहावना तालाब बना था। पर मन्दिर के पुराने अतिसुन्दर नकाशीदार पत्थर के छज्जे से नये अति कुरूप बेमेल टीन के सायबान लटकाये थे, और पुजारी लोगों ने अपने रहने के सुभीते के लिये मन्दिर की दीवारों के सहारे मिट्टी की दीवारें और खपरैल डालकर मंदिर को नितान्त नेत्रपीड़क कर दिया था। तालाब की मछलियाँ पंडे लोग बेचकर रुपया अपने खर्च में लाते थे, इस वजह से काई भर रही थी, और उसमें हर तरह की पानी को खराब करनेवाली चीजें भी डाली जाती थीं। पानी बदबू कर रहा था। पंडे लोग मुझसे जोर से रटने लगे कि "सर्धा हो तो आचमन करो, शङ्कल्प करो।" मैंने कहा "सर्धा बहुत है, पर आप तो यहाँ के पंडा पुजारी ही हो, आपको जितनी सर्धा होगी उतनी मुझको कहाँ हो सकती है, सो आप आगे रास्ता दिखाओ, एक लोटा भर आप आचमन करके शङ्कल्प करो, मैं भी करूंगा।" फौरन राग बदल

गयी, "क्या कहें, तालाब की मछली लोग बेंच डालते हैं, इससे पानी गन्दा रहता है," इति। सर्वोपरि यह सदा याद रखने और रखवाने की बात है कि

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधव ।
तेषामेव निवासेन देशास्तीर्थीभवन्ति वै ॥

(भागवत)

अर्थात्, जल से तीर्थ नहीं बनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से बनते हैं। उनकी उपासना करने से बहुत काल में मन की शुद्धि होती है। पर सच्चे साधुओं के तो दर्शन और सत्सग से ही चित्त सद्य शुद्ध हो जाता है। तीर्थ स्थानों में जो सच्चे साधु (साध्नोति शुभान् कामान् इति साधु) तपस्वी विद्वान् बसते हैं वे ही तीर्थ के तीर्थङ्कर हैं, तीर्थों को तीर्थ बनाने वाले हैं। जो शोक के पार तारे वह तीर्थ (तरति शोकं येन सहायेन स तीर्थ)। सप्त पवित्र पुरी आदि तीर्थ इसी हेतु से तीर्थ थीं कि वे उत्तम विद्यापीठ का काम देती थीं। वहाँ की हवा में भक्ति, विरक्ति, ज्ञान भरा रहता था, क्योंकि इनके बताने और जगाने वाले साधु, तपस्वी, विद्वान्, पंडित, बहुतायत से वहाँ वास करते थे। जैसे आजकाल की यूनिवर्सिटियों में, किसी एक में एक शास्त्र की, किसी दूसरी में दूसरी विद्या की पढ़ाई, चर्चा, हवा, अधिक रहती है। किसी शहर में किसी विशेष व्यापार की, किसी में कल कारखानों की बहुतायत रहती है। और वहाँ जाने से उसके सबध की विद्या सहज ही में आ जाती है। इसी तरह "काश्यामरणात् मुक्ति",

काशी में मरने से मुक्ति होती है, क्योंकि यहाँ आत्मज्ञान सहज में साधुओं से मिलना चाहिये, चारों ओर उसकी चर्चा होने से मानो हवा में भर रहा है और "ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः," बिना ज्ञान के छुटकारा नहीं, किसी प्रकार की भी गुलामी और बंधन से, सामाजिक से, अथवा राजनीतिक से, अथवा सांसारिक से। पर आजकाल इन पवित्र पुरियों की जो दुर्गति है यह प्रत्यक्ष है। जो मनुष्य "काश्या मरणान् मुक्ति" के अक्षरों ही को पकड़े रहते हैं, और उसके हेतु को नहीं पकड़ते, और आत्मज्ञान का संचय नहीं करते, उनके लिये मुक्ति की आशा नहीं है।

तीसरे दर्जे की बुद्धि के लिये "दिवि देवा", सूर्य, चन्द्र, बुध, बृहस्पति आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। इनकी उपासना गणितफलितात्मक अद्भुत ज्योतिष शास्त्र की उपासना, "मिटियोरालोजी", "आस्ट्रोनोमी" आदि, है। इनसे जो कुछ काल-ज्ञान में, कृषि में, समुद्रयात्रादि में, सहायता मिल सके यह सब इनकी उपासना का दृष्ट फल है। पर सहायता के स्थान में जो विघ्न ज्योतिषशास्त्र के कुप्रयोग से हो रहे हैं यह सबको विदित हैं।

चौथी और अंतिम कोटि "बुधस्य आत्मनि देवता।" जिसको यह विचार उत्पन्न हो गया है कि यह देवता है या नहीं है, यह पुस्तक मानने योग्य है या नहीं है, यह ऋषिवत् या अवतारवत् या रसूलपैगम्बरवत् या मसीहवत् या गुरुवत् मानने योग्य है या नहीं है, यह धर्म मानने योग्य है या नहीं है, यह छोड़ने योग्य है या ओढ़ने योग्य है, यह शास्त्र है या अशास्त्र है, यह वेद है या अवेद है, इसका अर्थ यह है या दूसरा है, अन्ततो

गत्वा कोई ईश्वर है या नहीं है, और है तो क्या है, उसका स्वरूप क्या है—इस सबका अन्तिम निर्णेता मैं ही हूँ, "मैं" ही है, आत्मा ही है—जिसको यह विचार दृढ हो जाता है उसके लिये "बुधस्य आत्मनि देवता", अर्थात् बुध का, बुद्धिमान् का, देव स्वय आत्मा ही है। परम ईश्वर, ईश्वरों का ईश्वर, "मैं" ही हूँ। इस काष्ठा को जो पहुँचा है उसके लिये सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्य वार्तिक में कहा है "एतां काष्ठामवष्टभ्य सर्वो ब्राह्मण उच्यते।" जो ही जीव इस काष्ठा को पहुचा है वह ब्राह्मण है, और वही ब्राह्मण है, अथवा ब्रह्मस्वरूप है।

उसके लिये "काश्या मरणान् मुक्ति" की आवश्यकता नहीं, किंतु,

> भावना यदि भवेत् फलदात्री
> मामक नगरमेव हि काशी।
> व्यापकोऽपि यदि वा परमात्मा
> तारक किमिह नोपदिशेन् न ॥

भावना ही यदि फल देने वाली है, तो जिसी स्थान पर मैं हू वही काशी है। यदि परमात्मा व्यापक है तो यहीं पर तारक मत्र का उपदेश कर सकता है। सूफियों का भी यही कहना है कि जो कोई हकीकत (=तत्त्व, सत्य, परमार्थ)-इ-मुहम्मदी (=श्लाघनीय प्रशसनीय, स्तवनीय, महनीय), अर्थात् ब्रह्मज्ञान को पहुच गया है, वही मुहम्मद (=स्तुत्य, अर्हत्, पूज्य) है, रसीदा (पहुचा हुआ) है, ऋच्छति, प्राप्नोति, (अग्रेजी मे "रीच," पहुचना) इति ऋषि है, वही ब्राह्मण है, पैगम्बर

क्या बल्कि पैगम्बिह भी हो सकता है और है, नये वेद (जैसे याज्ञवल्क्य ने), नयी इजील (जैसे ईसा ने), नये क़ुरान (जैसे मुहम्मद ने) बना सकता है। विशेष अवस्थाओं के लिये विशेष नवीन कायदे कानूनों धर्मों की तो बात ही क्या है। और ऐसे ही मनुष्य के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि वह स्वयं नयी आवश्यकता पड़ने पर नया धर्म बना सकता है।

चत्वारो वेदधर्मज्ञा पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।

सा ब्रूते य स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तम ॥

अर्थात्, वेद पर, ज्ञानसमूह पर, प्रतिष्ठापित जो धर्म, उसके जानने वाले चार मनुष्यों की मण्डली, अथवा अंगोपांग सहित तीन वेदों को अच्छी तरह जानने वालों की समिति, अथवा एक ही अध्यात्मवित्तम, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, तत्त्वतः ब्रह्मज्ञान के हृदय में प्रविष्ट, ज्ञानी मनुष्य, जो निर्णय कर दे कि यह धर्म होना चाहिये, वही धर्म माना जाय।

दर्शनों का समन्वय।

यह प्रायः उपासनात्मक विचार के भेदों की चर्चा हुई। दर्शनात्मक विचारों की भी यही दशा है। प्रसिद्ध है कि न्याय वैशेषिक आरम्भवादी हैं, सांख्य-योग परिणामवादी हैं, पूर्व मीमांसा स्व कृत कर्म को ही प्रधान बताती हुई "स्व" की ही प्रबलता दिखाती है, और इसकी पूर्ति उत्तर मीमांसा "स्व" को, "आत्मा" को, परम पदार्थ सिद्ध करके करती है। संसार को, जगत् को, परमात्मा की चाहे सृष्टि कहिये, चाहे परमात्मा की प्रकृति का, स्वभाव का, परिणाम कहिये, चाहे परमात्मा की लीला कहिये, स्वप्न कहिये, मनोराज्य कहिये,

अविद्या-विद्या कहिये, माया कहिये, विवर्त कहिये, आभास कहिये, अध्यास कहिये—ऐसा बताती है। इसी लिये अद्वैत वेदान्त को विवर्तवाद, आभासवाद, अध्यासवाद आदि भी कहते हैं। जीव की बुद्धि में इन दृष्टियों के उदय होने का क्रम भी यही बताया जाता है। पहिले कुछ दिनों तक उसको आरम्भवाद (और भक्ति) से सन्तोष होता है। फिर जब उससे असन्तोष होता है तब परिणामवाद (और कर्मप्राधान्य) में प्रवेश करता है। अन्त में विवर्त्तवाद (और ज्ञान) में आता है। अर्थात् जैसे बच्चा पहिले माँ बाप का भरोसा करता है, सदा उनकी गोद में रहना चाहता है, अपने ऊपर भरोसा नहीं कर सकता, पर क्रमश वयस् और शक्ति बढ़ने से कुछ कुछ अपने पैरो पर खड़ा होने लगता है और माता पिता से भी सहारा सहायता लेता रहता है, और अन्त में बालिग, प्रौढ, होकर बिलकुल अपने भरोसे खड़ा हो जाता है, वैसे ही जीव की "दर्शन" के विषय मे क्रमश यात्रा होती है। पहिले तो अपने और समग्र ससार के कर्ता धर्ता धाता विधाता स्रष्टा पालयिता को अपने से और ससार से अलग एक ईश्वर मानता है। यह आरम्भवाद की अवस्था है। फिर इस दृष्टि में शका उत्पन्न होती है, क्या ईश्वर विषम है क्या निर्घृण है, क्या अल्पशक्ति अल्पज्ञ है, जो किसी को सुख, किसी को दुःख देता है, और सभी को अधिकतर दुःख ही देता है, या उसको अपनी बनाई सृष्टि की भविष्य दुःखमयता का ज्ञान ही नहीं हुआ, और हुआ तो दुःख को और पाप को रोकने में, मूलतः नाश करने में, असमर्थ है? इस शंका में पड़कर आरम्भवाद को छोड़ता है और

ऐसा समझने लगता है कि "मैं" तथा "मैं"-स्वरूप अन्य "पुरुष", और इन पुरुषों से अलग एक "प्रकृति", यह सब अकस्मात्, अचानक, "चान्स" से, मिलकर, पशु अन्य न्याय से, संसार बनाते और चलाते हैं। इस दृष्टि में भी शंका होती है कि दो भी अपरिमित अनंत, अजर, अमर, विभु पदार्थ बिना एक दूसरे को बाधा किये नहीं रह सकते, अवश्य ही एक दूसरे की व्यापकता, विभुता, प्रभुता, सर्वशक्तिमत्ता, अविच्छिन्नेच्छता, प्राकाम्य, यत्रकामावसायिता आदि में विघ्न डालेंगे, अड़चन पैदा करेंगे। "द्वितीयाद् वै भयं भवति"। जब दूसरा जोड़ीदार सर्वशक्तिमान् मौजूद है, तो मुझे क्या भरोसा कि किसी दिन मेरी अमरता का अंत न कर देगा। इत्यादि शंका परिणामवाद में उत्पन्न होती हैं। न न्याययुक्त्यभिलाषिणी बुद्धि को ही संतोष होता है, न उस हृदय को तृप्ति होती है जो उस "स्वपद", "स्वाराज्य", "आत्मवशता" को चाहता है जिसका वर्णन पूर्व मीमांसा ने भी प्रायः वेदांत के पास ही के शब्दों में किया है

यन्न दुःखेन संभिन्नं न चग्रस्तमनंतरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ॥

जिसमें लेशमात्र भी दुःख न मिला हो, जो कभी नष्ट न होय, जो हार्दिक इच्छा के अनुकूल हो, अभिलाषा के अनुसार प्राप्त हो। जब दो तुल्यों को यह डरा है, तो अनंत पुरुष और एक प्रकृति, सभी अजर अमर आदि कहाँ से माने जा सकते हैं? ऐसी शंकाओं में परिणामवाद डूब जाता है।

अन्त में जिज्ञासु यह निश्चय करता है कि "प्रकृति" अर्थात् "स्वभाव" जिसका हो सकता है सिवा मेरे,

सिवा "स्व" के, सिवा "मैं" के। जितने "मैं" हैं सब एक ही "मैं" है, एक ही "स्व" है। और उसीका "स्व-भाव" प्रकृति है। प्रकृति अर्थात् पुरुष की प्रकृति। लोकव्यवहार में भी कहते ही हैं कि इस पुरुष की प्रकृति अच्छी है, सात्विक है, साधु है, इसकी दुष्ट है, राजस तामस है। माया अर्थात् ब्रह्म की, मायी की, मायानी की, माया। "माया तु प्रकृतिं विद्यान् मायिन तु महेश्वरम्"। माया, अविद्या विद्या, प्रकृति, प्रधान, शक्ति, आदि सब इसी के पर्याय हैं। निष्क्रिय और सक्रिय का क्या संबंध और क्यों, निष्क्रिय में और निष्क्रिय से सक्रिय की उत्पत्ति स्थिति लय कैसे, चेतन में जड़ कहाँ से, "यो, य, येन च, यस्मै च, यस्माद्, यस्मिंश्च, यस्य च ?" यह बारीक कथा यहाँ नहीं उठाई जा सकती। दर्शनशास्त्र का यह अन्तिम प्रश्न है। और इसी प्रश्न के उत्तर से सभी प्रश्न एक साथ उत्तीर्ण हो जाते हैं।

प्रकृत में इतना ही कहना है कि आज काल जो प्रथा प्रचलित है उसके अनुसार यथा कथचित् न्याय वैशेषिक आरम्भवादी समझे जाते हैं, और इनमें ईश्वर और प्रकृति, दोनों, "स्व" (अर्थात् जव) के बाहर माने जाते हैं। योग-दर्शन में ईश्वर एक वैकल्पिक वस्तु, अन्यथासिद्ध, के ऐसा है (ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।) साख्य तो निरीश्वर करके प्रसिद्ध ही है। पर सांख्य योग का साथ भी प्रसिद्ध है। इसलिये यह कह सकते हैं कि पुरुषत्वेन कथचित् ईश्वर इन दो दर्शनों में "स्व" के भीतर आता है, और प्रकृति बाहर रह जाती है। पूर्वमीमासा में प्रकृति भी "स्वी-कृत", "स्व" की बनाई, जान पड़ने लगती है।

पूर्वजन्मजनितं पुराविदः
कर्म दैवमिति संप्रचक्षते ॥
सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते
शरीर हे निस्तर यत् त्वया कृतम् ॥
(गरुड़ पुराण)
कर्मणैव हि रुद्रत्वं विष्णुत्वं च लभेन्नरः ।
(देवी भागवत)
नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥
(भर्तृहरि) इत्यादि ।

स्पष्ट है कि ऐसी दृष्टि में जीव से पृथक् ईश्वर की आवश्यकता कुछ कम हो सी है । यह पूर्व मीमांसा भी निरी श्वर करके प्रसिद्ध है । इसमें ईश्वर तो "स्व" के भीतर आजाता है, पर प्रकृति जैसे कुछ उससे बाहर रह जाती है । उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त में दोनों, पुरुष और प्रकृति, पूर्ण रूप से "स्व" के भीतर आ जाते हैं । प्रचलित पूर्व-मीमांसा में कर्म और कर्मकाण्ड के छोटे छोटे विशेषों पर अधिक जोर दिया जाता है, उस कर्म को "स्व" कराता पर कम । इसलिये पूर्व-मीमांसा का दर्शनत्व ही ठीक ठीक विदित नहीं होता और पूर्व और उत्तर मीमांसा का मेल नहीं दिखता । प्रत्युत कर्म और ज्ञान का विरोध ही दिखाया जाता है । दोनों में जो "स्व" है उस पर जोर देने से दोनों का समन्वय ठीक हो जाता है ।

"प्रचलित" शब्द का प्रयोग ऊपर इस हेतु से किया गया है कि आर्ष सूत्रों और भाष्यों से छओ दर्शनों में आत्मा और मोक्ष के स्वरूप के विषय में वैसा भेद नहीं देख पड़ता जैसा आज काल माना जाता है। अद्वैत वेदान्त को विवर्तवाद इसलिये कहते हैं कि जड़ दृश्य जगत् अनात्मा है, नित्य, शुचि, सुखमय आत्मा का उल्टा विवर्त है, अनित्य, अशुचि, दुःखमय है। तथा यह भी कारण हो सकता है कि सांख्य में पुरुष अनेक और प्रकृति एक मानी है, उसको उलट कर अद्वैत वाद में पुरुष, द्रष्टा, चिति-शक्ति, चैतन्य, परमात्मा, एक, और प्रकृति अनेक, नाना, असंख्य अणु, भूत, ब्रह्माण्डादि रूप की कही है।

मार्गों का समन्वय।

कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग का भी ऐसा ही समन्वय है। और प्रकृतिभेद से भी। यथा इच्छाप्रधान जीव को भक्ति, क्रियाप्रधान को कर्म, और ज्ञानप्रधान को ज्ञान ही अधिक प्रिय भी और उपयोगी भी है। यद्यपि भागवत भक्तिग्रन्थ करके प्रसिद्ध है, पर उसको भी मार्मिक अंतिम शिक्षा ज्ञान ही की है।

वदन्ति तत्तत्वविद तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वय ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
सर्वभूतेषु य पश्येद् भगवद्भावमात्मन ।
भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तम ॥

अर्थात्,

"मैं ही एक, नहीं दूजो, जग सब मेरो सपना रे"—
याही कौ वो तत्त्व कहतु हैं सत के जाननवारे।

यह दुजागरी रहित, शून्य दुविधा सों, अद्वयज्ञाना,
यही ब्रह्म, याही परमातम, याही है भगवाना ॥
जे भगवानहि कौ सब भूतन की सत्ता मे भावत ।
और सब कौ भगवानहि मे, ते ही भागवत कहावत ॥

जैनों का जो सूत्र है, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग", (उमास्वामिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र), इसमें भी सम्यग्दर्शन का अर्थ शुभवासनात्मक भक्तिमार्ग, सम्यग् ज्ञान का अर्थ विशुद्धज्ञानात्मक ज्ञानमार्ग, और सम्यक्चारित्र का अर्थ सत्कर्मात्मक कर्ममार्ग ही है।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणा श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञान कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णाना ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्ताना कर्मयोगस्तु कामिनाम ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु य पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिद ॥
(भागवत)

अग्नौ क्रियावतो देवो हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वल्पबुद्धीना ज्ञानिना सर्वत शिव ॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिन ।
आत्मस्थ ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ॥

अर्थात्—अवतारों में, महात्माओं में, विशेष कला से प्रादुर्भूत "मैं" ने, परमात्मा ने, मनुष्यों की भलाई के लिये, तीन प्रकार के योग उपाय, बताये हैं। जिन जीवों को संसार से निर्वेद, वैराग्य, हो गया है, उनके लिय ज्ञान योग। जो

सासारिक व्यवहार और कम से विरक्त नहीं, उनके लिये कर्म योग। जो न तो अति सक्त हैं, न अति विरक्त हैं, जिन्होंने "मै" की कथा इधर उधर कुछ सुनी है, और जिनके मन में मैं की ओर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, उनके लिये भक्ति योग।

सासारिक कर्मों म रक्त के लिये देव अग्नि है, (यथा प्रत्यक्ष ही अग्रेज आदि पश्चिमी जातियां का)। हृदयालु रसिक भावुक भक्त जीवों का इष्ट देव हृदय मे कल्पन भावन किया जाता है। अल्पबुद्धि बालक का देव प्रतिमा मे है। ज्ञानियों के लिये शिव अर्थात् सर्वशुभमय परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। योगी जन आत्मा में, अपने में, ही शिव को देखते हैं, प्रतिमाओं में नहीं। जो बाल्बुद्धि जन अभी इस काष्ठा को नहीं पहुँचे हैं, वे तीर्थों म शिव को ढूँढत फिरते हैं।

ऊपर कहा कि सभी दर्शनों के ऋषिकृत ग्रन्थों मे आत्मा का और मोक्ष का स्वरूप प्राय एक सा कहा है। थोड़े विस्तार से यह एक बात इस स्थान पर कह देना चाहिये। जीव और जगत् से भिन्न सर्व जगत्स्रष्टा ईश्वर है, यह वाद आधुनिक न्यायवैशेषिक में प्रसिद्ध है। जिसमें भी जीव और मूल परमाणु अनादि ही हैं, ईश्वर के बनाये नहीं हैं। पर आर्ष सूत्र भाष्यादि मे ऐसा नहीं देख पड़ता। न्याय में जहाँ प्रमेय गिनाये हैं वहाँ आत्मा ही कहा है, आत्मा से पृथक् ईश्वर की चर्चा नहीं की है। चतुर्थ अध्याय में जहाँ "अपर आह" करके प्रावादुकों के प्रवादों की चर्चा की है वहाँ पर ईश्वर के कारणत्व का भी एक वाद है ऐसी चर्चा कर दी है। निष्कर्ष

यह कि प्राचीन सूत्रों और भाष्यों में सभी दर्शनों में "आत्मा" ही प्राधान्येन आता है, और उनमें विरोध प्राय नहीं देख पडता है। प्रत्युत क्रमश विचार को और ज्ञान की सूक्ष्मता की वृद्धि सोपानारोहक्रमेण देख पडती है। अर्थात् सर्वव्यापिनी चेतना ही सब ससार की अधिष्ठानकारण भी, उपादानकारण भी, निमित्तकारण भी, सहकारिकारण भी, सभी कुछ है, यही वेद के अन्त में, वेदान्त का, निर्णय है। आधुनिकों ने जो परस्पर खण्डन पर ही ध्यान दिया है, मण्डन पर नहीं, इसका हेतु कलियुगोचित कलहप्रकृति ही समझना चाहिये। अतत आत्मा में सबका पर्यवसान हो जाता है।

यथा, आजकाल पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा का, कर्मकाड का और ज्ञानकाड का, घोर विरोध ही विरोध पुकारा जाता है। पर पूर्वमीमासा के मूल ग्रन्थ, जैमिनिसूत्र और शाबर भाष्य, में पहिला ही सूत्र और भाष्य यह है। "अथातो धर्म जिज्ञासा। धर्मो हि नि श्रेयसेन पुरुष संयुनक्तीति प्रति जानीमहे।" अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा की जाती है, जिस धर्म के विषय में यह हमारी प्रतिज्ञा है कि वह पुरुष को नि श्रेयस अर्थात् मोक्ष देता है, जो ही पदार्थ, विविध दर्शनों में, अपुनरावृत्ति, नि श्रेयस अपवर्ग, कैवल्य, निर्वाण, आत्यतिक दु खनिवृत्ति, स्वरूपप्रतिष्ठा, इत्यादि विविध नामों से कहा है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तार ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
यस्मिन् सर्व यत सर्व य सर्व सवतश्च य।
यश्च सवमयो नित्य तस्मै सर्वात्मने नम॥

सर्वेषु वेदेषु अहमेव वेद्य वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहं।
ॐ अहम् ब्रह्मास्मि । सर्वं खलु इदं ब्रह्म । ॐ ।

इन मार्गों, वादों, दर्शनों, उपासनाओं के अन्तर्गत अनन्त भेद हैं, सब में एक ही परमात्मा अनुस्यूत है, इस बात की याद बनाये रक्खे तो सबों से आत्मोत्कर्ष क्रमशः प्राप्त हो सकता है। यही सबका समन्वय है।

आत्मैव देवता सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः । (मनु)
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ॥
(शिवपुराण)

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥
(भागवत)

ईरान देश के वेदान्ती सूफी हाफिज ने भी यह पहिचाना है।

साल्हा दिल् तलबे जामि-जम अज् मा मी कर्द ।
उन्चे खुद दाश्त जि बेगाना तम ना मी कर्द ॥
हमा अन्दर ऊस्त, हमा अजानि ऊस्त,
हमा बराए ऊस्त, हमा अज ऊस्त,
हमा ब ऊस्त, हमा ऊस्त ॥ (सूफी)

मनुष्य भेदों का समन्वय ।

सनातन वैदिक-आर्य-बौद्ध-मानव धर्म में अध्यात्मशास्त्र के बल से सब आचार विचारों का भी समन्वय किया है। इस

विषय में कहने को तो बहुत है, पर समय और शक्ति मेरे पास कम है, इसलिये दिग्दर्शन रूप से कुछ उद्देश मात्र कहूँगा।

वर्ण शब्द का अर्थ यदि रंग समझा जाय (आवृणोति, जो छाये रहता है, ढाके रहता है, वह वर्ण) तो पृथ्वी पर इस समय प्रत्यक्ष चार रंग की चार मुख्य जातियाँ मनुष्यों की मिलती हैं। अफगानिस्तान, ईरान, सरकाशिया, जार्जिया, यूरोप, उत्तर जापान, अमेरिका आदि में श्वेत। अमेरिका के कुछ भागों में लुप्तप्राय रक्त अथवा ताम्र वर्ण। चीन, जापान, वर्मा, स्याम, तिब्बत आदि में पीत। आफ्रिका में कृष्ण। भारतवर्ष में काश्मीर में श्वेत, राजस्थान में कुछ कुछ ताम्रवर्ण, बहुतेरे प्रांतों में भूरे, गोहूं के रंग के, अथवा पीले, तथा काले। चातुर्वर्ण्य की दृष्टि से इनका समन्वय पुराण के श्लोक में किया है।

ब्राह्मणानां सितो वर्णः, क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतकश्चैव शूद्राणामसितस्तथा॥
(म० भा० शान्ति० अ० १८६)

पश्चिम देशों के शिष्टम्मन्य महाशय भ्रातृभाव और साम्यवाद (ह्यूमन ब्रदरहुड और डिमाक्रेसी) का डिंडिम करते हुए भी, अपने देशों में, तथा दूसरों से लूटकर अपने किये हुए देशों में, यथा यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, सौथ आफ्रिका, आदि में, पीले और काले आदमियों को रहने देना ही नहीं चाहते। रक्त मनुष्यों के वंश का तो इन पश्चिमी श्वेतों ने अमेरिका में हत्या से प्राय उच्छेद ही कर दिया है। भारतवर्ष के आदमी छूआछूत की अति की दुर्बुद्धि

से ग्रस्त होकर भी यह नहीं कहते कि दूसरी जाति या दूसरे वर्ण के आदमी इस देश से निकाल दिये जायँ। आपस में लड़ते झगड़ते हुए भी किसी किसी तरह परस्पर निर्वाह कर ही रहे हैं।

गुण कर्म की दृष्टि से साख्य के शब्दों मे मनुष्यभेदों का समन्वय यह है।

सद्गुणो ब्राह्मणो वर्ण, क्षत्रियस्तु रजोगुण ।
तमोगुणस्तथा वैश्य, गुणसाम्यात्तु शूद्रता ॥
(भविष्य पुराण ३-४-२३)

इस जगह यह याद रखना चाहिये कि इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि कोई एक वर्ण एक ही गुण का बना है और उसमें दूसरे गुण हैं ही नहीं। ऐसा नहीं। किंतु केवल प्राधान्य उस गुण का उसमें है। इतना ही अर्थ है। ब्रह्मसूत्र ही है,

वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वाद ।

जो लक्षण जिसमें विशेष रूप से देख पड़े उसी के अनुसार उसका नाम पुकारा जाता है। यथा शिव पार्वती तमोमय, विष्णु-सरस्वती सत्वमय, ब्रह्मा-लक्ष्मी रजोमय हैं, ऐसा पुराणों का संकेत है। अन्यथा "सर्व सर्वत्र सर्वदा"।

और

न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन ।
सत्व प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभिस्स्यात्त्रिभिर्गुणै ॥ (गीता)

तथा साख्यकारिका भी।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयमिथुनजननवृत्तयश्च गुणा ।

अर्थात् तीनों गुण सर्वथा सर्वदा सर्वत्र एक दूसरे से मिले ही रहते हैं, अलग हो ही नहीं सकते। पर हाँ, एक समय एक

स्थान में एक प्रबल होता है, दूसरे दो दबे रहते हैं। और इसी आध्यात्मिक हेतु से "कर्मणा वर्णः" और वर्णपरिवर्त्तन सिद्ध होता है। वायु पुराण, पूर्वार्ध, अ० ८, में स्पष्ट कहा है कि पूर्वकाल में

वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदाऽसन् न संकरः।

न वर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी, न संकर जातियाँ थीं, तथा महाभारत में,

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

ब्रह्मा का बनाया हुआ है, इस लिये सभी जगत् ब्राह्म अर्थात् ब्राह्मण है। वर्णों में कोई आत्यतिक विशेष अर्थात भेद नहीं है, ब्रह्मा ने सब मनुष्यों को आदि में ब्राह्मण ही बनाया, पर क्रमशः कर्म-भेद से वर्ण-भेद हुआ।

यही कथा दूसरे प्रकार से यों कही है कि

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

सभी मनुष्य पैदा होते हैं शूद्र, पर भिन्न भिन्न संस्कार से भिन्न भिन्न प्रकार के द्विज, ब्राह्मण, वा क्षत्रिय, वा वैश्य, हो जाते हैं। मतलब यह कि पैदाइश से सब एकसे होते हैं, चाहे सब को ब्राह्म अथवा ब्राह्मण कहो, चाहे सबको शूद्र कहो। कर्म से, संस्कार से, पृथक् पृथक् नाम पीछे से पड़ते हैं। लौकिक व्यवहार की दृष्टि से इनका समन्वय ऐसा घनिष्ठ किया है कि इनको मुख बाहु ऊरूदर पादवत् अंगांगी बताया है। जिसके स्थान में आजकाल "छूओमत" "छूओमत" की भरमार मची है। इस आफत का मूल कारण अहंकारजनित दम्भ है।

कृष्णमिश्र ने प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में इन्हीं नाम के पात्रों के, अर्थात् अहंकार और उसके पौत्र दंभ के, परस्पर वार्तालाप में इसका चित्र खींच कर दिखाया है। इस नाटक को लिखे प्राय नौ सौ वर्ष हो गये। दंभ कहता है अहंकार से,

मदनमुपगतोऽहं पूर्वमम्भोजयोने
सपदि मुनिभिरुच्चैरासनेषूज्झितेषु ।
सशपथमनुनीय ब्रह्मणा गोमयाम्भ -
परिमृजितनिजोराचाशु संवेशितोऽस्मि ॥

"कुछ दिन हुए, मैं अपना दर्शन ब्रह्मा को देने के लिये उनके घर पर गया। वहां जो मुनि लोग बैठे थे वे मुझे देखते ही घबरा कर सहसा अपने ऊँचे ऊँचे आसन छोड़ कर उठ खड़े हुए और मुझे उन पर बैठने को कहने लगे। पर मैंने उनके छूए हुए, अपवित्र, आसनों पर बैठने से नाक सिकोड़ा। तब ब्रह्मा ने जल्दी से अपनी एक जांघ को गोबर से लीप कर, पवित्र किया, और, 'मेरी क़सम आपको, आप इसी जांघ पर जरूर बैठिये' ऐसा मेरा अनुनय विनय करके मुझको मना के, अपनी जाँघ पर बिठाया"। हिन्दू समाज की बुद्धि की आजकाल यह दुर्दशा हो रही है कि जो मनुष्य चाहता है कि यह बौद्ध-सनातन आर्य मानव-वैदिक धर्म फूले फले और फैले, और समस्त पृथ्वी तल के सब मनुष्य इसकी छाया के नीचे आवें और विश्राम पावें, वह नास्तिक, अश्रद्धालु, समाजबाह्य, असभ्य, समझा जाता है। और जो चाहता है कि यह समस्त मानवधर्म पिंडीभूत होकर एक उसी के शरीर में जीर्ण शीर्ण हो जाय, और वही, अथवा उसका कुल हो, अथवा बहुत

उदारभाव उमड़ा तो उसको अवान्तर जाति ही, एतद्धर्मयुक्त धार्मिक अथवा हिन्दू समझे जायँ—ऐसा मनुष्य श्रद्धालु, आस्तिक, धर्मनेता, धर्मधुर धर, धर्मालंकार, धर्मध्वज, धर्मोद्धारक, धर्ममार्तंड समझा जाता है।

यहाँ तक दुर्बुद्धि बढ़ी है कि कविता के रूपक और उपमा को रूपक और उपमा नहीं समझते, किंतु अक्षरश ठीक मानने लगे हैं। वेद में सुन्दर, ओजस्वी, गुर्वर्थ, सारगर्भ शब्दों में मनुष्यसमाज का रूपक बाँधा है। इस समाज से शरीर में सत्त्वज्ञानप्रधान मनुष्य मुखस्थानीय है—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत। तथा रज क्रियाप्रधान जीव बाहुस्थानीय है—बाहू राजन्य कृत। तथा तम इच्छाप्रधान जीव ऊरुस्थानीय ऊरू तदस्य यद् वैश्य। और अनभिव्यक्त बुद्धि वाले जीव, जिन्हीं में से और सब जीव क्रमश विकसित होते हैं, पादस्थानीय—"पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।" प्रत्यक्ष ही सब शरीरका बोझ पैरोंके ऊपर रहता है। यही अर्थ महाभारत मे मोक्षस्तवराज के एक श्लोक में कहा है।

ब्रह्म वक्त्र भुजौ क्षत्र कृत्स्नमूरूदर विश ।
पादौ यस्याश्रिता शूद्रा तस्मै वर्णात्मने नम ॥

वर्णात्मक समाज विष्णुरूप है, उसके ये शिर, भुजा, धड़ और पैर हैं, यह सीधा सीधा रूपक है। ध्यान देने की बात है कि वेद की ऋचा मे भी, और महाभारत के श्लोक में भी, यह नहीं कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, मुख, बाहु, ऊरुदर से उत्पन्न हुए, किन्तु यह कहा है कि मुख-बाहु ऊरुदर थे अर्थात् तद्वत्, तत्स्थानीय, थे। ऐसे ही पुरुषसूक्त के दूसरे श्लोकों का भी अर्थ सीधा सीधा है।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात । इत्यादि ।

इस महासभा में इस समय बहुसख्यक स्त्री पुरुष एकत्र है। प्रत्यक्ष ही यह जनसमुदाय सहस्रशीर्षा है, सहस्राक्ष है, सहस्रपात् है। और अध्यात्मदृष्टि से समस्त जगत् परमात्मा का शरीर है, और सब जीव उस एक महाविराट् शरीर के अगप्रत्यग हैं ही। पर नहीं, सीधे साधे अर्थ में रस नहीं। इसलिये तरह तरह के अनर्थ किये गये। ब्रह्मदेव बड़े बूढ़े लम्बे बाल और दाढ़ी वाले चार मुँह के पितामह हैं, और उनके मुँह से (किस मुँह से यह ठीक पता नहीं लगता) ब्राह्मण कूदे, बाहु से क्षत्रिय निकल पड़े, जाँघ से वैश्य पैदा हो गये, पैर से शूद्र। इस वास्ते ये चार अलग अलग जाति के जन्तु हैं, जैसे बैल, घोड़े, हाथी और ऊँट।

पुराणों में, महाभारत में, दूसरे ग्रन्थों में, बहुश लिखा है कि ब्रह्मा शब्द से वही पदार्थ लिया जाता है जिसको साख्य में महत्, बुद्धि, महानात्मा आदि शब्दों से कहते हैं। वासुदेव, प्रद्युम्न, सकर्षण, अनिरुद्ध, इस चतुर्व्यूह का भी अर्थ वही साख्य वेदान्त का अन्त करण चतुष्टय है, अर्थात् चित्त, (अथवा जीव) बुद्धि, अहकार, मन। एव शैवतत्र मे जो सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष, ईशान, पचब्रह्म कहे हैं, वह भी यही चार और परमात्मा हैं। कहीं पच्च ब्रह्म को पचमहाभूतस्वरूप भी बताया है। रूपकों में लिखने कहने समझाने का हेतु यह है कि जिनकी बुद्धि अन्तर्मुख नहीं है, बहिर्मुख ही है, उनको तरह तरह के आकारों से समझा बुझाकर धीरे धीरे अन्तर्मुख किया जाय, साकार उपासना से क्रमश निराकार

दर्शन की ओर फेरा जाय। यह तो था प्राचीन आर्ष ग्रन्थकारों और सम्प्रदाय प्रवर्त्तकों का उद्देश्य। सांख्य वेदान्त के ही शब्दों का अनुवाद सब शैव, शाक्त, वैष्णव आदि तन्त्रों, सम्प्रदायों, पंथों ने, उपासकों की प्रकृति के अनुसार, मध्यम सात्विक, अथवा राजस, अथवा तामस रूपों से किया है। पर अक्षर को पकड़ने से, और तात्विक अर्थ को भुला देने से, भारी दोष पैदा हो गये हैं। उन प्राचीन अर्थों को ठीक ठीक पहिचानने से ही विरोधपरिहार होकर सब बातों का उचित रूप से समन्वय हो सकता है। और यह संशोधन और सुधार बिना अध्यात्मशास्त्र के नहीं हो सकता, क्योंकि उसी की नींव पर यह समग्र मानवधर्म और वर्णाश्रमात्मक समाजनिर्माण प्रतिष्ठित है।

अध्यात्म शास्त्र की आधुनिक दुर्गति।

पर बड़े खेद का स्थान है कि इस अध्यात्मविद्या की ओर ठीक ठीक ध्यान आजकल बहुत कम दिया जाता है। बहुत दिनों की बात नहीं है, काशी में बड़ा सम्मेलन हिन्दू महासभा का (संवत् १९८० में) हुआ था। सभापति की आज्ञानुसार मुझको इस विषय पर कुछ कहना पड़ा कि मानवधर्म और हिंदू समाज का जो संकोच और ह्रास हो रहा है उसको किस प्रकार से रोकना चाहिये। और मैंने यही कहने का यत्न किया कि जिस अध्यात्मशास्त्र और आत्मज्ञान के बल से प्राचीन ऋषियों ने धर्मशास्त्र के ग्रंथ, सूत्र, स्मृति आदि रचे, उसी बल से अब उनमें विद्वानों को देशकालनिमित्तानुसार घटाव बढ़ाव करना चाहिये, क्योंकि बिना ऐसा किये हिंदू-

समाज का अध पात नहीं रुकेगा और उसकी उन्नति नहीं होगी। एक अच्छे वृद्ध विद्वान् पंडित ने सच्चे हृदय से उठकर कहा कि "आप उचित कहते होंगे, पर हम तो ठीक नहीं जानते कि आत्मा किसको कहते हैं, हमारा हृदय दुर्बल है, और इससे हम तो उन पुराने लिखे हुए अक्षरों ही को देखते हैं और उन्हीं का अर्थ लगाते हैं और उन्हीं के अनुसार चलना चाहते हैं।" मुझे भारी दुःख हुआ। मैंने समझाने का बहुत यत्न किया, कि "आप जो प्राचीन अक्षरों का अर्थ करते हो यह भी तो आत्मबल ही से। व्याख्या बुद्धि-बलापेक्षा, बिना अपने ऊपर विश्वास किये, कि मैं जो अर्थ कर रहा हूँ यह ठीक है, आप अर्थ भी तो नहीं कर सकते। आपका यह कहना कि मुझको तो ज्ञान नहीं, शक्ति नहीं, मैं अपनी बुद्धि पर भरोसा नहीं करूँगा, दूसरे की बुद्धि अधिक श्रद्धेय है—यह भी तो आप ही की बुद्धि निर्णय करती है।

न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धिसाध्य।
विचारस्य खंडनमपि विचारेणैव क्रियते।

बुद्धि का काम नहीं, बुद्धि नहीं चलती—यह निर्णय भी बुद्धि ही करती है। विचार व्यर्थ है अशुद्ध है, निष्प्रयोजन है, अनुपयोगी है—यह भी विचार ही है। याज्ञवल्क्य के उसी एक श्लोक का अर्थ मिताक्षराकार ने कुछ किया है और जीमूतवाहन ने कुछ और ही किया है, जिससे उत्तरभारत में दायभाग का प्रकार दूसरा है और बङ्गाल में बिलकुल दूसरा हो गया। तो व्याख्या करना भी बिना आत्मबल के नहीं हो सकता। जिस बल से व्याख्या की जाती

है, उसी बल से नया धर्म बनाया जा सकता है, बल्कि यह कहना चाहिये कि बराबर अपने प्रयोजन के अनुसार नयी व्याख्या के व्याज से लोग धर्म को बदलते ही रहे हैं। अपनी बुद्धि के, अपने आत्मा के, पार तो किसी प्रकार से मनुष्य जा ही नहीं सकता। बीस, या दस, या पांच हजार बरस पहिले, वसिष्ठ, पराशर, वेदव्यास, याज्ञवल्क्य के समय में परमात्मा था, अब मर गया, यह तो आप भी नहीं कहेंगे। अथवा तब भारतवर्ष में आगया था और अब दूर चला गया, यह भी आप स्यात् कहने का उत्साह न करोगे। फिर अपने ऊपर क्यों इतनी अश्रद्धा? अथवा यदि आपको अपने ऊपर इतनी अश्रद्धा है कि हम तो आत्मा को नहीं ही जानते और न जान सकते हैं, तो फिर किस बल से आप धर्मव्यवस्थापक बन सकते हो? पदे पदे तो इन प्राचीन ग्रंथों में कहा है कि जो अध्यात्मज्ञान रखता है वही धर्म के विषय में बोलने का अधिकारी है। "एकोऽपि वाऽध्यात्मवित्तम" इत्यादि याज्ञवल्क्य का वचन पहले उद्धृत कर चुका हूँ। हिम्मत बांधिये, अपने ऊपर श्रद्धा कीजिये, आप के भीतर आत्मा बैठा है, इस पर निश्चय लाइये, उस आत्मा का सच्चे मन से आवाहन कीजिये, उसका बल आपको अवश्य मिलेगा, और सच्चा ज्ञान सर्वलोकहितबुद्धिमय आपके हृदय में उदय होगा। तभी आप अपना भी और दूसरों का भी कल्याण कर सकोगे। जब आप ही को अपने आत्मा पर सच्ची श्रद्धा नहीं है तो दूसरे आप पर कैसे श्रद्धा करेंगे। और कुछ न बने तो, खैर, व्याख्या ही कर के समयोपयोगी नये रास्ते चलाइये।" यह सब कहने सुनने का यत्न मैंने किया, पर पंडित समाज पर इस समय कुछ

असर हुआ या नहीं, इसमे बहुत सन्देह ही मेरे मन मे रह गया। मैं तो समझता कि कुछ नहीं हुआ, पर एक बात से मुझे आशा हुई कि स्यात् कुछ हुआ। सभाविसर्जन के पीछे एक सज्जन मेरे घर पर आये और उन्हाने मुझसे कहा कि "तुम्हारे विषय में मुझको लोगो के अनसमझो बातें कहने से भूल हो गई थी, मैं समझने लगा था कि तुम इस प्राचीन धर्म में श्रद्धा नहीं रखते हो, सो अब मुझे निश्चय हुआ कि ऐसा नहीं है, तुम श्रद्धा सच्ची करते हो, और ये लोग जो तुम्हारी निंदा करते हैं वे ही उस धर्म मे सच्ची श्रद्धा नहीं करते और उसका ह्रास कर रहे हैं।" मुझे यह सुनकर बड़ा भारी सतोष हुआ, वे सज्जन और मैं गले गले मिले, और मैं उनका सदा के लिये कृतज्ञ रहूँगा। विशेष कारण यह है कि उन सज्जन ने सभा में पहिले मेरा व्यक्तिगत विरोध बहुत किया था। पर उनके चित्त की सात्विकता देखकर मुझे भारी आशा हुई है कि और लोग भी चेतेगे। "स्वार्थेषु को मत्सर"। मैं तो उन्हीं के सच्चे हित की बात कहता हूँ।

यह भी एक उत्तम प्रकार है कि प्राचीन लेख को यह न कहना कि अब यह बेकाम है, इसको हटा दो, इसके स्थान पर यह दूसरा नियम बना दो—जैसा कि पाश्चात्य देशों का आधुनिक प्रकार कानून बनाने का है। बल्कि यह कहना कि इस श्लोक का, इस सूत्र का, इस नयी अवस्था में, इस इस हेतु से, यह नया अर्थ करना ही ठीक है। इस प्रकार से प्राचीन वृद्धों का आदर भी सूचित होता है, समाजपरंपरा का उच्छेद भी नहीं होता है, और व्यवहार भी सधता है।

"कृणुध्व विश्वमार्यम्"—यह वेद की आज्ञा है। सारे मनुष्य संसार को, विश्वमात्र को, आर्य बनाओ। इसके अनुसार पुराकाल मे कितनी ही व्रात्य जातियाँ आयशालीनता के भीतर लाकर चातुर्वर्ण्यात्मक समाजगृह में यथास्थान रख दी गई। व्रात्यस्तोम आदि संस्कार इसी काम के लिये बनाये गये थे। व्रात गच्छन्ति, व्रातेन (दैनंदिनेन लाभेन) जीवन्ति, शुद्ध्यर्थं व्रतमर्हन्ति, इति व्रात्य'। जो झुंड के झुंड फिरते ही रहें, कहीं स्थिर रूप से टिके नहीं जैसे आजकाल भी कंजर आदि, रोज रोज की कमाई से, जंगली शिकार आदि से, गुजर करें, और जो इस योग्य हैं कि उनको व्रत कराये जायँ, नियम पालन के व्रत बताये जायँ और मनवाये जायँ, और इस प्रकार से उनका आचरण आर्य और शुद्ध कराया जाय, वे व्रात्य आजकाल की अंग्रेजी भाषा में "नोमाड्ज्।" दूसरी ओर शालासु वसति, शालिभिर्जीवति, सदाचारै शालते, इति शालीना। स्थिर रूप से, मकानों में, बस्ती में, बसे, खेतों के अन्न से जीवन निर्वाह करें, सदाचार से, शिक्षितता से, शिष्टता से, सभायोग्यता से, सभ्यता से, विराजे, वे लोग शालीन। व्रात्य लोग शालीन किये जाते थे, शिक्षा के द्वारा, क्रमशः। यह क्रमशः शब्द याद रखने का है।

धर्मपरिवर्तन के विषय में बहुत से प्रश्न इस "क्रमशः" शब्द के बल से उत्तीर्ण हो सकते हैं। बाह्य धर्मपरिवर्तन, "औटर कन्वर्शन्" तो एक क्षण में हो सकता है। बपतिस्मा हुआ, ईसाई होगया। कल्मा पढ़ा, मुसल्मान हो गया। कोई भी अपने को कह दे कि मैं हिंदू हूँ, अवश्यमेव हिंदू हो गया। किसको

अधिकार है कि कहे कि वह हिन्दू नहीं है। यह तो नाम रखने की बात है। पर सच्चा वर्णपरिवर्तन तो एक क्षण में नहीं हो सकता। व्रियते, स्वीक्रियते, उद्यम्यते, वृत्त्यर्थं, जीविकार्थं, इति वर्णः। जिस आदमी ने दस वर्ष अध्यापन का काम किया, और उसको मालूम हो गया कि मैं इस काम के योग्य नहीं हूँ, इसमें मेरा मन नहीं लगता, मेरा मन शस्त्रास्त्र प्रयोग की ओर अधिक है, अथवा दूकानदारी की ओर, वह कितना भी चाहे तो भी एक दिन में वह नये काम को, क्षत्रिय अथवा वैश्य के व्यवहार व्यापार को, नहीं हो सीख पावेगा। कुछ दिन में नया काम अच्छी तरह कर सकेगा। वर्णपरिवर्तन का तो यह अर्थ है। इस वास्ते मनु आदि में "शनकै" "आसप्तमाद् युगात्" इत्यादि शब्द ("अन्यस्मिन् जन्मनि" नहीं) प्रयोग किये हैं।

यथा—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातयः।
वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च। (मनु)

अर्थात् विद्या सिखानेवालों से जब ये अलग पड़ गये, और उनकी बुद्धि और शरीर का यथोचित् संस्कार नहीं हुआ, तो "धीरे धीरे" ये जातियाँ वृषल, अर्थात् शूद्र, हो गयीं।

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्या सप्तमाद् युगात्।
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्॥
क्षत्रियाज्जातमेव तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च।

(मनु, अ० १०, श्लो० २६)

इसका अर्थ प्रचलित टीकाओं में तो दूसरे ही प्रकार से किया हुआ है, पर उससे "हठाद् आकृष्टता" देख पड़ती है

और वादविवाद का ठिकाना है। एक सीधा अर्थ पाँच वर्ष के युग का लेकर होता है, कि छँतीस वर्ष तक जिस वर्ण की वृत्ति से, धर्म कर्म से, जोविका से, रहे, उस वर्ण का हो जाता है। दूसरे स्थान पर कहा है कि जिस वर्णवाले का अन्न बारह वर्ष तक खाय उस वर्ण का ही जाता है, इत्यादि।

यह बात तो थोड़ा सा, निराग्रह बुद्धि से, भारतवर्ष का इतिहास देखने से सिद्ध हो जाती है कि पुराकाल में, पौराणिक काल में भी, जिसकी चर्चा भागवतादि पुराणों में, शतपथब्राह्मण में (१०, ४, १, १०,), ऐतरेय ब्राह्मण में (७, २९), आपस्तम्ब गृह्य आदि में की है, ऐसा वर्णपरिवर्त्त न होता था।

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्व पूर्वं
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णोऽधन्य जघन्य
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥

(आपस्तम्ब २, ५, १०, ११)

"जातिपरिवृत्तौ" कहा है, "अन्यस्मिन् जन्मनि" नहीं।

यह वर्णपरिवर्त्तन, और बाहरी जातियों का आर्य समाज में कहिये, सनातन समाज में कहिये, मानव समाज में कहिये, (क्योंकि "हिंदू" शब्द उस समय पैदा नहीं हुआ था) सम्मेलन और व्यवस्थापन, बौद्ध और जैन काल में भी बहुत होता था, यह इतिहास से जान पड़ता है। और आज काल भी हमारे आँख के सामने हो रहा है। मेरे एक जान पहिचान वाले, जो स्कूल के दिनों में अपने को कलवार कहा करते थे, कई वर्ष बाद

वैश्यों की एक अवान्तर जाति का बताने लगे, और अब गवर्मेंट की नौकरी में पड़कर अपने को क्षत्रिय कहते हैं और क्षत्रिय कुलों से उनका विवाहादि संबंध होगया है। कितनी जातियाँ जो पहिले अन्य वर्ण की, शूद्र अथवा वैश्य समझी जाती थीं, अब अपने को क्षत्रिय या ब्राह्मण कहने लगी हैं। कई वर्ष हुए काशी में "स्वार्थ प्रकाशिका" नाम की एक छोटी पुस्तक (तारा प्रेस में) छपी थी। कहते हैं कि एक राजा ने, अपने पुरोहितों से बहुत पीड़ित होकर, उसको लिखा या लिखवाया और छपवाया। उसमें कितनी ही ऐसी उपजातियों का हाल लिखा था जो पहिले अपने को किसी दूसरे वर्ण की कहती थीं, अब ब्राह्मण कहने लगी हैं। "भार्गव" नाम की एक उपजाति वाले पहिले अपने को वैश्य कहते थे, अब ब्राह्मण कहते हैं। कूर्मी लोग अब कूर्मी क्षत्रिय या कूर्म वंशी क्षत्रिय हो गये हैं। एक उपजाति कूर्मी वाली ब्राह्मणों की भी है। कायस्थ लोग अपने को अब क्षत्रिय कहते हैं। ठीक ही है। जो कोई, आत्मश्रद्धापूर्वक, अपना सत्कार करेगा, उसको दूसरे भी मानेंगे ही। जो अपने ही में श्रद्धा नहीं करेगा, स्वयं नीचा बनेगा, उसको क्यों न दूसरे नीचा कहेंगे? पर यह हवा जो अब बह रही है कि सब जाति की जाति का नाम, झुंड के झुंड का नाम बदल दिया जाय, और या "ठाकुर" बन जाय, या "ब्राह्मन" बन जायँ, (क्योंकि इन्हीं दो जातियों में बड़प्पन की ऐंठन अधिक है) इससे काम बनता नहीं, प्रत्युत बिगड़ता है, मिथ्या अहंकार और सदर्प और प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, और सामाजिक कार्य और परस्पर सहायता में विघ्न पड़ता है। इस औपजातिक

नाम परिवर्त्तन मात्र रूप मिथ्या उत्कर्ष से वर्ण व्यवस्था का मूल सिद्धान्त "कर्मणा वर्ण" चरितार्थ नहीं होता, प्रत्युत और भी मर्दित खंडित होता है। उस सिद्धांत के अनुसार तो प्रत्येक व्यक्ति के गुण कर्मानुसार उसका वर्ण नाम पड़ना चाहिए। भेड़ियाधसान के प्रकार से दल के दल और झुंड के झुंड का सभा वर्णपरिवर्तन नहीं हो सकता है।

गवर्मेण्ट की समय (मनुष्य गणना) की रिपोर्टों से "हिन्दू" समाज की सहस्रा परस्पर अस्पृश्य, उपहास्य, बलहीन और तिरस्कार्य उपजातियों का बहुत हाल मालूम होता है। प्रत्यक्ष ही इस प्रान्त में एक जाति शाकद्वीपी ब्राह्मण है। उस जाति के लोग अपनी उत्पत्ति यही कहते हैं कि शाकद्वीप से आये। शाकद्वीप कहाँ है इसका पता नहीं। पर इतिहास से विदित होता है कि दो सहस्र वर्ष से पूर्व शक जाति के लोग भारतवर्ष में उत्तर की ओर से बहुत आये। उन्होंने यहाँ राज भी बनाये। उन्हीं में से अधिकांश अस्त्रशस्त्र के शौकीन क्षत्रिय हो गये, कुछ थोड़े से पोथी पत्रा के शौकीन ब्राह्मण हो गये। इतिहास की विस्मृति इस काष्ठा को पहुँची है कि व्याकरण ग्रंथों में "शाकपार्थिव" का अर्थ 'शाकप्रिय पार्थिव' किया जाता है। सीधा सीधा अर्थ, "शकजातीय पार्थिव", सर्वथा लुप्त हो गया है।

इन सब बातों को देखते हुए, अपने समाज के सुधार के लिये आप लोगों को, जो इस देश के भविष्णु गृहस्थ और कार्य कर्ता हों, वर्ण के तत्व का विचार करना परम आवश्यक है। इस पर आप सबको बहुत ध्यान देना चाहिये। इसके संशोध

पर ही इस देश का भी, तथा दूसरे सब देशों का भी, कल्याण आश्रित है। यह वर्णधर्मतत्व किसी विशेष स्थानिक धर्म की बात नहीं है। किन्तु समस्त मानव समूह संबन्धी "समाज-शास्त्र" की, और उसके शाखाभूत अथवा फलभूत "राजनीति-शास्त्र", "राजशास्त्र," की, तथा उसके मूलभूत "अध्यात्म-शास्त्र" की बात है।

इस तत्व के भूल जाने से ही उस पदार्थ के लिये, जिसको अब "हिन्दू" धर्म के नाम से कहते हैं, पर जिसका ठीक नाम सनातन वैदिक आर्य बौद्ध मानव धर्म है, तथा उस वस्तु के लिये जिसको आजकाल "हिन्दू" समाज कहते हैं पर जिसका ठीक नाम "मानव समाज" है, "महद्भयमुपस्थितम्", भारी भय उपस्थित हुआ है। दोनों ही दिन दिन भ्रष्ट, दम्भाभासग्रस्त, दीन, हीन, क्षीण, परस्पर विवदमान, परस्पर तिरस्कुर्वाण, जंघन्यमान, ह्रस्यमाण, म्रियमाण ही देख पड़ते हैं। सौ की सदी की जगह आज हिन्दुस्तान में "हिन्दू" सत्तर फी सदी से कम हो गये हैं। और दूसरे लोग तीस फी सदी से अधिक हो गये हैं, और रोज स्वयं बढ़ते और इन 'हिंदू" नाम वालों को दबाते चले जा रहे हैं। इसका कारण क्या विचारणीय नहीं है? क्या "मुनिहि हरियरै सूझ" इसी न्याय का अवलंबन करना चाहिये? हमको अपनी ही, अथवा अपने कुल कुटुंब की, अथवा बहुत दिल बढ़ाया तो अपनी अवान्तर जाति, गौड़ या कन्नौजिया या काश्मीरी या महाराष्ट्र या यदुवंशी या सोमवंशी या श्रीवास्तव या माथुर या अग्रवाल या महेश्वरी या अहीर या जाट इत्यादि इत्यादि की ही फिक्र बहुत है, सारे हिन्दू समाज से हमको क्या

मतलब ? शेख सादी ने कहानी लिखी है, बाजार में आग लगी, बहुत से दूकान मकान जल गये। एक दूकान किस्मत से बच गई। और सब तो सिर पीट पीट कर रो रहे थे, इसका मालिक, बेहया, बगलें बजा बजा कर हँस रहा था "कि दुकानि मारा गज़ दे न बूद", पड़ोसी के मकान जल गये तो बला से, हमारी दूकान तो बच गई। क्या यही नीति ठीक है ? आज तो आपकी दूकान बच गई, पर कल जब आपकी दूकान में आग लगेगी तब पड़ोसी भी बचाने नहीं आयेगा, बल्कि खुश होगा, या जान बूझ कर, गुस्से के मारे, आप के घर में आग लगावेगा, और लगावेगा, जैसा हिंदुओं ने, मध्यकालीन इतिहास में, और आजभी अपनी बिरादरी वालों से तिरस्कृत होकर, धर्म बदल कर दूसरे मजहब में जाकर, किया, और कर रहे हैं।

यदि हम लोग इस अल्पदृष्टि वाले स्वार्थ से अंधे बने रहेंगे तो उस स्वार्थ को भी नसावेंगे, परार्थ तो नष्ट हुआ ही।

आपका शास्त्र, आपकी सभ्यता, तो ऐसी है, कि यदि इसका अर्थ, यदि इसके मूल सिद्धान्त, ठीक ठीक समझे जायँ, तो यह न केवल अपना सत्ता का आत्मधारण कर सकती है, बल्कि अन्य सब का भी उद्धारण कर सकती है, सब पतितों का उद्धार कर सकता है। आज काल जो अन्य धर्म चल रहे हैं वे तो किसी मनुष्य को अपने सम्प्रदाय और समाज के अन्तर्गत तब करते हैं जब वह दूसरे धर्म का नाम भी छोड़ दे। यह मानव धर्म तो ऐसा है कि किसी को अपने विशेष धर्म को छोड़ देने को न कहकर, सबको अपने सभामण्डप में बैठने

को स्थान दे सकता है, सबको अपना सकता है। बल्कि यह कहना चाहिये कि देता है और अपनाता है। बात सीधी है, प्रत्यक्ष है।

राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगम धर्म्य सुसुख कर्तुमव्ययम् ॥ (गीता)

राजाओं की विद्या, विद्याओं का राजा, राजों का रहस्य, रहस्यों का राजा, होते हुए भी वह अध्यात्मशास्त्र, और उसके ऊपर प्रतिष्ठित, उसकी नींव पर उठाया हुआ, धर्म, प्रत्यक्षावगम है, चमडे की आँख से देखा जा सकता है। और इसके आचरण में सर्वथा सुख है, और व्यय और हानि कभी नहीं है। प्रत्यक्ष है कि "मानव धर्म" तो मानव मात्र के लिये है, किसी एक देश या काल या जाति के लिये नहीं है।

ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातय ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पचम ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ॥

(मनु)

अर्थात्,

जितने मनुष्य पृथिवी मंडल पर हैं सब चार वर्णों में विभजनीय अथवा विभक्त हैं। तीन द्विजाति, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चौथा एक जाति शूद्र। पाचवं प्रकार का मनुष्य संसार में है ही नहीं। और, इस देश में, भारतवर्ष में, आर्यावर्त में ब्रह्मावर्त में, अध्यात्म शास्त्र की चर्चा अन्य स्थानों से अधिक, प्राचीन काल से, और बडी मात्रा में रही है, इस लिये उचित है कि इस देश में जनमें अग्रजन्मा से, जेठों

बुद्धि वाले, जेठी विद्या वाले, जेठे चरित्र वाले मनुष्य से, पृथ्वीमात्र के मनुष्यमात्र अपने अपने लिये उचित और उपयुक्त वृत्ति, जीविका, "धर्म,कर्म" चरित्र की शिक्षा लें। यह मनुस्मृति की प्रचलित पुस्तकों में लिखा है । जिस समय श्लोक लिखे गये थे उस समय अवश्य ही ऐसा लिखना उचित रहा होगा । पर अब तो इस देश में इस प्रकार के सच्चे अग्रजन्मा जो दूसरे देशवालों को उचित चरित्र विषयक शिक्षा दे सकें प्रायः नहीं ही देख पड़ते। पवित्रम्मन्यता का, आभिजात्य का "हम ऊँची जात वाले हैं," मिथ्या अहंकार ही रह गया है। रस्सी जल गई, ऐंठन रह गई। यदि सच्चे अग्रजन्मा इस देश में पर्याप्त मात्रा से होते तो मानव धर्म की और मानव समाज की यह दुर्दशा न होती।

यह भी प्रत्यक्ष है कि इस मानवधर्म ने अपने हजारों वर्ष के जीवन में, कितनी ही जातियों और उपजातियों और विशेष विशेष धर्मों को अपनी समन्वयशक्ति से वर्णाश्रम के सांचे में ढाल कर उनका प्रणवीकरण कर दिया। प्रणव, अर्थात् ॐकार ध्यात्मक शब्द परमात्मा का निकटतर वाचक है, और इस के तीन अक्षरों में संकेत से सब अध्यात्मशास्त्र भरा है। जो इस गूढ़ अर्थ को जान लेता है, उसका जीवन, नवीन, नव प्रणव ही जाता है, उसका द्वितीय जन्म ही जाता है। इसी से इसको प्रणव कहते हैं। इसके गर्भ में स्थित आत्मविद्या, दर्शनशास्त्र के बल से, नयी नयी जातियों को आर्य मानवसमाज के भीतर लाकर उनका नवीकरण, प्रणवीकरण, पुरा काल में सच्चे अग्रजन्मा करते रहे। सात्विक राजस तामस के भेद से

सैकड़ों प्रकार के उपासक और उनको सकड़ो प्रकार की उपासना और उपास्यदेवता सब इसके भीतर यथा स्थान रख लिये गये, और "बुधस्यात्मनि देवता" यह तारक मन्त्र सबको सुनाया गया।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंशसंभवम्॥

यह विरोधपरिहार का मूलमन्त्र सबके सामने रखा हुआ है छिपा नहीं है। हा, हमारी मोहान्ध आखों ने अपने को ही सूर्य से छिपा लिया है, और हमको गहिरे गर्त में खींचे लिये जा रहा है। नहीं तो आज हिन्दू समाज की यह दशा न होती। प्रत्युत हम लोग जानते और कहते होते कि "ईरान" देश और शब्द 'आर्य" देश और शब्द ही का भागान्तर और रूपान्तर है तथा "ऐरिन" (आयर्लैंड) देश और शब्द तथैव 'आर्य" देश और शब्द तथैव स्यात् "यूरोप" देश और शब्द। और, जैसे शैव, शाक्त, वैष्णव सिख, जैन, बौद्ध आदि अपने अपने आचार्यों और तीर्थों सहित मानववर्ग के अवान्तर सम्प्रदाय बन गये हैं वैसे ही इस्लाम और क्रिश्चन आदि सम्प्रदाय भी इसके अन्तर्गत किये जा सकते हैं, और हैं। जैसे "हिन्दू" समाज में बर्मी, आसामी, बंगाली, बिहारी, उड़िया, मद्रासी, महाराष्ट्र, गुजराती, राजपूत, सिंधी, पंजाबी, काश्मीरी, नैपाली भोटानी आदि अन्तर्गत हैं वैसही चीनी, जापानी, अफगानी, ईरानी, अरबी, तुर्की, यूरोपी, आदि भी सब अन्तर्गत किये जा सकते हैं और हैं, यदि हम "हिन्दू" का नवीन नाम छोड़कर प्राचीन गंभीर नाम 'मानव" फिर से धारण करें। जब तक हमारे हृदय में इतना विस्तार और औदार्य नहीं होता

कि हम उनको अपनावें, बल्कि उनसे छूआछूत, छूआछूत का परहेज करते हैं, तबतक वे भी हमसे द्रोह करते रहेंगे।

जब हमारे हृदय में यह सद्भाव और परमात्मा का सर्वसमन्वयकारिणी शक्ति का पुनर्वार उदय होगा, और जब यह पुनर्वार ठीक पहिचान लिया जायगा कि वर्णव्यवस्था में, समाजनिर्माण में, (सम् अजति जना यस्मिन् स समाज), तप और श्रुत का कितना बल है और योनि का कितना [तप श्रुतं च योनिश्च द्विजत्वे कारणं स्मृतं । (मनु)] कर्मणा का कितना जन्मना का कितना, शील का कितना कुल का कितना, वृत्त का कितना जाति का कितना, जब यह लोग समझ लेंगे कि जन्म भी कर्म से होता है [विष्णुत्वं च शिवत्वं च कर्मणैव हि लभ्यते । (देवी भागवत)], कर्म मुख्य है और जन्म गौण है (वृत्तमेवतु कारणम्—यह युधिष्ठिर ने सर्प अर्थात् नाग जातीय मनुष्य से निश्चय करके कहा है, क्योंकि तीनोंगुण प्रत्येक मनुष्य मे वर्तमान हैं), तब ही यह वर्णव्यवस्था ठीक होगी और इसम नानवमात्र का समन्वय, समावेश, संचय, संग्रह, हो सकेगा।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि ।

और वर्णविभाग की व्यवस्था के साथ साथ कर्मविभाग और वृत्ति अर्थात् जीविकाविभाग (अर्थात् किस प्रकृति का, किस विशेष स्वभाव गुण-कर्म का, किस वर्ण का मनुष्य किस किस वृत्ति से जीविका करे और दूसरी वृत्तियों को न छुए), तथा शुल्क विभाग, अर्थात् किस वर्ण को अधिक सम्मान आदर, किसको अधिक आज्ञाशक्ति, ईश्वरभाव, अधिकार, किसको अधिक अन्न, किसको अधिक क्रीड़ा विनोद आदि मिले), इसकी भी

परमावश्यक व्यवस्था होगी। क्योंकि बिना इन सब बातों की व्यवस्था किये, केवल वर्ण की व्यवस्था, मनुष्य को शारीर मानस आदि प्रकृति को देख भाल कर भी, करना व्यर्थ है। इन दूसरी बातों की भी व्यवस्था साथ ही साथ होने से वर्णव्यवस्था सार्थक होती है, और शिक्षा-सम्बन्धी (एज्यूकेशनल), व्यवसाय-व्यापारसम्बन्धी (ईकोनामिकल), सामाजिक आदर सत्कार और उच्चावचता सम्बन्धी (सोशल), राजनीतिक (पोलिटिकल) आदि सभी जटिल प्रश्नों का उत्तर ठीक ठीक मिल सकता है।

इस विषय पर मैंने दूसरे स्थानों में चर्चा की है। यहाँ अधिक विस्तार करना ठीक नहीं। विषय के गौरव के कारण इतना भी कहा। क्योंकि विद्या आपने पढ़ी, उसकी सफलता, उसकी चरितार्थता, आपके सामाजिक जीवन में ही होगी, और जिस समाज में आपको रहना है उसको सुव्यवस्थित करने और रखने में सहायता करना, यह आपका एक परम कर्तव्य होगा, और इस कर्तव्य का आप, बिना आत्मज्ञान के, पालन नहीं कर सकेंगे।

प्रकृति की संस्कृति।

इस आत्मज्ञान और तदाश्रित मानवधर्म का मुख्य काम और मूलमन्त्र इतना ही है कि जो कुछ प्रकृति में है (और सभी परस्पर विरुद्ध बातें इन द्वन्द्वमय, दो दो विरोधी जोड़ा जोड़ा वाली, प्रकृति अथवा संसार में हैं) उन सबका यथाकाल, यथास्थान, यथा प्रयोजन, मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक

जीवन के सुख और उत्कर्ष के लिये, संस्कार, परिष्कार, और नियमन करके उपयोग किया जाय। किसी वस्तु को भी नितान्त बुरा कहके संसार के बाहर निकाल देने का निष्फल और मिथ्या प्रयत्न न किया जाय। मैला भी "खाद" के काम में आता है, उचित समय में उचित स्थान पर डालने से खेती के लिये, फूल फल के पौधे पेड़ों के लिए, "खाद," उत्तम पोषक भोजन हो जाता है। अति सत्य भी अतिशय [illegible] लोक का अहितकर हो सकता है। तथा गर्मी के दि[illegible] भी अपने शरीर को कपड़े से ढाकना, यह मिथ्या आचरण [illegible] जा सकता है, क्योंकि वस्तुस्थिति को छिपाना [illegible] पर नहीं, यह मिथ्या आचरण हो शिष्टसम्मत [illegible]। इसलिये,

आश्रयेन् मध्यमा वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्।
यल्लोकहितमत्यन्त तत्सत्यमिति न श्रुतम्॥

अर्थात्, बीच का रास्ता पकड़िये, किसी भी [illegible] की अति न कीजिये। जिस बात से, जिस उपाय से, [illegible] लोक का अधिकतम हित हो, वही सत्य है। महाभारत के शाति पर्व के इस श्लोक ही की व्याख्या पाश्चात्य "[illegible]रियन"-वाद है।

यही इस प्रकृति की संस्कृति का, इसके संस्कार [illegible]कार का, बीजमन्त्र है।

नामन्त्रमक्षर किंचिन् न च द्रव्यमनौषधम्।
नायोग्य पुरुष कश्चित् प्रयोक्त च दुर्लभः॥

यह भी उसी बीज मन्त्र का साथी और पूरक है।

अर्थात, कोई अक्षर नहीं जिसमे मन्त्रशक्ति नहीं, कोई द्रव्य नहीं जिसमे औषधशक्ति नहीं कोई मनुष्य नहीं जिसमे कोई भी योग्यता नहीं। पर उस शक्ति उस योग्यता का पहिचान कर उससे उचित काम लेने वाला ही दुर्लभ है।

आश्रम समन्वय।

ब्रह्मचर्य आश्रम।

जैसे मनुष्यों के भेदों का कर्मों का, वृत्तियों का, जीविकाओं का, गुणों का समन्वय, वर्ण के नाम से, मानव धर्म में किया है, वैसे ही मनुष्य के जीवन के प्रकारों के भेदों का भी समन्वय आश्रम के नाम से किया है। सहस्रों प्रकार से मनुष्य अपना जीवन बिता रहे हैं। कोई कुछ कर रहा है, कोई कुछ, तो भी विचार से देखिये तो आप इन अनंत प्रकारों को चार मुख्य राशियों मे बाँट सकेंगे। अर्थात् (१) जीवनोपयोगी, लोकोपयोगी, पुरुषार्थचतुष्टय-साधनोपयोगी ज्ञानसंग्रह, (२) धनोपार्जन, धनोपार्जन, विवाह, संतान, कुटुम्बपोषण, (३) परोपकार, (४) परलोक की चिन्ता और तयारी। याद रखिये कि "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" का नियम, जिस पाठ में आये है, यहाँ भी जैसे अन्य सभी स्थानों में, अनुसरण है, चारों प्रकार के काम जीवन में मिश्रित मिलते हैं पर एक एक में एक प्रकार का विशेष व्यंजन होता है। पहिले दो आश्रमों में स्वार्थ की प्रधान, दूसरे दो में परार्थ का प्रधान होना चाहिये।

आदौ वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यसि॥

पहिली उमर में पढ़ा नहीं। दूसरी में कमाया नहीं। तीसरी में तप नहीं किया, तो चौथी में सन्यास कठिन है।

बाल्यावस्था और यौवनारंभ में अधिकांश मनुष्य, क्या सभी मनुष्य, ज्ञानसंग्रह में, विद्योपार्जन में, लगे रहते हैं। नली, पटिया, कलम, कागज, रौशनाई, पुस्तक आदि से ही विद्या नहीं आती। किसी भी प्रकार से ज्ञानसंग्रह होना चाहिये। पशु-पक्षी भी अपनी सन्तान को आहार खोजने और आत्मरक्षा करने के उपायों की शिक्षा देते हैं। शिक्षा का उद्देश्य यही है कि उस ज्ञान की सहायता से अपना, अपने कुल कुटुम्ब का, अपने समाज का, भला कर सके। इहलोक और परलोक मानसी भला भी, और परमार्थ निश्रेयस सर्वथा भला भी—जहाँ तक जिसके ज्ञान की गति हो वहाँ तक।

ब्रह्मचर्य की अवधि।

जितना ही अधिक ज्ञान का सञ्चय इस पहिली अवस्था में मनुष्य कर लेगा उतनी ही उसकी स्वोपकार और परोपकार की शक्ति अधिक होगी। पर सबकी शक्ति, सबकी सामग्री, सबकी अवस्था, एकसी नहीं होती। इसलिये इस विषय में समन्वय मनु ने यों किया है,

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥

गुरुकुल में छत्तीस वर्ष रह कर "त्रिवेद" शब्द से सूचित समग्र ज्ञानसमूह प्राप्त करे। इतना न बने तो इसका आधा। नहीं तो चौथाई। अथवा अपनी कुलपरम्परा के अनुसार, अथवा जो जीविका, वृत्ति, व्यवसाय, व्यापार, आगे करना इष्ट हो उसके उपयोगी, जिस विशेष ज्ञान की इच्छा हो उसके शास्त्र का ग्रहण जब तक सम्पन्न न हो जाय तभी तक। जिससे जितना बन पडे उतना ही सही। पर कुछ न कुछ विद्यासंग्रह करना।

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ।

इस अवस्था का नाम ब्रह्मचर्य रखा है। "सम्यक् कृत" "संस्कृत" भाषा के मुख्य मुख्य प्राचीन शब्दों में बहुत अर्थ रखा है।

बृहत्वाद् बृंहणत्वाद् चाऽऽत्मैव ब्रह्मेति गीयते।

आत्मा ही का नाम ब्रह्म भी है। क्योंकि बृहत् है, परम महान् महतो महीयान् है, ब्रह्मा के रूप से समस्त संसार का बृंहण प्रसारण करता है, और यद्यपि छोटे से शरीर में बँध गया है, तो भी जितना चाहता है बढ़ जाता है। "हम गुरुकुल निवासी" कहने से इस संस्था से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी सैकड़ों मनुष्य हैं उन सबमें "हम" रूपी आत्मा व्याप्त हो गया। "हम काशीवासी" कहते ही दो लाख आदमी के बराबर हो गया, और इसकी सत्ता केवल दो लाख मनुष्यों ही में नहीं, किंतु उनकी जायदाद मिल्कीयत मकान असबाब सबमें अहंता ममता रूपेण व्याप्त हो गई। "हम भारतवासी"

कहते ही यह बत्तीस करोड़ मानवों के तुल्य हो गया। "हम मनुष्य" कहा और डेढ सौ करोड़ मनुष्य इसके विराट् बौद्ध शरीर में आ गये। "हम चेतन जीव" कहते ही अनन्त हो गया। "अचेतन्य न विद्यते", ऐसा कोई परमाणु नहीं जो चैतन्य रहित हो। यह तो हुआ बौद्ध बृंहण।

शारीर बृंहण की शक्ति भी इसमें है। "एकोऽहम् बहु स्याम्"। अपने सदृश सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति प्रत्येक परमाणु में है। मनुष्य समाज के अनन्त, असंख्यातीत, माता पिता, मातामह मातामही, पितामह पितामही, हो गये, और उसके आगे भी अनन्त पुत्र पुत्री, पौत्र पौत्री, नप्ता नप्त्री की परम्परा प्रलयकाल तक चली जायगी। इस अनंत सन्तानोत्पादक शक्ति का स्वरूप कहिये, इसका बीज कहिये, ब्रह्म ही है।

इन सब ब्रह्मों का, ज्ञानरूपी, वेदरूपी, शास्त्ररूपी, बुद्धिरूपी, ब्रह्म का, तथा अन्नरूपी, बीजरूपी, शुक्ररूपी, ब्रह्म का, मूलरूप वही चेतनामय आत्मा है। आत्मा शब्द का भी अर्थ यही होता है।

> अत्ति सर्वांश्च विषयानत्येत्यपि च तांस्तथा।
> सर्वत्रातति सर्वेषु देहेष्वपि च सर्वथा।
> यस्माच्चास्याततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

सब विषयों का विषयी है, स्वाद लेने वाला है, सब भोगों का भोगता है तो भी सबसे अतीत है, सबसे परे है, सब स्थानों में सब देशों में सब देहों में सब प्रकारों से भ्रमण भी सदा करता रहता है और सब में एक साथ ही आतत और व्याप्त भी है—इसलिये इसको आत्मा कहते हैं।

ज्ञानब्रह्म और शुक्रब्रह्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैद्यक शास्त्र का सिद्धांत है कि आहार के परिपाक से क्रमशः सात धातु स्थूल शरीर के बनते हैं,—रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, शुक्र। आहार का सातवां परिपाक अथवा परिणाम सप्तम और सर्वान्तिम धातु शुक्र है, जिसमें नवीन प्राणिशरीर आरम्भ करने की शक्ति है, ईश्वर सदृश सृष्टि शक्ति है। उसका निरोध और आत्मिक परिपाक होने से अष्टम परिणाम सूक्ष्म-शरीरांतर्गत ओजस्, महस, बल, तेजस्, अर्थात् क्रमशः शरीर की मांसपेशियों का, इन्द्रियों का, हृदय का, बुद्धि का, बल, वीर्य, शक्ति रूप होता है।

ब्रह्मचर्याश्रम में इन दोनों ब्रह्मों का, अर्थात् ज्ञानब्रह्म और शुक्रब्रह्म का, जितना सञ्चय करते बने उतना ही पीछे काम देगा, उतना ही अधिक बुद्धि का बल और शरीर का बल अपने लिये, अपने कुल कुटुम्ब के लिये, अपने समाज के लिये, सुख साधने के वास्ते पास रहेगा। इसीसे इस अवस्था का नाम ब्रह्मचर्य है, अर्थात् ब्रह्मसञ्चयानुकूल चर्या, आचरण।

जो मनुष्य, जो जाति, जो धर्म, ऐसे ब्रह्मचर्य का आदर नहीं करते, वे शीघ्र ही बल वीर्य बुद्धि से हीन हो जाते हैं, और संसार में उनका क्षय अनादर होने लगता है। ज्ञानब्रह्म से शुक्रब्रह्म, शुक्रब्रह्म से ज्ञानब्रह्म, मनुष्य के स्थूल और सूक्ष्म शरीर में व्यक्त होता है, उससे इन दोनों का समान आदर करना उचित है। एक ही ब्रह्मशक्ति के अनन्तरूप हैं, स्थूल भी, सूक्ष्म भी, शारीर भी, मानस भी। महत् बुद्धि की परिणति विकृति सांख्योक्त महाभूतादि हैं, और इनका प्रतिप्रसव पुन

वुद्धि में और मूल प्रकृति में। इसीलिये मनु ने कहा है,

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।

तथा अन्य ऋषि ने,

पाके रसस्तु द्विविधः प्रोच्यतेऽन्नरसात्मकः।
रससारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम्॥

अर्थात् भोजन को पूजाबुद्धि से, आदरदृष्टि से, बरते। तब उससे शरीर में बल और ऊर्ज (फुर्तीलापन, अँग्रेजी में "एनअर्जी") उत्पन्न होते हैं। अन्न के रस का जो सारतम अंश है वह शुक्ररूप सनातन ब्रह्म है। सात्विक भोजन, शुद्धभाव से, इस प्रार्थना से, इस भावना से, इस धारणा से, ब्रह्मचारी को करना चाहिये, कि यह भोजन मेरे शरीर में सात्विक बल-वीर्य-ज्ञान उत्पन्न करे। सात्विक राजस तामस भोजनों के भेद गीता में तथा वैद्यक के ग्रंथों में बताये हैं। अन्न के रस के परिपाक का जो सार है वह साक्षात् सनातन ब्रह्मस्वरूप शुक्र है, जिसका व्यर्थ क्षय नहीं करना चाहिये।

खानपान के बारे में "छूओ मत" की जो अधाधुंध आफ्त आजकल इस अभागे देश में मची है उसके असद् अंश को छोड़कर जो सद् अंश बचता है उसका सात्विक हेतु, असल मतलब, यही है कि भोजन शुद्ध और सात्विक होना चाहिये, स्वच्छ शुचि आदमियों के हाथ का बना और परोसा होना चाहिये, स्वच्छ शुचि आदमियों के साथ बैठ के खाया जाना चाहिये। सो तो होता नहीं, स्वच्छता सात्विकता, भोज्य पदार्थ की अथवा बनाने परोसनेवाले अथवा साथ खाने

वाले को, तो देखी नहीं जाती, जाति का नाम ही देखा जाता है, "छूओ मत", "छूओ मत", यही पुकार पुकार कर पवित्र मन्यता और दम्भ और अहंकार का सन्तोषण पोषण किया जाता है, तथा इस परस्पर असपृश्यता से परस्पर स्नेह और तज्जनित सघ शक्ति को हत्या की जाती है, और दूसरा को निमन्त्रण दिया जाता है कि ऐसे छिन्न भिन्न हिंदुओं को रोज जूतियां लगावें। कबीर ने यही देखकर गाया और रोया था

चौका भीतर मु ि पाक, हाथ धोयके जेवें।

पशु का मुर्दा तो पेट के भीतर डालेंगे, इसमें अपनी परम अशुचिता नहीं देखेंगे। पर यदि उसी मुर्दे को पकाते समय दूसरी अवान्तर जाति का जीवन्मनुष्य, अपने से रूप रंग में अधिक स्वच्छ भी, छू दे, तो "छू गया", "छू गया" का हौरा मचावेंगे। इस दम्भ का फल सिवा विनाश के और क्या हो सकता है।

शिव-शक्ति-पूजा का भी ऐसी दुर्दशा हो रही है, और ऐसे ही उसका भी असल मतलब भूला हुआ है। असल मतलब यह था कि परमात्मा की अनत-रूप धारणशक्ति, बहुत्वशक्ति, प्रजनन-शक्ति, पितृत्व-मातृत्वशक्ति का परम आदर किया जाय, और कभी दुष्प्रयोग न किया जाय। उत्तम विवाह, उत्तम दाम्पत्य, उत्तम गार्हस्थ्य में उसका सत्प्रयोग और सदुदाहरण हो। हो क्या रहा है? शिव पूजा के नाम से केवल पिंडिका पर कुछ दाने अक्षत, दो चार पत्ते फूल, एक लोटा जल फेंकना, पुजारियों की पुकार पर पैसे भी फेंक देना, मन्दिरों के भीतर धक्कमधुक्का करना। और शक्तिपूजा के नाम से वाममार्ग के

भी पंचमकार के आचार विचार कर डालना। गार्हस्थ्य के सम्बन्ध में विवाह के विषय पर और कहा जायगा।

ब्रह्मचर्य के विषय को समाप्त करते हुए यहाँ इतना और वक्तव्य है कि कहावत ही है कि पहिले कमा लो तब खर्च करना। जितनी कमाई पहिले अधिक कर लो जायगी, उतना ही ऐश्वर्य पीछे निबाहने बनेगा। पर यहाँ भी "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का सिद्धान्त याद रखना चाहिये। बहुकाल पर्यंत, अथवा नैष्ठिक, ब्रह्मचर्य, इने गिने ही जीव कर सकते हैं। ठीक ठीक नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुराणेतिहास में चार सनत्कुमारादि ऋषि, हनूमान् और भीष्म और संशयित रूप से नारद, सरस्वती, आदि, ऐसे बहुत थोड़े ही दिखाये हैं। सब शरीर ऐसे नहीं होते कि चिरकाल तक ब्रह्मचर्य के तपस् को कर सकें, सच्चे ऊर्ध्वरेतस् हो जायँ, और आहारजनित समस्त शुक्र का परिणमन उन सूक्ष्मतर रसों में कर डालें जिनसे मस्तिष्क के तथा शरीर-नाडी-व्यूह के अभी सुप्तप्राय चक्रों का तर्पण पोषण और जागरण होता है, और सूक्ष्म शरीर की इन्द्रियों का विकास होकर योगसिद्धियां प्राप्त होती हैं। साधारण शरीरों में, अतिकाल और अतिमात्र ब्रह्मचर्य करने से बीमारी और तरह तरह के विकार, शारीर और मानस, पैदा हो जाते हैं। जैसे कृपण सूम के घर में धन का अति सञ्चय होकर, समाज में सञ्चार न होने से, सामाजिक उपद्रव पैदा हो जाते हैं। काम को अति-मात्र रोकने से काम का सगा छोटा भाई क्रोध प्रबल हो जाता है। "बालब्रह्मचारी अति कोही" इस वाक्य में, तुलसीदास ने आध्यात्मिक दर्शक की बात दिखाई है। सच्चे तपस्वी, "स्वम-

दासास्तपस्विन ", अकसर चिड़चिड़े होते हैं। पुराण की कथा भी है कि विष्णु की डेवढ़ी पर जय और विजय ने सनत्कुमार आदि कुमार ऋषियों को जरा सा कहा "कि आप यहाँ थोडा आराम कर लें, कुर्सियों पर बैठ जायँ, सरकार अभी प्रात कृत्य से निवृत्त नहीं हुए ज्यों ही मिलने के कमरे में आवेंगे आपको ले चलेंगे।" पर इतने ही से "कामानुजेन सहसा त उपाप्लुताक्षा ", काम के अनुज क्रोध से उन कुमारो की आँखें लाल हो गई, शापाशापी की नौबत आ गई, जय विजय को भी तीन जन्म लेने पडे, कितने ही सनत्कुमारादि के भाइ भतीजे ऋषियों को वे दैत्य-राक्षस रूप से भोजन कर गये, विष्णु जी को भी एक ओर भक्त ऋषियों और एक ओर मुँहलगु नौकरों के बीच में निपटारा करते करते तीन अवतारों की दुर्दशा भोगनी पड़ गई। इसलिये साधारण जीव को ब्रह्मचर्य में भी "अति" बचाने की आवश्यकता है कि वातव्याधि, उन्माद, अपस्मार, अतिक्रोध, अतिक्षोभ, प्रमेह, क्षय, आदि न उत्पन्न हो जायँ।

गार्हस्थ्याश्रम

इसलिये ब्रह्मचर्य को यथा शक्ति उत्तम प्रकार से निबाह कर विवाह करना उचित है।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्। (मनु)

इस आश्रम की महिमा पहिले कह चुका हूँ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एत गृहस्थप्रभवाश्चत्वार पृथगाश्रमा ॥
सर्वेषामपि चैतेषा वेद श्रुतिविधानत ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ (मनु)

चारों आश्रम गृहस्थ ही से उत्पन्न होते हैं। वेद का निर्णय है कि सब आश्रमों में श्रेष्ठ गृहस्थ ही है। यही अपना भी और अन्य तीनों का भी भरण पोषण करता है। आदि जायापती प्रकृति-पुरुष हैं। अन्तिम भी। और सार्वकालिक, शाश्वत, दम्पती भी ये ही हैं। पुरुष प्रकृति को, स्व और स्व-भाव को, ब्रह्म-माया को, शिव-शक्ति को जीव देह को, आत्मा-बुद्धि को, चाहे एक कहिये, चाहे दो अर्धाङ्ग, दो दक्षिण-वाम अर्द्ध, कहिये, चाहे दो कहिये, जाया-पती, जोड़ा कहिये, चाहे अनन्तानन्त अनेक कहिये, बात प्रत्यक्ष है। फारसी की प्रसिद्ध गीत है।

मन् तू शुदम् तू मन् शुदी,
मन् जाँ शुदम तू तन् शुदी।
ता कस् न गोयद् बाद् अज् ईं,
मन् दीगरम् तू दीगरी ॥

अर्थात्,

मैं तू हुआ तू मैं हुई, मैं जान हुआ तू तन हुई।
अब तो न कोई फिर कहे—मैं दूसरा तू दूसरा॥

वेदोपनिषत् के सारमय शब्दों में सृष्टि का मूल कारण ही यही कहा है कि अकेले परमात्मा का मन नहीं लगा।

"एकाकी नारमत, आत्मानं द्वेधा व्यभजत, पतिश्च पत्नी चाभवम्।" मनु ने पूर्ण मनुष्य का स्वरूप ही त्रिमूर्त्यात्मक कहा है।

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद् यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना॥

पति, पत्नी, सन्तान, तीनों मिलकर पूर्ण पुरुष होता है। पौराणिक त्रिमूर्ति, ईसाई मत की "ट्रिनिटी", मनुष्य के तथा

सूर्य के तीन शरीर स्थूल-सूक्ष्म-कारण—इन सब के मूल में समानता है। पर इनके विशेष विवरण में पड़ने का यह अवसर नहीं है।

व्यक्ति-कुल-जाति आदि समस्त मानववंश का समन्वय

इस श्लोक के आशय की एक बात ध्यान में रखने की है। पश्चिम के समाजशास्त्रियों और राजशास्त्रियों ने व्यक्ति रूप मनुष्य को, "इंडिविज्युअल" को, समाज का आरम्भक अवयव अथवा "अणु", "यूनिट्", केंद्र, माना है। भारतवर्ष के ऋषियों ने त्रिमूर्त्यात्मक कुल को, "फैमिली" को, ऐसा आरम्भक अवयव माना है। इसी कारण से, जैसा केन्द्र में भेद है वैसा परिधि में भी भेद है। जैसा व्यष्टि में वैसा समष्टि में। पच्छिम की सामाजिक परिधि "जाति", "नेशन्", "राष्ट्रीयता", "नैशनलिज्म", इत्यादि है। भारतवर्ष के लिये यह परिधि "मनुष्य जाति", "ह्यूमन् रेस्", "विश्वजनीनता", "ह्यूमनिज्म" है। और इसी विश्वजनीन भाव को लेकर वर्ण-व्यवस्था एक ऐसा साँचा, आध्यात्मिक सिद्धांत के अनुसार, बनाया गया है, कि इसमें मनुष्य मात्र की अनन्त जात्युप-जातियाँ, समग्र पृथिवीमण्डल के सब देशों की, अपनी अपनी गुण कर्म योग्यता के अनुसार यथास्थान समाविष्ट की जा सकती हैं, और उनके परस्पर विवादों को मिटा कर, सबको मिलाकर, एक चातुर्वर्ण्यात्मक मानव महासमाज बनाया जा सकता है। ऐसा कोई देश नहीं और कोई काल नहीं, जिसमें

बीसियों सैकड़ों, अथवा हजारों, छोटी बड़ी जातियाँ, विविध नामों से पुकारी जाती हुई न पाई जायँ। पर अध्यात्म विज्ञान के सिद्धांतों के बल से सबको एक समाज में गूँथने का उपाय और प्रयत्न विशेषत: मानवधर्म ही ने प्राचीन काल में किया। पर आज उस धर्म की और आध्यात्मिक सिद्धांतों की ऐसी दुर्दशा है कि अन्य देशों से अत्यधिक इस देश में जातरूप जातियों में परस्पर विश्लेष है। जाति शब्द का अर्थ दूसरा है, वर्ण का अर्थ दूसरा। इन दोनों अर्थों और शब्दों का सङ्कर कर देने से वर्तमान अव्यवस्था और निर्मर्यादता उत्पन्न हुई है। जन्मना जाति। स्वभाव-गुण कर्मानुसार आजीविकार्थं वृत्त्युपाय वियते इति कर्मणा वरणाद् वर्ण। जाति का अर्थ जात। वर्ण का अर्थ जीविकोपाय, पेशा, रोजगार, जो अपने अपने स्वभाव गुण कर्म के अनुसार वरण किया जाय चुन लिया जाय। सिंह जाति की सन्तान सिंह जाति। बकरी जाति की सन्तान बकरी जाति। हाथी जाति की सन्तान हाथी जाति। पर अध्यापक (ब्राह्मण) वर्ण की सन्तान तो सिपाही (क्षत्रिय) वर्ण अथवा दूकानदार (वैश्य) वर्ण, अथवा बोझा ढोने वाले, मिहनत मजदूरी करने वाले (शूद्र) वर्ण के, तथा इसके विलोम, प्रत्यक्ष, लक्षश, देख पड़ते हैं।

स्त्रीपुरुष-तुलना-समन्वय

अस्तु, पूर्वोक्त श्लोक से यह तो स्पष्ट ही है, कि स्त्रीपुरुष की आदरणीयता तुल्य मानी है। अथवा स्त्री का आदर अधिक किया है।

जीर्णे भोजनमात्रेय गौतम प्राणिना दया।
बृहस्पतिरविश्वास भार्गव स्त्रीषु मार्दवम्॥

चार ऋषियों के चार मुख्य उपदेश हैं। एक बार भोजन किया हुआ अन्न जब जीर्ण हो जाय, अच्छी तरह पच जाय, तब ही दूसरी बार भोजन करना। प्राणिमात्र पर दया करना। विश्वास करते हुए भी अत्यन्त रूप से श्रद्धान्ध और परप्रज्ञ न हो जाना, विश्वासपात्र को जाँच करके उस पर विश्वास करते हुए भी स्वयमप्रज्ञ बने रहना और स्त्रीमात्र से मृदुता, नम्रता, प्रश्रय का व्यवहार करना कभाई तिरस्कार, क्रूरता का व्यवहार कदापि न करना। शिष्टों का आचार भी यही है। नामोच्चारण में पहिला स्थान पत्नी को, दूसरा पति को, देना। यथा सीताराम, शारदाचतुर्मुख, लक्ष्मीनारायण, गौरीशंकर, इत्यादि। परमात्मा की प्रकृति के ये तीन जोड़ आद्य आविष्कार हैं। और लक्ष्मी, ब्रह्मा रज प्रधान, सरस्वती और विष्णु, सत्वप्रधान, उमा-महेश्वर तम प्रधान। रज-कर्म का विवाह सत्व ज्ञान से किया जाता है। बिना कर्म के ज्ञान निष्फल, बिना ज्ञान के कर्म व्यर्थ और अनर्थ। तमस्-इच्छा तो ज्ञान और कर्म दोनों की प्रेरक, शिव रुद्र, भव-हर, गौरी-काली, राग-द्वेष, काम-क्रोधात्मक, सदाशम्भ्वद्ध अंगार्धद्वयरूपिणी है। ये ही आद्य तीन जोड़े, महागृहस्थ, संसार के सब कार्य चलाते हैं, और सब महर्षि परमर्षि यति सन्यासी आदि के परम पितामह हैं।

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेःपत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयां।

तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिस्सीममहिमे
महामाये विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि ।

(आनन्दलहरि)

मानवधर्म में स्त्रियों का आदर इतना है कि, पुरुष से तुलना की कथा दूर, स्त्रीपुरुष परस्पराधीन माने हैं। दोनों मिल के ही शरीर पूर्ण होता है।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥ (मनु)

स्त्री का नाम ही गृहलक्ष्मी, गृह की अन्नपूर्णा है। जहाँ स्त्रिया का आदर होता है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं। जहाँ स्त्रियों का आदर नहीं वहाँ सब क्रिया कर्म, सब यत्न परिश्रम, निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं। मातृत्वेन तो स्त्री का स्थान उपाध्याय, आचार्य, पिता आदि सबसे सहस्र गुण ऊँचा है, यह पहिले कह आये हैं। वस्तुस्थिति यही है,

मातृवात्सल्यपूर्णाभिः सतीभिर्धार्यते जगत्।

बच्चों के लिये माता का जो स्नेह है वही जगत् को धारे है। माता का स्नेह और प्राण ही दूध के रूप से मूर्तिमान होकर नयी नयी पुश्त का पालन पोषण करता है, नहीं तो मनुष्य जाति उच्छिन्न हो जाय।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्यापचितिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

बच्चे के पालने में जो क्लेश माता पिता उठाते हैं उसकी, अपचिति, उसका प्रत्युपकार, उसका ऋणनिर्मोचन, सैकड़ों वर्ष के

परिश्रम से भी पुत्र नहीं कर सकता है। उसका ऋणनिर्मोचन का अकेला उपाय यही है कि वह अपनी संतान के लिये वैसा ही क्लेश उठावे जैसा उसके माता पिता ने उसके लिये उठाया। जैसे बहुतेरे पुराने श्लोकों के अर्थ का अनर्थ किया जाता है, वैसे इस संबंध में भी मनु के एक श्लोक की दुर्दशा हुई है। "व्याख्या बुद्धिवलापेक्षा", यदि सात्विक बुद्धि से अर्थ किया जाय तो सात्विक अर्थ निकलेगा, यदि राजस तामस बुद्धि से तो राजस तामस। जैसा चश्मा वैसा दृश्य का रंग।

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे किसी बहुमूल्य वस्तु की रक्षा की जाती है, रखवारी की जाती है, उस प्रकार से स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये, क्लेश और दुःख से उनको बचाना चाहिये, इस लापरवाई से छोड़ न देना चाहिये कि अपनी फिक्र आप कर लेंगी, अपनी मुसीबतें आप झेल लेंगी। "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" का यह अर्थ नहीं है कि स्त्री को गुलाम बना लेना चाहिये, पिंजरे में बंद कर देना चाहिये। यदि बांधना ही है तो परस्पर प्रेम की रस्सी से बांधो, लोहे की सिकड़ी से नहीं।

पश्चिम के शिष्टतम और स्वच्छन्दतम समाज में भी यही प्रथा है कि जहाँ कहीं जाने आने में किसी प्रकार के तिरस्कार, अपमान, या शारीरक्लेश का भय हो, वहाँ स्त्रियों के साथ उनकी रक्षा करने के लिये रिश्तेदार या जाने पहिचाने विश्वास-पात्र पुरुष साथ जाते हैं। हाँ, सब उत्सर्गों के लिये अपवाद

होते हैं। जो विशेष विशेष स्त्रियाँ ऐसी हों कि अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हों, उनके लिये यह श्लोक नहीं है। पश्चिम में यदि कोई कोई स्त्रियाँ सिंह का शिकार उत्तम बन्दूक आदि की सामग्री के बल से कर लेती हैं, तो भारतवर्ष में तो प्रायः जङ्गलों में अथवा जंगलों के आस पास रहने वाली जातियों में ऐसी स्त्रियाँ अक्सर पाई जाती हैं जो वन्य पशुओं का मुकाबला और उनसे अपनी और अपने बालकों की रक्षा बहुत साधारण हथियारों के बल से कर लेती हैं। ऐसी स्वयंरक्षित स्वतन्त्र स्त्रियों के भाव का अभाव भारतवर्ष के साहित्य और इतिहास में नहीं है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पुराणों की सिंहवाहना दुर्गा के स्वरूप से तथा राजपूताने के इतिहास से सिद्ध है। स्वयंरक्षितता का तो कहना ही क्या है, जगद्रक्षकता का काम दुर्गा देवी का मुख्य है। महिषासुर और शुंभ निशुंभादि के वध का जो काम देवों से नहीं बना वह देवी ने किया। अपने बालकों की रक्षा के लिये मनुष्य जाति की कोमलतम स्त्रियाँ भी सिंहिनी हो जाती हैं। अन्यथा, स्त्री का साधारण स्वभाव ही है कि रक्षा चाहती है, रक्षक का आश्रय लेना चाहती है ("लोकृस् प्राटेक्शन")—यह पश्चिम के स्त्री-पुरुष-स्वभावतत्त्वगवेषक वैज्ञानिकों ने भी निश्चय किया है।

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
नि शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥
　　　　　　　　　　　　(सप्तशती)

अर्थात्, आत्मा की शक्ति रूपिणी जिस देवी ने "इद", "यह", "दृश्य" नाम वाले सारे जगत, गमनशील, परिवर्त्तनशील संसार को बनाया और फैलाया है, जो अनंत देवतात्मक शक्तियों की समूहरूपिणी है (आत्मैव देवता सर्वा), जिसकी ही उपासना हृदय से सब देव और सब महर्षि करते हैं, उस अम्बिका को, जगत्मातृ, जगद्धात्री, शक्ति को, भक्तिपूर्वक नमस्कार है, वह हम सबका भला करे।

देवताभेद-समन्वय

जैसा मैं फिर फिर कहा करता हूँ, असल में देवता तीन ही हैं, जिन्हीं की पूजा सब देश और सब काल में, सब जाति और सब धर्म के सब मनुष्य, सदा करते आये, करते हैं और करते रहेंगे, चाहे वे ईसाई हों या मुसल्मान, यहूदी या पारसी, जैन या बौद्ध। संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने वाले भारतीयों का तो कहना ही क्या है। अर्थात् सरस्वती, ज्ञान की देवता, लक्ष्मी, धनदौलत, शानशौकत, शोभासम्पत्ति, ऐश्वर्य, तुजुकोह सत, की देवता तथा गौरी, प्राण की, अन्न की, प्रजन की, स्मरोदय, दाम्पत्यसुख और सन्तान का देवता, जिनके अनन्त रूपान्तर, (रागद्वेष के अनन्त रूपान्तरों और विकारों के अनुसार), अन्नपूर्णा, पार्वती, उमा, दुर्गा, चंडी, काली आदि हैं। ये ही तीन, परमात्मा की शक्ति की तीन मुख्य रूप हैं। इन्हीं शक्तियों की उपासना संसार मात्र कर रहा है। और सब स्त्रियाँ और सब विद्या शक्तिस्वरूप ही हैं। शक्ति ही की भेद और कला हैं।

विद्या समस्तास्तव देवि भेदा
स्त्रियः समस्तास्सकला जगत्सु ।

इन्हीं गृहसरस्वती, गृहलक्ष्मी, गृहगौरी, गृहान्नपूर्णा के प्रसन्न रहने से गृह समृद्ध, सम्पन्न, हँसते, खेलते, नीरोग, हृष्ट पुष्ट बालकों से पूर्ण रहता है, जिनके दर्शन से नेत्र तृप्त होते हैं और घर घर में राम कौसल्या, कृष्ण-यशोदा, ईसा-मर्यम, फातिमा-हसन हुसेन की दिन दिन झाँकी होती है। इन्हीं के अप्रसन्न होने से, और गृहचण्डी और गृहकाली बन जाने से, गृह नष्ट हो जाता है।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु अलक्ष्मी
पापात्मनां, कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां, कुलजनप्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥
मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा,
दुर्गाऽसि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा ।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा,
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥ (सप्तशती)

हे देवि! पुण्यवान सुकृती के घर में श्री, शोभा, पापी के घर में अप्रसाद, निश्श्रीकता, धीमान् के हृदय में सात्विक बुद्धि, सज्जन के मन में सत्कार्य करने की भाव, सद्धा, श्रद्धा, सत्कुलीन के मन में ह्री, लज्जा, अर्थात् अहंकाराभाव, आगप्रदर्शनाभाव, यह सब कुछ तू ही है, माँ तुझे प्रणाम है। सब शास्त्रों का सार जाननेवाली मेधा, धारणावती बुद्धि, भी तू ही है। दुर्गम भवसागर के पार करने वाली नाव

असङ्गरूपिणी, अनासक्तिरूपिणी, बुद्धि, अकेली तू ही है। कैटमारि के, (क्रोध को दमन करने वाले के) हृदय में बसने वाली प्रसन्नतारूपिणी श्री तू ही है। शशिमौलि, चन्द्रशेखर (चन्द्रमा से अलङ्कृत व्योम) का गौरी शोभा सुषमा तू ही है। जैसे सांसारिक सुख के वास्ते, प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए मनुष्य, इन तीन शक्तियों की उपासना अभ्युदय सम्बन्धी त्रिवर्ग, अर्थात् धर्म अर्थ काम (सरस्वती-लक्ष्मी गौरी, ज्ञान-क्रिया-इच्छा, विष्णु ब्रह्मा-शिव, सत्व-रजस्-तमस्), की प्राप्ति के लिये करते हैं, वैसे संसार से विमुख होने पर, निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होने पर, मोक्षार्थी होने पर, भी, इसी देवी शक्ति के चरम और परम रूप अर्थात् महाविद्या, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, की उपासना उनको करना पड़ती है।

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्
विद्याऽऽसि सा भगवती परमा हि देवि॥

निष्कर्ष यह है कि जो सम्बन्ध पुरुषप्रकृति का, शिवशक्ति का, है, वही स्वभावत पतिपत्नी का है और होना चाहिये।

शिव शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त प्रभवितु
न चेदेव देवो न खलु कुशल स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्या हरिहरविरिंच्यादिभिरपि।
प्रणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्य प्रभवति॥

(आनन्द लहरी)*

*इस श्लोक का अर्थ पहिले, पृष्ठ ५० पर लिखा जा चुका है।

शंकरः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी ।
स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च ॥

(शिवपुराण)

इस दाम्पत्य सम्बन्ध में अन्य सब स्नेह प्रीति के, माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन, इत्यादि, सम्बन्ध अन्तर्गत हैं, सब इसी से पैदा होते हैं और इसी में फिर लीन हो जाते हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

ऐसा कहीं राम के प्रति सीता का वाक्य है। दशरथ ने भी कैकेयी की गर्हणा करते हुए कहा है,

किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ।
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ॥
यदा यदा हि कौसल्या दासीवच्च सखीव च ।
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ।
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ॥

इत्यादि ।

अर्थात्, जब राम वन को चले जायँगे, तब कौसल्या मुझको क्या कहेगी और मैं उनको क्या उत्तर दूँगा ? दासी के, सखी के, भार्या, भगिनी, माता के समान, सभी भाव से कौसल्या ने सदा मेरा हित और प्रिय किया, और मैंने उनका सत्कार न किया। तथा वशिष्ठ ने भी कैकेयी को भर्त्सना करते हुए कहा है,

अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ।
आत्मा हि दारा सर्वेषा दारसंग्रहवर्त्तिनाम् ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥

इत्यादि ।

यदि राम जङ्गल को जायँगे, तो उनके स्थान में राज-सिंहासन पर सीता बैठेगी । पति की आत्मा ही पत्नी है । इसलिये यही पृथ्वी का पालन और राजकाय का चालन करेगी।

निचोड़ यह कि जो उत्तम निदर्शन प्राचीन ग्रन्थों में दिखाये हैं उनमें पतिपत्नी की अन्योऽन्यात्मता ही दिखाई है, और यही कहा है कि एक दूसरे के लिये इनको सर्वस्व होना चाहिये। गौरीशंकर का अन्योऽन्याऽर्धांगित्व भी इसी भाव की पराकाष्ठा का पौराणिक रूपक है । स्त्रीपुमानुभयात्मक उभयलिंग जीव भी संसार में होते हैं, यह वैज्ञानिक बात भी इस रूपक से द्योतित होता है, इत्यन्या कथा। वनस्पति वर्ग सभी उभयलिंग हैं, तथा मानववर्ग में भी पुरुषों में अव्यक्त-रूप से स्त्री चिन्ह, और स्त्रियों में अव्यक्त रूप से पुरुष चिन्ह, वर्तमान हैं, और यदा कदा, लाखों मे से एक दो में, दोनों व्यक्त भी पाये जाते हैं, यह पाश्चात्य आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है। तिस पर भी, मातृत्वेन स्त्री का गौरव भारतीय शालीनता सभ्यता में कितना सर्वश्रेष्ठ कर दिया है, यह पहिले आपसे कह चुका हूँ ।

उपाध्यायान् दशाचार्य शताचार्यांस्तथा पिता ।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

आप लोगों को ब्रह्मचर्य समाप्त करके गार्हस्थ्य में प्रवेश करना है, इसलिये यह सब पुराने आदर्श आप लोगों के सामने रखे जाते हैं। इतना यहाँ और कह देना चाहिये कि किसी प्राचीन काल में स्त्रियों को भी विधिवत् उपनयनादि करके वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य कराया जाता था, पर समय बदलने से यह प्रथा बन्द हो गयी है। यदि पुन बदलकर प्राचीन अवस्था के सदृश अवस्था पुन उत्पन्न हो जाय, तो वह प्रथा भी पुन प्रचलित करनी पड़ेगी। जैसा पच्छिम में देख पड़ता है कि लडकियों को भी विधिवत् शिक्षा होती है। भारतवर्ष में भी इस ओर समाज का ध्यान बढ ही रहा है। और उपनयन संस्कार का तात्त्विक अर्थ तो शिक्षा ही है, गले में सूत डाल देना मात्र नहीं। बालक को गुरु के "उप", समीप, "नयन", ले जाना, इसलिये कि गुरु उसको "ब्रह्म" के, ज्ञान के, आत्मज्ञान के, आत्मा के, "उप", समीप, "नयन" करे, ले जाय—यह उपनयन-संस्कार का तत्व है। ऐसी शिक्षा का अधिकार सभी बुद्धिमानों को है। क्या बालक, क्या बालिका। इसी आशय से गौतम-स्मृति में कहा है,

> पुराकाले तु नारीणा मौंजीबन्धनमिष्यते।
> अध्यापन च वेदाना सावित्रीवचन तथा॥

हारीत [२१—२०] में भी कहा है,

> तस्माच्छन्दसा स्त्रिय संस्कार्या ।

वाल्मीकि रामायण में कौसल्या के वेदमन्त्रों से अग्नि में हवन करने की चर्चा की है। सब पात्रभेद अधिकारभेद की बात है। सिंहिनी की प्रकृति संस्कृति दूसरी, गाय की प्रकृति

संस्कृति दूसरी। आज काल के हिन्दू की स्त्री पति के पीछे चलती है। अँग्रेज की स्त्री, पति के बराल में, साथ साथ, शिव की पार्वती ऐसी। पर्वतवासियों पार्वतीयों का वर्णन कालिदास ने "वनितासखाना" शब्द से किया है।

विवाह भेद समन्वय।

अब विचारणीय बात यह है कि ऐसे पति-पत्नी के गार्हस्थ्य के लिये विवाह आवश्यक है। पर विवाह के विषय में संसार में बहुविध आचार विचार चले आते हैं। और देखने में परस्पर अति विरुद्ध हैं। पर इनका भी समन्वय अधिकारि भेदेन अध्यात्मविद्या के बल से मानवधर्मशास्त्र में किया है।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

ज्ञानप्रधान सत्त्वप्रधान प्रकृति के लिये ब्राह्म आर्ष आदि प्रकार उपयुक्त हैं। क्रियाप्रधान रजोऽधिक क्षत्रिय प्रकृति के लिये गान्धर्व अर्थात् स्वयवर, और वीर्यशुल्क वाले युद्धपूर्वक राक्षस प्रकार भी, उपयुक्त हैं। इच्छाप्रधान, द्रव्यसञ्चयी, अतः तमोऽधिक जीव के लिये पूर्वोक्त में से कई उपयुक्त हैं, तथा शुल्क देकर आसुर प्रकार भी यथाकथञ्चित् उपयुक्त पर निंदनीय है। श्रमजीवों में पैशाच प्रकार जारी है। पर इन आठ प्रकारों में कुछ धर्म्य हैं बाकी अधर्म्य। यथा आसुर नि य और पैशाच तो अधम और पापिष्ठ ही हैं। अर्थात् कई प्रकार ऐस हैं जो शिष्ट शालीन सभ्य समाज में पापात्मक और दण्डनीय समझे जाते हैं। और शिष्टों के लिये अनुचित हैं भी। पर सब मनुष्य

तो यक़ता नहीं। असभ्य मात्यादि ("सावेज") जातियों के लिये, जिनमें ये अधम प्रकार प्रचलित हैं हो, इन्हीं को मर्यादा मान लिया है, जिसमें उनकी अन्यवस्थितता और भी अधिक न बढ़ जाय।

भारतवासियों का अकसर यह विचार है कि पश्चिम में, यूरप अमेरिका में, श्वेतवर्णा में, स्वयंवर हो का प्रकार प्रचलित है। यह विचार ठीक नहीं। "सैक्सन" (अर्थात् जर्मन, अंग्रेज, और तद्व राज अमेरिकन आदि) जातियों में यह प्रकार कुछ अधिक प्रचलित है, सर्वथा नहीं। "लैटिन" (अर्थात् इटालियन, फ्रेंच, स्पानिश् आदि) जातियों में अधिकतर विवाह माता पिता ही तय कर दिया करते हैं। विवाहशास्त्र और सन्ततिशास्त्र के (जो कामशास्त्र के परमावश्यक अंग हैं) निचोड़ और मूल मन्त्र को मनु ने अध्यात्मविद्यानुसार एक श्लोक में कहा है।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निंद्यान् विवर्जयेत्॥

जो विवाह के प्रकार निन्दित हैं उनका स्वरूप ही ऐसा है कि उनमें पतिपत्नी का भाव परस्पर शुद्ध स्नेहमय नहीं होता। इस हेतु से जो प्रजा इन विवाहों से उत्पन्न होती है वह भी निन्दनीय प्रकृतिवाली, अशुद्ध स्वभाव की, राजस तामस, दुर्देह और दुर्बुद्धि, ही होती है। पर जो विवाह के प्रकार प्रशंसनीय हैं वे ऐसे हैं कि उनमें जायापती की बुद्धि परस्पर शुद्ध और प्रीतिमय होती है, और इस कारण उनकी सन्तान भी उत्तम शरीर और उत्तम बुद्धि वाली सात्त्विक प्रकृति की होती है।

विवाह की संख्या के विषय में भी इसी प्रकार स्वभाव भेदेन समन्वय होता है। पर उत्तम कोटि में एक-पतिपत्नीव्रत ही सदा कहा है। नलोपाख्यान मे महाभारत में कहा है।

विशिष्टाया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्।

रामायण की समग्र कथा में एकपत्नीव्रत और एकपतिव्रत की महिमा कही है। अन्यथा, एक स्त्री से बहु पुरुषों का विवाह, यथा पाडवों और प्राचेतस ऋषियों का, भी पुराणों में कहा है, और आज भी तिब्बत आदि प्रदेशों मे होता है। एक पुरुष के बहुत स्त्रियों से विवाह का तो कुछ कहना ही नहीं। विधवाविवाहादि के भी विषय में हेतुपूर्वक अधिकारिता देखकर मर्यादा बाधी है, पर उस मर्यादा का आजकाल प्राय तिरस्कार ही हो रहा है। संसार में यही प्रसिद्ध है कि "हिंदू धर्म" का निचोड़ इतना ही है कि दूसरी जाति वाले के साथ खाओ मत, और विवाह मत करो। और जिसका जाति नाम तुम्हारा जाति नाम हो, उसके साथ खाओ और विवाह करो। इस प्रथा का मूलहेतु तो बहुत उचित आध्यात्मिक और वैज्ञानिक है। अर्थात् भोजन की शुद्धि से शरीर का बल और आरोग्य, और विवाह की शुद्धि से संतति की दिनों दिन उत्तमता। पर सच्ची शुद्धि और विशिष्टता को तो कोइ देखता नहीं, जातिनाम ही देखा जाता है, और इस जातिनाम की आड़ में अशुद्ध से अशुद्ध भोजन और दुष्ट से दुष्ट और अनुचित से अनुचित विवाह बराबर होते हैं।

पुत्र-भेद समन्वय।

पुत्रों के विषय में भी द्वादश प्रकार के पुत्र अवस्था भेद से गिनाये हैं। किसी किसी गिनती से अठारह उनीस तक भी हो जाते हैं, (जैसा मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री गोविंददास जी ने अपनी "हिन्दुइज्म" नामक अँग्रेजी पुस्तक में दिखाया है) पर उत्तम प्रकार औरस पुत्र ही कहा है, जो अनिंदित विवाह से उत्पन्न हुआ हो।

> अगादङ्गात्प्रभवसि हृदयादधिजायसे।
> आत्मा वै पुत्र नामासि वर्धस्व शरदा शतम्।
> जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्या जायते पुन ॥

पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देता है, हे पुत्र, मेरे एक एक अङ्ग से तेरा एक एक अङ्ग बना है, विशेष कर मेरे हृदय से तू उत्पन्न हुआ है। पुत्र के नाम से तू मेरी आत्मा ही है। जाया का जायात्व इसी हेतु से है कि पति उसके शरीर में म पुनर्वार पुत्ररूप से जायमान होता है।

यह मन्त्र भाव, एक एक बड़े गंभीर, बड़े सात्विक, बड़े उदार हैं। यदि समाज में इनका ठीक ठीक प्रचार हो तो आज समाज का स्वरूप ही दूसरा हो जाय।

यहाँ यह बात भी कहनी चाहिये कि जैसे शारीरब्रह्मचर्य को किये हुए, सब सुपरिपक्व परिपुष्ट शुद्ध शरीर वाले माता पिता की शारीर संतान उत्तम और सच्ची होती है, और कच्चों की कच्ची, वैसे ही कच्ची बुद्धि विद्या वालों की बौद्ध संतान शास्त्र-ग्रन्थ-निबंध काव्यादिरूपिणी भी कच्ची होती है। इस लिये जैसे शारीर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है वैसे बौद्ध ब्रह्मचर्य

की भी परमावश्यकता है। आज काल यह बहुत देख पड़ता है कि जैसे स्कूल में पढ़ने वालों के भी लड़के लड़की पैदा होते रहते हैं, वैसे ही वे पुस्तकें और लेख लिखकर छपाते भी रहते हैं। फल यह हुआ है, जैसा तुलसीदास ने कहा है,

भूमि हरित तृन संकुल सूझि परै नहिं पथ ।
जिमि पाखंड विवाद ते लुप्त भये सद्ग्रंथ ॥

कच्चे आदमियों से और कच्चे लेखों और ग्रंथों से देश भर गया है। चिरसंयमी स्त्री पुरुष शरीर को और बुद्धि विद्या को अच्छी तरह परिपुष्ट करके शारीर भी और बौद्ध भी सन्तान उत्पन्न करे तो देश का बहुत उपकार और कल्याण हो।

ज्ञान शौर्य सह सर्व ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित।
ज्ञान देना भी गृहस्थ ही का काम है।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

विधवाविवाहादि समन्वय।

गार्हस्थ्य के सम्बन्ध में विधवा विवाह का भी प्रश्न उठता है। आप लोगों को गुरुकुल से समावृत्त होने के बाद समाज में जाकर समाज-सुधार के सम्बन्ध में इस प्रश्न का भी सामना करना होगा। तो देखिये कि मानव धर्म में इस प्रश्न का भी उत्तर उसी प्रकार दिया हुआ है जैसा और प्रश्नों का। अर्थात् सब प्रकार के भिन्न भिन्न प्रकृति के जीवों के लिये भिन्न भिन्न मर्यादा, बुद्धिपूर्वक, विवेकपूर्वक, देशकालावस्था-विचारपूर्वक, बाँधी है। जब परमात्मा ने सभी प्रकारों

को संसार में स्थान दिया है तो मानव धर्म क्यों न स्थान दे ? हाँ, उचित स्थान प्रत्येक वस्तु को देना चाहिये। इसलिये उत्तम कोटि तो यही है कि एकपत्नीव्रत और एकपतिव्रत किया जाय। पुरुषों में राम का एकपत्नीव्रत प्रसिद्ध है। स्त्रियों का तो कहना ही क्या है। पर जिनकी प्रकृति में रजस् तमस् की मात्रा अधिक हो उनके लिये अनुमति है कि पुनर्विवाह करें। पर वैसे आदर को पात्र न समझी जावें जैसी पुनर्विवाह न करनेवाली विधवा, जो अपने को साधु और तपस्वी बनाकर परोपकार में प्रवृत्त हो जाय, और ऐसा समझे कि मानों समय से पहिले ही वानप्रस्थ और संन्यास इसको मिल गया। जैसा भागवत में कुन्ती ने कृष्ण से कहा है,

विपद सन्तु न शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शन यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम ॥

हे जगद्गुरो, मुझे संपत् नहीं चाहिये, विपत् ही चाहिये, जिसमें तीव्र स्मरण और ध्यान करके आपका दर्शन पाऊँ और पुनर्जन्म का दर्शन छोड़ूँ। और कृष्ण ने भी ईश्वर भाव से कहा है,

यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्॥

जिसका मैं सच्चा कल्याण करना चाहता हूँ उसकी सारी सांसारिक सुख संपत्ति छीन लेता हूँ। ऐसी उत्तम सती स्त्रियों के लिये ही कहा है,

सतीभिर्धार्यते जगत।

खेद का स्थान तो यह है कि जैसा और विषयों में वैसा इसमें, बुद्धि उल्टी हो गयी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी ॥

जहाँ किसी बाला या युवती स्त्री पर, विशेष करके जो निस्संतान हो, यह आपत्ति आई कि वह विधवा होगई, तो बजाय इसके कि उसके ऊपर अधिक दया करे और सहानुभूति करे, सब घरवाले उसको और कोसने लगते हैं, और तरह तरह से महा कष्ट देते हैं, यहाँ तक कि साधुता और तपस्या की ओर तो उसका मन बढ़ने नहीं पाता, दु ख क्रोध और शोक से ही जलता रहता है, और वह अकसर अपना आत्मघात भी कर लेती हैं, और उसके शाप से और अपनी क्रूरता के पाप से वह कुल भी नष्ट हो जाता है। चाहिये कि ऐसी दु खिता की गोद में जो कोई छोटा बच्चा घर में हो वही डाल दिया जाय, कि तू इसको अपना बच्चा समझ, और इसमें प्राण अटका, इसका भी पालन पोषण कर, और इसके स्नेह से अपने दिन काट, घर में सब की दयापात्र तथा तपस्विनी साध्वी होकर सहाय करने वाली और आदरपात्र भी बन। यदि इस प्रकार से उसका मन ऊँचा रखा जाय, उसका आश्वासन किया जाय, तो घर में चारों ओर प्रेम प्रीति बनी रहे, उस हतभागिनी का भी दु ख कम हो, घर में दूसरों की सहायता के लिये एक अपना स्नेही जन सदा प्रस्तुत रहे, ऐसा जन जिसको स्वार्थ बहुत थोड़ा और परार्थ ही की फ़िक्र अधिक हो। और संसार में उसके शरीर से मनुष्य संख्या की वृद्धि भी न हो। इस सख्या के नियमन की भी आवश्यकता है क्योंकि अन्नवस्त्रादि आवश्यक प्राणधारणोपयोगी वस्तुओं की मात्रा

कम और मनुष्यों की संख्या अधिक होने से, परस्पर संघर्ष, द्रोह, ईर्ष्या, मत्सर, युद्ध बढ़ते हैं। इस विषय के सबंध में बहुत कुछ कहने सुनने की गुञ्जाइश है, जो यहाँ नहीं कहा सुना जा सकता। थोड़े में यही, कि प्रकृतिभेद से नियमभेद होना चाहिये। किन किन अवस्थाओं म विधवा का पुनर्विवाह होना चाहिये, ये सब स्मृतियों में गिनायी हैं। न सब धान बाईस पसेरी के हिसाब से बिकना चाहिये, न सब भैंस एक ही लाठी से हाँकी जा सकती हैं। प्रत्येक विधवा के विषय में शांत मन से उसके पतिकुल और पितृकुल के वृद्धों को विचार करना चाहिये। जब तक वह स्वयम् शांति से, तपस्या से जीवन व्यतीत करना पसन्द करै, तब तक उसको इसमें सहायता देनी चाहिये, पर यदि पुनर्विवाह करने के लिये उसकी इच्छा उत्कट हो तो उसका यथायोग्य पुनर्विवाह माय विपत्नीक पुरुष से कर देना चाहिये।

वानप्रस्थ।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मन ।
अपत्यस्यापि चापत्य तदाऽऽरण्य समाश्रयेत॥ (मनु)

गृहस्थ जब अपने शरीर पर झुरियाँ, बालों में सफेदी, और लड़के की गोद में लड़का देखै, तब घर, शहर, दुनियावी रोजगार, धन दौलत, कमाने की फिक्र, स्वार्थ बुद्धि, सब छोड़कर, किनारे, पास के उपवन में, अथवा दूर के वन में, अरण्य मे, जा बसे। और परार्थ में लग जाय, समाज-सेवक हो जाय, जो पहल धन सञ्चित किया है उससे अपना और अपनी पत्नी का भी जीवननिर्वाह करे, और दूसरों की भी

यथासम्भव सहायता करे। नवीन अर्जन की वुद्धि छोड़ दे, क्योंकि इसमें अवश्य परस्पर द्रोह होता है। वानप्रस्थ होकर किसी से कुछ ले नहीं, दूसरों को ही केवल दे। सदा यज्ञ करता रहे, और अपने ज्ञान की भी वृद्धि नित्य करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्त स्याद् दान्तो मैत्र समाहित ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पक ॥ (मनु)

बहुविध-यज्ञ समन्वय ।

यही यज्ञ का असली अर्थ है। यज्ञ बहुत प्रकार के हैं।

एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
(ब्रह्मयज्ञा देवयज्ञा आत्मसयमयाजिन ।
इन्द्रियेष्वपि होतार प्राणायामपरायणा ॥)
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथैव च ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय संशितव्रता ॥ (गीता अ०४)

ब्रह्म के मुख में, वेद के उदर में, शास्त्रग्रन्थों के पृष्ठो पत्रा पर, ज्ञान के भीतर, बहुत प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। यथा, सब में आत्मभावना रूपी सर्वोत्तम ब्रह्मयज्ञ, प्रकृति की विविध देवरूपी शक्तियों का विविध प्रकारों से आवाहन और लोकहितार्थ प्रयोग देवयज्ञ, आत्मसयम अर्थात् इन्द्रियनिग्रहरूपी यज्ञ, निरहकारभाव से इन्द्रियतर्पण, प्राणायाम, द्रव्यों का दान, तपस्या, योग, ज्ञानसग्रह प्रचार—सभी यज्ञ हैं। पर सब में यह भाव समान है कि स्वार्थ छोड़े, परार्थ साधे, जिससे जितना जैसे अपनी अपनी प्रकृति गुण के अनुसार बन पड़े।

पर जैसे अन्य विषयों में वैसे यहाँ भी, सात्विक बुद्धि को तामस बुद्धि ने विपरीत कर डाला है। भीष्म ने (शान्तिपर्व में) युधिष्ठिर से क्षात्र धर्म की प्रशंसा करते हुए सबसे बढ़कर उसका गुण यह कहा,

आत्मत्याग: सर्वभूतानुकम्पा
प्रत्यक्ष ते भूमिपाला यथैते।

अर्थात्, धर्मपालन द्वारा सर्वभूतों की अनुकम्पा के लिये अपने शरीर और प्राण का भी त्याग देना, जैसा इन सहस्रों भूमिपालों और क्षत्रिय योद्धाओं ने धर्मयुद्ध में तुम्हारा साथ देकर प्रत्यक्ष दिखा दिया है। पर आत्मत्याग तो किया नहीं जाता, अपने प्राण क्या अपनी सम्पत्ति का अंश भी परार्थ छोड़ते नहीं बनता, मूक निर्दोष निर्बल पशुओं का प्राण यज्ञ के नाम से लिया जाता है, और इस उद्देश्य से कि यज्ञकर्त्ता को ऐहिक और आमुष्मिक स्वार्थलाभ हो, परार्थ का तो स्वप्न भी नहीं। तथा, दुर्गासप्तशती का पाठ तो लाखों ब्राह्मण, आदि, हिन्दू नामधारी करते हैं, पर बलिदान के लिये बकरा ही काटते हैं, या इतनी हृदय में दृढ़ता और क्रूरता न हुई तो कूष्मांड, कोंहड़े, को हलाल कर डालते हैं। सुरथ राजा और समाधि वैश्य ने अपने मांस और रुधिर की बलि दुर्गा को दी थी, इसको भूल जाते हैं।

ददतुस्तौ बलिं चैव निजगात्रासृगुक्षितम्।

हे भाई! बलि का अर्थ आत्मबलि है, परबलि नहीं। यज्ञ का अर्थ निज स्वार्थ का त्याग और तपस्या पर के प्राण और पर के अर्थ का अपहरण नहीं।

स्वार्थ-परार्थ-समन्वय।

इस प्रकार से गार्हस्थ्य के बाद वानप्रस्थता रखकर मानवधर्म में स्वार्थ और परार्थ का समन्वय किया है, और "इण्डिविड्युआलिज्म" और "सोशालिज्म" के, व्यक्ति और समाज के, व्यष्टि और समष्टि के, विरोध का परिहार साधा है। शुरू उमर से आधी उमर तक स्वार्थ अधिक, पिछली उमर में परार्थ अधिक।

महाभारत में एक स्थान पर कहा है,

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।

भागवत में एक स्थान पर कहा है,

एतावानव्ययो धर्मः नित्यः सद्भिरनुष्ठितः।
यल्लोकशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥

अर्थात्, दुनिया भर की फिक्र एक आदमी अकेला कहाँ तक करे। तथा, "दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान", मूलधर्म ही "अनुकम्पा" है, लोक के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होना। इन विरुद्ध बातों का समन्वय भी इसी सम्बन्ध में होता है। पहिली उमर में अपनी और अपने कुल कुटुम्ब की चिन्ता अधिक पिछली उमर में लोक की चिन्ता अधिक। तथा यह भी, महाभारत के श्लोक का यही अर्थ समझिये कि दूसरों की चिन्ता उसी हद तक करनी चाहिये जहाँ तक सहायता करने का सम्भव हो।

चिता चिंता समाख्याता तयोश्चिंता गरीयसी।

और,

तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ (गीता)

बहुधा वृद्ध लोग अपने कारबार को, धनदौलत को, दाँतों मे पकड़े रहते हैं, जिसका फल यही होता है कि उनके सन्तान भी उनसे असन्तुष्ट रहते हैं, और लोक में भी उनका अपवाद होता है। यह सब दोष बच जाय, और समाज को वृद्ध, अनुभवी, उदार हृदय, निस्स्वार्थ, लोकहितैषी, सहायक और नेता सदा पर्याप्त सख्या में मिलते रहें जो सब प्रकार के पञ्चायती काम, यथा "अदालती" मामिलों मुकद्दमों का पञ्चायती निपटारा, या डिस्ट्रिक्टबोर्ड, म्युनिसिपिलबोर्ड आदि का काम, या धर्मसभा, लेजिस्लेटिव कौंसिल, आदि में नये कानूनधर्म बनाने का काम, उत्तमता से, बिना शुल्क के, चला सकें, यदि वानप्रस्थ आश्रम की प्रथा फिर से जागे। ऐसे निर्लोभ, निःस्वार्थ, परिपक्वबुद्धि आदमियों की कमी के कारण सब प्रकार के "पब्लिक" सामाजिक सार्वजनिक काम की जो दुर्दशा आज काल हो रही है वह हम सबकी आँखों के आगे है।

सन्यास

प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वय।

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ (मनु)

आयु का तीसरा भाग वनस्थावस्था में बिताकर, चौथेपन में सब संगों को छोड़कर परिव्रजन करे।

तीनों आश्रमों के कर्तव्य का पालन करके, और उसके द्वारा तीनों ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देवऋण, चुकाकर, जब देखे कि उक्त रूप से समाज की सेवा का भी बल अब शरीर में नहीं है, तब सर्व संन्यास करके परिव्रजन करे। केवल शरीरयात्रामात्रोपयोगी प्रयत्न करे, और सर्वदा आत्मचिंतन और सर्वलोक का शुभध्यान। यदि तीनों ऋण चुकाये विना मोक्ष की ओर मन दौड़ावेगा तो ऊपर उठने के बदले और नीचे गिरेगा। भक्तिमार्ग की साकारोपासना में भी कहा है,

स्वधर्मकर्मविमुखा केवलं नामराविण।
ते हरेर् द्वेषिणो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्धरे॥

अर्थात अपने धर्म कर्म से विमुख, केवल हरि का नाम जोर जोर से चिल्ला कर दूसरों को सुनाने वाले मनुष्य, हरि के भक्त नहीं, प्रत्युत द्रोही हैं, परम मूढ़ हैं। क्योंकि हरि का जन्म इसलिये नहीं हुआ कि लोग उनका नाम मात्र रटें, किंतु इसलिए कि धर्म का पुनः व्यवस्थापन हो और लोग धर्माचरण करें। तो ऋण चुका कर परिव्रजन करना, और आत्मचिंतन द्वारा ऊंचे नीचे जीवों में अंतरात्मा की सूक्ष्म गति को ध्यानयोग से पहिचानना चाहिये।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यांतरात्मनः॥

अपना भी मन बहलाता रहे, किसी एक गृहस्थ पर कई दिन तक भिक्षा देने का बोझ भी न हो, विविध देशाटन से

जो ज्ञान की पूर्ति होती है और जो पूर्वाश्रमों में बाकी रह गयी हो वह भी हो जाय, विविध देश देशान्तर के आचार विचार देखकर और सब में आत्मा की गति पहिचान कर बुद्धि का संकोच और मन की गांठ और आग्रह के बंधन भी जो कुछ रह गये हों वे सब दूर हो जायँ, और आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, पूर्णरूप से सम्पन्न हो जाय, इसलिये परिव्राजक होना, एक स्थान से दूसरे स्थान को घने तक चलते रहना। भागवत में शुक के विषय में कहा है,

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वस्तदाश्रमम्॥

अर्थात्,

वह पुरायपालक घरबारन के घर उतनिहिं बेरि सहै।
जब लौं गौ को दूध दुहानो अंगुरिन नाहिं गहै।
तन गेहन को भाग्य बढ़ावत तीर्थ बनावत फिरत रहै॥

सम्मान की इच्छा और अनिच्छा का समन्वय।

यह सभी संन्यासियों के अनुरूप है कि साक्षात आशीर्वाद स्वरूप होकर, सारे देश में शुभकामना, शांति, प्रीति, अध्यात्म चर्चा, फैलावें, जिस स्थान पर थोड़ी देर के लिये भी बैठें उसी को तीर्थ बना दें, सब के आदरपात्र बनें, और यदि उनके मन में छिपी हुई लोकैषणा भी कुछ बची हो, अर्थात आदर सम्मान पाने की इच्छा तो उसकी भी पूर्ति कर ले। पर संन्यासी के लिये नियम यही है कि,

प्रतिष्ठा शौकरी विष्ठा गौरवं घोररौरवम् ।

यद्यपि गृहस्थ के लिये इसके विपरीत है,

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

अर्थात् सन्यासी के लिये प्रतिष्ठा की लालच करना तो ऐसा पतन है मानों शूकर होकर विष्ठा को लालच करना । पर गृहस्थ के लिये महात्मता यह है कि विपत्ति मे धीरज धरे, अभ्युदय में दर्प न करे प्रत्युत क्षमाशील सहनशील हो, सभा में वाग्मी हो, युद्ध में विक्रमी, वेदाभ्यास का व्यसनी, और सच्चे यश का, उदार पुण्यकर्मों से पाई हुई कीर्त्ति का, अभिलाषी हो ।

समाहार ।

इस प्रकार से पदे पदे देश-काल-निमित्त-अवस्था-पात्रता-अधिकार-गुण-स्वभाव आदि के भेदों से धर्म का भेद करके, सब भेदों का समन्वय, सब विरोधों का परिहार, इस मानव-धर्म में अध्यात्मविद्या के बल से किया हुआ है । "विभज्य वचनीय", "विविच्य वक्तव्यम्" ।

पहिले कह आये हैं, अध्यात्म-विद्या कोई परलोक ही की छिपी ही बात नहीं है । चमड़े की आँख से भी देखी जा सकती है ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ (गीता)

पर, हाँ, उसकी ओर आँख फेरने की आवश्यकता है ।

यदि उस ओर आँख ही न घुमायी जाय तो कैसे देख पड़े ? अध्यात्म का अर्थ आत्मा-सम्बन्धी, आत्मा का स्वभाव, आत्मा की प्रकृति, जिसमें तीन गुण हैं। वेदान्त के शब्दों में चित्, आनन्द, सत्। सांख्य के शब्दों में सत्व, तमस् रजस्। न्याय के शब्दों में ज्ञान, इच्छा, क्रिया। वैशेषिक के शब्दों में गुण, द्रव्य, कर्म। इनके ज्ञान के अनुसार, मानवधर्म में, मनुष्य समाज को चलाने के लिये नियम बाँधा गया है, और सब प्रकार के मनुष्यों के लिये चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य के द्वारा समाज में स्थान निर्णय किया गया है, यदि उनका अर्थ ठीक समझते बन पड़े।

कुरु कर्म त्यजेति च।

अर्थात् कर्म करो, और कर्म का त्याग करो, कर्म मत करो—यह दोनों तरह की बात, परस्पर अत्यंत विरुद्ध मानव धर्म में कही है। पर अधिकारिभेद से कही है, इसलिये विरोध कुछ नहीं है। यौवन के लिये 'कुरु", वार्धक्य के लिये "त्यज," प्रत्यक्ष ही उचित है।

प्रकृति के विरुद्ध कोई बात करने का, या विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों को जबरदस्ती से एक ही रास्ते पर चलाने का, मिथ्या प्रयत्न नहीं किया है। प्रकृति के नैसर्गिक नियमों का केवल परिष्कार मात्र कर दिया है।

यदि "मदायशास्त्रे लिखितं" का हठ और आग्रह छोड़कर, अध्यात्मविद्या के अनुकूल तर्क से, यथायोग्य, आवश्यकतानुसार, धर्मों में संशोधन, संयोजन—वियोजन, प्रवर्तन-निवर्त्तन, किया जाता रहे, तो आज यह आर्यमानवसमाज

जिसको देशनाम से हिन्दू (सिंधु) समाज कहने लग गये हैं, फिर स उन्नति पर आरूढ़ हो सकता है। और "शास्त्री" लोग भी अपने काम के लिये "शास्त्र" के संशोधन-परिवर्त्त के सिद्धांत को मानते भी हैं। दूसरे पक्ष को यही सुनाते हैं कि "शास्त्र की यह आज्ञा है, और वह आज्ञा है", पर अपने मतलब के समय, यथा कलिवर्ज्य प्रकरण में, पढ़ते हैं कि,

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
निवर्त्तितानि विद्वद्भिर्व्यवस्थापूर्वकं बुधैः ॥

अर्थात् कलियुग के आदि में विद्वानों ने लोकहितार्थ शास्त्र को बदला। तो अब भी वैसा क्यों नहीं हो सकता?

विरोध-परिहार।

इस स्थान पर एक विशेष विरोध का परिहार कर देना उचित होगा। उसकी चर्चा इस व्याख्यान के आरम्भ में की गई है। अर्थात् यह भी कहा है,

एकोऽपि वेदविद्धर्मं य व्यवस्येद् द्विजोत्तम ।
स विज्ञेय परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

अर्थात्, एक भी अध्यात्मवित्तम मनुष्य जो निर्णय करे वही धर्म जानना, और दस हजार भी अज्ञ आदमी जो कहें उसको धर्म नहीं जानना। और यह भी कहा है,

महाजनो येन गतः स पन्थाः ।

"बहुतायत आदमी जिस ओर जायँ वही रास्ता ठीक है।"

कोई तो सहज में इस विरोध का परिहार इस प्रकार

करते हैं कि महाजन शब्द का अर्थ ही श्रेष्ठ पुरुष, वेदवित्, अध्यात्मवित् है। पर यह अर्थ उस स्थान पर किसी प्रकार नहीं सधता। पूरा श्लोक तो यह है,

तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य वच प्रमाण।
धर्मस्य तत्वं निहित गुहाया,
महाजनो येन गत स पन्था॥

(कहीं पाठ है, "श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयोऽपि भिन्ना", आशय वही है।) जब श्रुतियों की चर्चा कर दी, और मंत्रकृत और मंत्रद्रष्टा वेद वेदांत प्रवर्त्तक ऋषियों की भी चर्चा कर दी, तब इनसे बढ़कर और कौन श्रेष्ठ व्यक्ति होगा जो "महाजन" शब्द का अर्थ हो सकता है? अन्यत्र, प्राय श्रेष्ठ पुरुष के वास्ते "महापुरुष" शब्द का प्रयोग संस्कृत मे होता है, "महाजन" का नहीं। और भी। महाभारत के जिस उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरप्रजागरपर्व, अथवा विदुरनीति, में उक्त श्लोक है, उसी में ये दो श्लोक भी मिलते हैं,

एक पापानि कुरुते फल भुङ्क्ते महाजन।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते॥

देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभूषते य स परावरज्ञ।
स यत्र तत्राभिगत सदैव महाजनस्याधिपत्य करोति॥

पाप तो एक मनुष्य करता है, उससे जो लाभ होता है उसको महा-जन समूह भोगता है। लाभ को भोगने वाले तो छूट जाते हैं, करने वाले को ही दोष लगता है। देश देश के समयाचार को, विविध जातियों के धर्मों को, जाननेवाला,

आगा पीछा विचारनेवाला, जहाँ कहीं भी जा बैठे वहीं वह महा-जन समूह का अधिपति हो जायगा। इस श्लोक में महाजन का अर्थ जनसमूह के सिवा और कुछ हो हा नहीं सकता, और मराठी गुजराती भाषाओं मे आज तक भी महाजन शब्द का प्रयोग इसी जन-समुदाय के अर्थ में होता है।

तो अब विरोध-परिहार कैसे हो ? दो प्रकार से। एक तो यह कि जब विद्वान् बुद्धिमान् को भी बुद्धि विद्या काम नहीं देती, तब जो सारयोक्त महत्-बुद्धि, अव्यक्तबुद्धि जन समूह म व्याप्त है, जिसीको सूत्रात्मा, विश्वात्मा, बृहत्वाद् ब्रह्मा, विसिनोति व्याप्नोति विश्व इति विष्णु, सर्वेषु शेते इति शिव, इत्यादि कहते हैं, जिसको पश्चिम के शब्दों में "कास्मिक् इंटेलिजेंस्", "यूनिवर्सल् माइंड्" 'कलेक्टिव माइंड", "कामन् सेंस्", "मास् माइंड्" "पब्लिक् ओपिनियन्" "अन् कानशस मैंड" आदि कहते हैं, जिसको सूफी भाषा में "अक़्लि-कुल्", "लौहि-महफ़ूज़," "हक़ीक़त-मुहम्मदी" आदि शब्दों से कहते हैं, उसीका भरोसा करना ही पड़ता है। कोई दूसरा चारा ही नहीं। दूसरा परिहार यह है कि यह व्यक्ति अध्यात्मवित् है, इसकी बात मानना चाहिये, ऐसा विश्वासरूपी निर्णय भी तो जनसमूह महाजन ही करेगा। नहीं तो कितना भी वह अध्यात्मवित् हो, पर जनता उसको ऐसा न माने जाने, तो उसका उपदेश व्यर्थ हो जायगा, कोई न सुनेगा। इसलिये अध्यात्मवित्तम के उपदेश की सिद्धि भी जनता पर ही आश्रित है, जनता के ही अधीन है। एवम् अन्योऽन्याश्रय है, अध्यात्मवित् जनता का शुभचिन्तन करे और जनता

उसमें विश्वास करे, तभी धर्म का आम्नान, व्यवसान, संस्थापन, प्रवर्तन, संशोधनादि उचित प्रकार से हो सकता है। इसलिये प्राचीन काल से यह प्रथा चली आई है कि जब कोई नया और जटिल प्रश्न उपस्थित हो जिसके उचिता-नुचित समाधान पर जनसमुदाय के हिताहित का आश्रय हो, तो उस जनसमुदाय को सभा में, सदस् में, समिति में, एकत्र कर के, उस प्रश्न के पक्ष-प्रतिपक्षों का, विविध प्रकार के उसके उत्तरों के गुण दोषों का, विचार, सुधियों, वृद्धों, वाग्मियों, विद्वानों, बुद्धिमानों द्वारा किया जाय, और जिस पक्ष को, जिस उत्तर को, जिस समाधान को, जिस नये कार्यप्रकार को, अंतरात्मा की प्रेरणा से, उस समुदाय के भूयसीय लोग उचित जाने, अध्यात्मवित्तम का कहा हुआ समझें, उसी का स्वीकार और प्रयोग किया जाय। इस प्रकार से अध्यात्मवित् के निर्णय का और महाजन के निर्णय का समन्वय हो जाता है।

कुछ अन्य समन्वय।

राष्ट्रप्रकारभेदों अथवा शासनपद्धति-भेदों का समन्वय।

हाल में एक पुस्तक मेरे देखने में आई। अल्मोड़ा-निवासी श्री बद्रीसाह टुलघरिया ने उसका संकलन किया है। नाम उसका "दैशिक शास्त्र" रखा है। पुस्तक छोटी है पर बहुत उत्तम और सारभूत है। उपोद्घात में उन्होंने कहा है कि पुराने ग्रन्थों से विषय का संग्रह किया है। पर

खेद है कि ग्रंथकर्त्ता ने इन प्राचीन ग्रंथों के नामों का उल्लेख नहीं किया। यदि किया होता तो पाठकों को उस विषय के अन्वेषण गवेषण में सहायता मिलती। अस्तु। इस पुस्तक का विषय राजशास्त्र, राजनीति, राजधर्म, दण्डनीति आदि नाम से प्रसिद्ध विषय है, जिसको पश्चिम की बोली में "पालिटिक्स" "सिविक्स" आदि कहते हैं। पुस्तक में राज्यों के दो मुख्य प्रकार कहे हैं, स्वराज और परराज। फिर एक एक के कई कई भेद कहे हैं, और उनके नाम बहुत अर्थगर्भ सांकेतिक शब्दों से बताये हैं। यथा, ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, गान्धर्व, याक्ष, मानव (जैसे मनु ने विवाहों के), और हस्तिक, व्याघ्रक, आदि। और इन सब प्रकारों के समन्वय के लिये सिद्धान्त यह दिखाया है कि जहाँ जहाँ ऐसी ऐसी (सात्त्विक, अथवा राजस, अथवा तामस, अथवा संकीर्ण) प्रकृति की अधिकांश प्रजा होती है, वहाँ वहाँ इस इस प्रकार का राज होता है और उपयुक्त ही है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल जी ने भी हाल में एक पुस्तक "हिन्दू पालिटी" के नाम से अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित की है जिसमें उन्होंने वेद पुराण स्मृति धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों से सिद्ध किया है कि प्राचीन समय में इस भारतवर्ष में विविध प्रकार के राष्ट्रप्रबन्धों की परीक्षा मानव-धर्म की परिधि के भीतर ही की गई है, यथा राज्य, भौज्य, वैराज्य, द्वैराज्य, साम्राज्य, स्वाराज्य, उग्रराज्य, संघराज्य, गणराज्य। और इनके अंतर्गत पौर, जानपद, श्रेणी, पूग, आदि के प्रबन्ध भी होते थे। इनको आज काल के अंग्रेजी शब्दों में "मानर्की, डायर्की, रिपब्लिक, एम्पायर, फेडरेशन,

आलीगार्की, म्युनिसिपलबोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, ट्रेडगिल्ड" आदि शब्दों से कहेंगे।

समस्त सजीव निर्जीव पदार्थों का सत्त्वादि गुणभेदेन समन्वय।

इसी तरह, प्राचीन शिल्प के विषय में, कांगड़ी के गुरुकुल की जो "वैदिक मैगेज़ीन" नामकी मासिक पत्रिका निकलती है, उसमें कुछ काल स श्री क० वि० वजे महाशय प्राचीन भारतीय शिल्प पर बड़े उत्तम लेख लिख रहे हैं, जिनसे बहुत सी लुप्तगुप्त विस्मृत बातें फिर से प्रकाश हो रही हैं। इन लेखों में तरह तरह के नगरों के, ग्राम, खेट खर्वटों के, गृहों के, सड़कों के, पत्थरों के, धातुओं के, मणियों के, वृक्षों के, लकड़ियों के, वाहनों के, पशुओं के, भेदों का वर्णन करके, उनकी सत्त्वप्रधानता अथवा रजःप्रधानता अथवा तमःप्रधानता भी प्राचीन ग्रन्थों के श्लोकों या उद्धरण करके दिखाया है। सजीव निर्जीव सभी पदार्थों का इन्हीं तीन गुणों के अनुसार विभाग किया है। अर्थात् ये ये भेद सात्त्विक हैं, ये ये राजस, ये तामस। और इस हेतु से यह यह वस्तु वास्तुकर्म में, शिल्पकर्म म, इस इस कार्य के लिये, और इस इस प्रकृति के मनुष्य के लिये उपयुक्त है। इस प्रकार से अवस्था-भेदेन बुद्धिपूर्वक भिन्न भिन्न वस्तुओं का प्रयोग करने से सबका समन्वय हो सकता है।

आत्मगति-भेदादि-समन्वय।

आत्मा की अनंत गतियों का समन्वय और समाहार

दो रीतियों में कर दिया है—प्रवृत्ति-निवृत्ति, सचर प्रतिसञ्चर, प्रसव-प्रतिप्रसव, आरोह-अवारोह, सृष्टि-लय, जन्म-मरण, ईहा-उपरम, व्युत्थान-निरोध, बन्ध-मोक्ष। अनन्त इच्छाओं का चार पुरुषार्थों में—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अनंत शास्त्रों का इन्हीं चार पुरुषार्थों के साधक चार शास्त्रों में—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र, जिन चारों का कुछ न कुछ ज्ञान ब्रह्मचर्यावस्था में सभी विद्यार्थियों को संग्रह करना चाहिये। जीवन के अनंत प्रकारों का समन्वय चार आश्रमों में। मनुष्यों के अनंत प्रकारों का समन्वय और लोक-संग्रह चार वर्णों में है। जीविका के अनंत प्रकारों का चार वर्णानुसार चार मुख्य प्रकार की वृत्तियों में। अनंत एषणाओं का समन्वय चार मुख्य एषणाओं में (आदर अथवा लोक की, बल अथवा दार-सुत की, वित्त की, विनोद की)। इस प्रकार से इस अध्यात्मविद्या से अधिष्ठित, उस पर प्रतिष्ठित, उसमें निष्ठित, मानव-आर्य-वैदिक-बौद्ध-सनातनधर्म में सबका यथास्थान यथाकाल यथावस्था समावेश कर दिया है। अंग्रेजी में भी कहावत है "इट टेक्स आल् काइन्ड्ज टु मेक् ए वर्ल्ड।" अर्थात् जब सब प्रकार एकत्र हों तब एक जगत बनें।

पक्ष प्रतिपक्ष अथवा उत्तर-प्रत्युत्तर-समन्वय।

प्रत्येक प्रश्न पर पक्ष-प्रतिपक्ष के, वादी-प्रतिवादी के, दो दो विरुद्ध विचार और उत्तर उठते हैं। अंग्रेजी में कहावत है

"एवरी क सूदयन् हाज् टू साइड्ज्" । "पक्षप्रतिपक्षाभ्यां निर्णीत अर्थ सिद्धांत भवति" । दोनों विरोधी पक्षों में कुछ अंश सत् का भी और कुछ असत् का भी अवश्य होता है । सारा ससार ही सत् और असत् के समुच्चय से प्रत्यक्ष ही बना है । सभी परिमित वस्तु अभी 'है' और अभी नहीं है । ऐसी अवस्था में, "आश्रयेन् मध्यमां वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्", अति के वर्जन से, मध्यमावृत्ति के आश्रय से, देश-काल-निमित्त का विचार करके, हेतुपूर्वक विभजन करने से, "विभज्य वचनीयम्", मनुष्य के व्यक्ति-जीवन-संबंधी, तथा समाज-जीवन-संबंधी-जितने कुछ प्रश्न उठ हैं या उठ सकते हैं-शिक्षाविषयक, गार्हस्थ्यविषयक, स्त्रीपुरुषसम्बन्धविषयक, भर्ताभृत्यविषयक, जीविकाविषयक, युवा-वृद्ध विषयक, आर्थिक, शिल्पसम्बन्धी, राजनीतिक, धार्मिक, आदि—इन सब प्रश्नों का उत्तरण अधिकतर सुख और अल्पतर दु ख के साथ हो सकता है।

शौच ।

सामाजिक व्यवहार के साधनार्थ शौचाभाव को यहाँ तक अनुज्ञा दी है कि कुत्ते के जूठे को भी खा जाना आदमी के लिये जायज कर दिया है "श्वा मृगग्रहणे शुचि ", "शकुनि फलपातने" "पण्ये यच्च प्रसारितम्", "कारुहस्त सदा शुद्ध ," "पथि शूद्रवच्चाचरेत्", इत्यादि । अर्थात् शिकार में कुत्ते का पकड़ा मृग शुचि है, मांसाहारी क्षत्रियवृत्ति वाले के लिये । तथा पक्षी का जूठा किया या गिराया फल । तथा दूकान बाजार में फैलाये भोज्य पदार्थ शुद्ध हैं । तथा कमेरे का, शिल्पी का, हाथ सदा शुद्ध

है। तथा यात्रा में, राह चलने में, आवश्यकता पड़ने पर, शूद्र के ऐसा (अर्थात् बिना बहुत यम नियम के) व्यवहार करे, इत्यादि। दूसरी ओर, सांसारिक व्यवहार को छोड़ कर, जब मनुष्य मोक्ष के साधन में लगे, तो उसके लिये शौच की पराकाष्ठा यहाँ तक दिखाई है कि "शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः", दूसरों के स्पर्श का तो कहना ही क्या है, अपने शरीर से भी घृणा करके विदेहमुक्ति प्राप्त करना चाहिये।

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान् निस्स्यदान् निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पंडिता अशुचिं विदुः॥

इस मनुष्य शरीर का बीज, इसके पोषण का स्थान अर्थात् गर्भ, इसके धारण के उपाय, भक्षण पान आदि, इससे निकले मल, इसकी मृत्यु—सभी इसकी परम अशुचिता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। नित्य नित्य इसकी अशुचिता को हटाते रहने से ही इसमें मिथ्याशुचिता का आभास हो जाता है।

एक नियम, अथवा नियम की शिथिलता, क्षत्रियवृत्तिवाले तथा अन्य गृहस्थों के लिये है। दूसरा नियम, अतिकठिन, संन्यासी के लिये है। पर आज काल के हिंदू समाज में इन नियमों का कैसा पालन हो रहा है यह सब ही जानते हैं। प्रायः संन्यासीवेशधारी जीव तो शौच की फिक्र ही नहीं करते, और साधारण गृहस्थ दूसरों के दिखाने के मौके पर महामहर्षि से भी अधिक शौचाचार और छू छू का ढोंग रचते हैं।

भक्ष्याभक्ष्य-समन्वय।

मद्यमांसादि का निषेध करते हुए भी युद्धादि के समय

क्षत्रियवृत्ति मनुष्य के लिये अनुमति दे दी है। मनुष्य की प्रकृति देखते हुए, इनका सर्वथा निषेध अशक्य समझते हुए, इन पर केवल कुछ रोक रखने ही का यत्न किया है।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्नहितत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तासु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ (भागवत)

अर्थात् स्त्रीपुरुष प्रसंग की, मांस की, मद्य की, सेवा करने की तो आपही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, इनके लिए उपदेश देने का प्रयोजन नहीं। प्रत्युत इनकी अति सेवा और दुरुपयोग को रोकने का प्रयोजन बहुत है, इस लिये विवाह और यज्ञ आदि के द्वारा इनका नियमन किया है। इनसे जहाँ तक हो, सके निवृत्ति ही अच्छी है।

सत्यासत्यसमन्वय।

सत्य की परम प्रशंसा करते हुए भी, साधारण मनुष्य की प्रकृति को देखकर, विशेष विशेष अवसर पर यदि कोई असत्य बोल जाय तो उसको भारी पाप नहीं गिनना, ऐसा प्रबन्ध कर दिया है। यथा प्राणात्यय में अपने प्राण बचाने के लिये। मनु के इन वाक्यों पर लोग जल्दबाजी से आक्षेप कर बैठते हैं। उनको याद करना चाहिये कि मनु ने तो प्राणसंकट में यह अनुमति दी है। पर आज काल के पश्चिमी क़ानून में किसी भी छोटे से छोटे जुर्म के मुलजिम को हलफ़ न देकर झूठ बोलने की साफ़ इजाज़त दी है। तथा वकील की मुवक्किल में

जो बात हुई, डाक्टर की रोगी से जो बात हुई, पत्नी की पति से जो बात हुई, उस बात को गवाही साक्षी देने की मनाई करके इस क़ानून ने उनसे यदि सरीही झूठ नहीं बुल्वाया तो सच को छिपवाया, जो भी झूठ बोलने के बराबर है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आजकाल के क़ानून में जो ऐसे नियम हैं वे अनुचित हैं। ऐसा नहीं। ये सहेतुक हैं। तथा मनु के नियम भी सहेतुक हैं।

हिंसा-अहिंसा-समन्वय।

हिंसा और अहिंसा का विरोधपरिहार—कृष्ण की शिक्षा, "तस्माद् युध्यस्व भारत," और क्राइस्ट की शिक्षा "एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके आगे फेर दो"—इन दोनों का समन्वय सीधे सीधे नियमों से कर दिया है। प्रवृत्ति-मार्ग पर चलने वाले गृहस्थ के लिये, अपनी तथा अपने आश्रितों की रक्षा के लिये, हिंसा अर्थात् युद्ध उचित है, धर्म्य है, विशेष कर क्षत्रियवृत्ति जीव के लिये, जिसका मुख्य काम उसके नाम ही से द्योतित होता है, कि दुर्बलों को

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

अर्थात्, ऊँचे सिर वाला क्षत्र शब्द संसार में इसी लिये प्रसिद्ध है कि उसका अर्थ ही है कि क्षत से, चोट से, दुर्बलों का त्राण करता है।

इस प्रकार के आत्मरक्षणार्थ और स्वाश्रितरक्षणार्थ युद्ध की आज्ञा यहाँ तक दी है कि,

गुरु वा बालवृद्ध वा ब्राह्मण वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायात हन्यादेवाविचारयन् ॥ (मनु)

अर्थात् जानलेने की नीयत से जो अपने उपर झपटे उसको, आततायी को, बिना विचारे मार ही देना चाहिये, चाहे वह गुरु हो, चाहे बालक, चाहे वृद्ध, चाहे बहुत पढा लिखा ब्राह्मण । आज काल का अंग्रेजी दंड विधान तो इस से बहुत अधिक अनुमति देता है ।

दूसरी ओर, निवृत्तिमार्गी योगी सन्यासी के लिये "देश-कालानवच्छिन्ना महाव्रतम्" रूपिणी अहिंसा ही उचित है ।
(योगसूत्र)

राष्ट्रप्रबन्ध-तत्व-रहस्य ।

विविध प्रकार के राष्ट्र प्रबंधों का समन्वय यह है कि क्रियाप्रधानजीव क्षत्रिय अधिकार के काम करे, और ज्ञान-प्रधानजीव ब्राह्मणहृदय और ब्राह्मणबुद्धिवाला जीव, उसका नियमन नियंत्रण करे । इच्छाप्रधान जीव, द्रव्यसंचयशील, वैश्य प्रकृतिवाला जीव इन दोनों का तथा शूद्रों का भरण-पोषण करे । और अनुद्बुद्धबुद्धि, अव्यक्तगुण का, अर्थात् शूद्र प्रकृति का जीव अन्य तीनों की सहायता करे ।

ब्राह्मणे क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो नियोजित ।
(भागवत)

प्रजाना पालनाद्राजा विष्णोर श प्रकीर्तित ।

अर्थात्,

ब्राह्मण कर्म वालों ने क्षत्रिय कर्म वाले को प्रजा का

चौकीदार पहरुआ मुक़र्र र किया है। प्रजा का पालन करता है इससे विष्णु का अंश राजा माना जाता है। तथा प्रजा उसको करके रूप से भृति, मजदूरी काम का दाम, देती है, इससे प्रजा का दास भी राजा ही है।

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृप कृत ।
इत्यादि (शुक्रनीति)

अभिवाद-भेद समन्वय।

साधारण शिष्टाचार, दुआ सलाम, के भी जितने प्रकार सभ्य जातियों में प्रचलित हैं, सबका संग्रह इस मानवधर्म-व्यवस्थापति आर्यशालीनता में पाइयेगा। सिर का इशारा, या इसका झुकाना (अंग्रेजी "नाड्"), मुस्कराना, हाथ मिलाना, हाथ हिलाना (हैंड-शेक), सुप्रभातम्, (गुड् मार्निङ्ग), स्वागतम् (वेल्कम्), दहिने हाथ से सलाम, दोनो हाथ जोड़ना, गले मिलना, पैर छूना, साष्टांग दण्डवत्—सभी प्रकारों के लिये अधिकारभेदात् स्थान यहाँ रखा है।

भगवांस्तत्र बंधूनां पौराणामनिवर्तिनाम् ।
यथाविध्युपसगम्य सर्वेषां मानमादधे ॥
प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणै ।
आश्वास्य चा श्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभु ॥
(भागवत)

ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात् स च युधिष्ठिर ।
भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च।
ऋषीनभ्यर्चयामासु करानुद्यम्य दक्षिणान्॥
(शांति पर्व)

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ॥

(मनु) इत्यादि ।

अर्थात् कृष्ण भगवान् इन्द्रप्रस्थ से लौटकर द्वारका आये, तो बडों को झुककर प्रणाम किया, अति स्नेही बराबर वालों को गले लगाया औरों से हाथ मिलाया, किसी की ओर मुस्कुराये, किसी को दयादृष्टि से देखा। श्वपाक चाण्डाल पर्यन्त सबका आश्वासन किया।

शरशय्या पर पड़े भीष्म के दर्शन को गये, तो कृष्ण, पञ्च पाण्डव, और सात्यकि ने रथों से उतर कर, वहाँ एकत्र ऋषियों को अपने दाहिने हाथ उठाकर सलाम किया। अध्ययन के आरम्भ और अन्त में गुरु के पैर छूने चाहिये। इत्यादि।

अन्त्यक्रिया-भेद-समन्वय।

अन्त्य संस्कार में भी सभी प्रकारों का समन्वय देखिये। 'तिस्रो गतय, विडन्ता वा, रसान्ता वा, भस्मांता वा।" यह वाक्य "पञ्चत्व गत" की टीका रूप है। पाँच तत्व का बना पुतला फिर उन्हीं पाँच में लीन हो जाता। उसमें आकाश ऐसा सूक्ष्म है (तथा वायु भी) कि इसके द्वारा संस्कार किया असम्भव है। इसलिये तीन (अथवा चार भी) प्रकार के मरण संस्कार कहे हैं। एक यह कि तपस्वी वानप्रस्थ जंगल में अनशनादि व्रत से अपने शरीर का त्याग करे और उसे पशुपक्षी खाकर तृप्ति पावें। यह वायु संस्कार कहा जा सकता है क्योंकि दूसरे जीवों के प्राणवायु में शरीर लीन हो जाता है। अथवा रसा अर्थात् पृथ्वी में निखनन करना,

गाड़ देना। इसको पहिले प्रकार का अवान्तर प्रकार भी समझ सकते हैं। अथवा रस अर्थात् जल में प्रक्षेप करना, प्रवाह कर देना। अथवा अग्नि में दाह करके भस्म कर देना। ये सभी प्रकार मानवधर्म्म में अधिकारभेदेन वर्त्ते जाते हैं। अग्निदाह तो प्रसिद्ध ही है। अधिकांश मनुष्यों के लिये यही उचित है, वैज्ञानिक दृष्टि से भी, और बड़ी बस्ती के पास जमीन की कमी तथा शुद्धि के विचार से भी। यहाँ तक कि अब पश्चिम के बड़े बड़े शहरों में यही प्रकार वर्तने लगे हैं। मृत शरीर का भस्म लेकर मंजूषा मे रख कर, उसके ऊपर चैत्य, छतरी, आदि के नाम से मक़बरे बनाने की भी प्रथा पुरानी चली आती है। सन्यासियों को समाधि दी जाती है, अर्थात् गाड़े जाते हैं, इस विचार से कि इनका शरीर तपस्या से, ब्रह्म ध्यान से, लोकहित-चिन्तन से, इतना पवित्र हो गया है कि इसके किसी स्थान पर पड़े रहने से उनका प्रभाव कुछ दिनों तक उस स्थान को और आस पास को पवित्र करता रहेगा, और जो उसके पास आवेंगे उनका हृदय पूत पावित होगा। बुद्धदेव की अस्थियाँ कितने स्तूपों में रखी हुई हैं। अति बाल्यावस्था में मृत, तथा विशेष विशेष रोगों से मृत, शरीर का, तथा सन्यासी का भी, जल में प्रवाह किया जाता है। वाल्मीकि रामायण में कथा है कि राम ने विराध नाम राक्षस का, उसकी इच्छा के अनुसार, निखनन संस्कार किया, तथा कबन्ध नाम राक्षस का और जटायु नाम गृध्र का अग्नि संस्कार किया। (दूसरी जाति का है, इसको कैसे छुएँ, इस शङ्का को उठाया ही नहीं।)

व्यक्तिधर्म-समाजधर्म-समन्वय ।

एक और समन्वय की चर्चा करना आवश्यक है, अर्थात वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक परार्थ की। आजकाल के पश्चिम के अंगरेजी शब्दों में, "इंडिविजुअलिज़्म" और "सोशलिज़्म" को। इस पर कुछ पहिले भी कह आये हैं। इस विषय पर पश्चिम के देशों में बड़ी बहस चल रही है और प्रश्न बड़ा जटिल समझा जाता है। पर मानवधर्म में इसका उत्तर, इस ग्रन्थि का भेदन, सहज में किया है। पहिले दो आश्रमों में स्वार्थ की मात्रा अधिक रहे, और पिछले दो आश्रमों में परार्थ की मात्रा यहाँ तक बढ़ायी जाय कि मनुष्य निष्परिग्रह हो जाय, कुछ भी निज की जायदाद, अपना मालमता, न रक्खे, ममता बुद्धि को छोड़ दे, अब कि अहन्ता बुद्धि को भी छोड़ दे, अपने शरीर को भी 'अहं मम' करके न समझे। इससे बढ़ के और क्या 'कम्यूनिज्म' 'कलेक्टिविज्म' 'साम्यवाद' अथवा 'सर्वसमानसत्तावाद' हो सकता है? मोक्ष का अर्थ ही अहन्ता और ममता से मोक्ष, सब जगह सबमें एक ही परमात्मा को देखना। पर देखिये, इसके संबन्ध में भी कैसी भयानक दुर्बुद्धि इस देश में फैल रही है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
(गीता)

स्वार्थ और मोक्ष ।

भागवत में ही लिखा है कि जो परम परमार्थ स्वरूप मोक्ष है उसी को लोगों ने भ्रम से स्वार्थ कर डाला है। 'मेरा' मोक्ष हो,

और चाहे किसी का हो या न हो, अथवा यदि औरों का न हो तो अच्छा ही है ! परम अभेदबुद्धिरूप मोक्ष को भी भेद-भाव-पूर्ण कर दिया है ! अहन्ता के नाश को भी तीव्रतम अहन्ता का विषय बना डाला है ! प्रह्लाद की उक्ति है, भगवान् के प्रति,

> प्रायेण देवमुनय स्वविमुक्तिकामा
> स्वार्थं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा ।
> नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
> नान्य त्वदस्य शरण भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

"प्रायेण देवता और मुनि 'अपनी' ही मुक्ति चाहते हैं, और अकेले में बैठ के 'अपनी' ही फिक्र करते हैं औरों की नहीं। मैं इन कृपण दीन जनों को छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता हूँ, और इस भ्रमते हुए ससार से शरण देनेवाला सिवाय आपके किसी और को नहीं देखता हूँ।" 'अपनी' मुक्ति—यह वाक्य, यह विचार, यह भाव, ही स्वतो-व्याहत है। 'अपनापन' छोड़ने ही का तो नाम मुक्ति है।

इस प्रकार से "कुरु कर्म त्यजेति च" का समन्वय आर्य-धर्म में किया है। ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य में "कुरु कर्म", अर्थात् अभ्युदयरूप धर्म-अर्थ-काम खोजिये, स्वार्थ साधिये, पर "अन्याद्रोहेण", दूसरों का सरोही नुकसान न करके, कानून की मर्यादा की हद के भीतर रह के। वानप्रस्थ और संन्यास में निःश्रेयसरूप मोक्ष साधिये, "त्यजेति" के द्वारा, परार्थसाधन के द्वारा।

> यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
> निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥

व्यक्तिधर्म-समाजधर्म-समन्वय।

एक और समन्वय की चर्चा करना आवश्यक है, अर्थात वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक परार्थ की। आजकल के पश्चिम के अंग्रेजी शब्दों में, "इंडिविजुअलिज़्म" और "सोशलिज़्म" को। इस पर कुछ पहिले भी कह आये हैं। इस विषय पर पश्चिम के देशों में बड़ी बहस चल रही है, और प्रश्न बड़ा जटिल समझा जाता है। पर मानवधर्म में इसका उत्तर, इस ग्रन्थि का भेदन, सहज में किया है। पहिले दो आश्रमों में स्वार्थ की मात्रा अधिक रहे, और पिछले दो आश्रमों में परार्थ की मात्रा यहाँ तक बढ़ायी जाय कि मनुष्य निष्परिग्रह हो जाय, कुछ भी निज की जायदाद, अपना माल्मता, न रखे, ममता बुद्धि को छोड़ दे, अथ किं अहन्ता बुद्धि को भी छोड़ दे, अपने शरीर को भी 'अहं मम' करके न समझे। इससे बढ़ के और क्या 'कम्यूनिज़म' 'कलेक्टिविज़म' 'साम्यवाद' अथवा 'सर्वसमानसत्तावाद' हो सकता है? मोक्ष का अर्थ ही अहन्ता और ममता से मोक्ष, सब जगह सबमें एक ही परमात्मा को देखना। पर देखिये, इसके संबन्ध में भी कैसी भयानक दुर्बुद्धि इस देश में फैल रही है।

> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
> सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
>
> (गीता)

स्वार्थ और मोक्ष।

भागवत में ही लिखा है कि जो परम परमार्थ स्वरूप मोक्ष है उसी को लोगों ने भ्रम से स्वार्थ कर डाला है। 'मरा' मोक्ष हो,

और चाहे किसी का हो या न हो, अथवा यदि औरो का न हो तो अच्छा ही है। परम अभेदबुद्धिरूप मोक्ष को भी भेद भावपूर्ण कर दिया है। अहन्ता के नाश को भी तीव्रतम अहन्ता का विषय बना डाला है! प्रह्लाद की उक्ति है, भगवान् के प्रति,

प्रायेण देवमुनय स्वविमुक्तिकामा
स्वार्थं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्य त्वन्स्य शरण भ्रमतोऽनुपश्ये॥

"प्रायेण देवता और मुनि 'अपनी' ही मुक्ति चाहते हैं, और अकेले में बैठ के 'अपनी' ही फिक्र करते हैं औरों की नहीं। मैं इन कृपण दीन जनों को छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता हूँ, और इस भ्रमते हुए ससार से शरण देनेवाला सिवाय आपके किसी और को नहीं देखता हूँ।" 'अपनी' मुक्ति—यह वाक्य, यह विचार, यह भाव, ही स्वतोव्याहत है। 'अपनापन' छोड़ने ही का तो नाम मुक्ति है।

इस प्रकार से "कुरु कर्म त्यजेति च" का समन्वय आर्यधर्म में किया है। ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य में "कुरु कर्म", अर्थात् अभ्युदयरूप धर्म-अर्थ-काम खोजिये, स्वार्थ साधिये, पर "अन्याद्रोहेण", दूसरों का सरीहो नुकसान न करके, कानून की मर्यादा की हद के भीतर रह के। वानप्रस्थ और संन्यास में निःश्रेयसरूप मोक्ष साधिये, "त्यजेति" के द्वारा, परार्थसाधन के द्वारा।

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि॥

व्यक्तिधर्म-समाजधर्म-समन्वय ।

एक और समन्वय की चर्चा करना आवश्यक है, अर्थात वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक परार्थ की। आजकाल के पश्चिम के अंग्रेजी शब्दों में, "इंडिविजुअलिज़्म" और "सोशलिज़्म" को। इस पर कुछ पहिले भी कह आये हैं। इस विषय पर पश्चिम के देशों में बड़ी बहस चल रही है और प्रश्न बड़ा जटिल समझा जाता है। पर मानवधर्म में इसका उत्तर, इस ग्रन्थि का भेदन, सहज में किया है। पहिले दो आश्रमों में स्वार्थ की मात्रा अधिक रहे, और पिछले दो आश्रमों में परार्थ की मात्रा यहाँ तक बढ़ायी जाय कि मनुष्य निष्परिग्रह हो जाय, कुछ भी निज की जायदाद, अपना मालमता, न रखे, ममता बुद्धि को छोड़ दे, अब कि अहन्ता बुद्धि को भी छोड़ दे, अपने शरीर को भी 'अहं मम' करके न समझे। इससे बढ़ के और क्या 'कम्यूनिज़म' 'कलेक्टिविज़्म' 'साम्यवाद' अथवा 'सर्वसमानसत्तावाद' हो सकता है? मोक्ष का अर्थ ही अहन्ता और ममता से मोक्ष, सब जगह सबमें एक ही परमात्मा को देखना। पर देखिये, इसके संबन्ध में भी कैसी भयानक दुर्बुद्धि इस देश में फैल रही है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
(गीता)

स्वार्थ और मोक्ष ।

भागवत में ही लिखा है कि जो परम परमार्थ स्वरूप मोक्ष है उसी को लोगों ने भ्रम से स्वार्थ कर डाला है। 'मेरा' मोक्ष हो,

और चाहे किसी का हो या न हो, अथवा यदि औरों का न हो तो अच्छा ही है ! परम अभेदबुद्धिरूप मोक्ष को भी भेद-भावपूर्ण कर दिया है ! अहन्ता के नाश को भी तीव्रतम अहन्ता का विषय बना डाला है ! प्रह्लाद की उक्ति है, भगवान् के प्रति,

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः
स्वार्थं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

"प्रायेण देवता और मुनि 'अपनी' ही मुक्ति चाहते हैं, और अकेले में बैठ के 'अपनी' ही फिक्र करते हैं औरों की नहीं। मैं इन कृपण दीन जनों को छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता हूँ, और इस भ्रमते हुए संसार से शरण देनेवाला सिवाय आपके किसी और को नहीं देखता हूँ।" 'अपनी' मुक्ति—यह वाक्य, यह विचार, यह भाव, ही स्वतो-व्याहत है। 'अपनापन' छोड़ने ही का तो नाम मुक्ति है।

इस प्रकार से "कुरु कर्म त्यजेति च" का समन्वय आर्य-धर्म में किया है। ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य में "कुरु कर्म", अर्थात् अभ्युदयरूप धर्म-अर्थ काम खोजिये, स्वार्थ साधिये, पर "अन्याद्रोहेण", दूसरों का सरोहो नुकसान न करके, कानून की मर्यादा की हद के भीतर रह के। वानप्रस्थ और संन्यास में निःश्रेयसरूप मोक्ष साधिये, "त्यजेति" के द्वारा, परार्थसाधन के द्वारा।

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥

अर्थस्य मूलं निकृति क्षमा च कामस्य रूपं च वयो वपुश्च।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य चैवोपरम क्रियाभ्य ॥
(सक्षेप शारीरक)

अर्थात् जिधर जिधर से हटेगा, उधर उधर से मुक्त होगा। सब ओर से हट जाय तो सब दु:खों से छूट जाय। अर्थ-सम्पत्ति का मूल, नीचा काम करना और बर्दाश्त करना। काम-भोग का साधन, यौवन और बलवान और सुंदर रूपवान् शरीर। धर्म का साधन, इन्द्रियदमन, दया और यज्ञ। मोक्ष का एक मात्र साधन, सब वस्तुओं का, सब क्रियाओं का, त्याग।

बिना 'स्वार्थ' के मनुष्य-व्यक्ति जी नहीं सकता है। बिना परार्थ के मनुष्य-समाज एक क्षण भी ठहर नहीं सकता है। युवा जीवों में स्वार्थ की मात्रा किंचित् अधिक हो और वृद्धजन में परार्थ की मात्रा अच्छी बढ़ी हो, तो दोनों बात मनुष्य समुदाय में सिद्ध हो सकती है, "इंडिविजुअलिज्म" के भी गुण हासिल होंगे और "सोशलिज्म" के भी। रजोगुण भी अपना काम करेगा और सत्वगुण भी। तथा दोनों एक दूसरे से तमोगुण द्वारा संसृष्ट रहेंगे। "तदेव बुद्धिसत्वं रजोमात्रयाऽनुविद्ध धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति।" (योगभाष्य) अर्थात्, बुद्धि का जो सात्त्विक अर्थात् ज्ञान का अंश है उसमें रजस् अर्थात् क्रिया का थोड़ा अंश मिला रहे तो जीव की रुचि धर्म और ज्ञान और वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर होती है। और यह बात नैसर्गिक भी है, प्रकृति के अनुकूल भी है, कि युवाजन वृद्धों के मार्ग मिलें, स्वार्थ, पुरा रहे, और वृद्ध उनकी फिक्र करें। यदि ऐसा न हो तो नयी पुश्त जी न सके। पुरानी

पुश्त यदि सर्वथा स्वार्थी हो जाय और नयी पुश्त की फिक्र न करे तो मानववंश का तत्काल उच्छेद हो जाय। "वृद्धस्तावर्चितामग्न।" हां, "परहितचिंतामग्न," "ब्रह्मचिंतामग्न" होना चाहिये, "स्वार्थचिंतामग्न" नहीं। सबसे सहज समन्वय, स्वार्थ और परार्थ का, व्यक्ति के अर्थ का, और समाज के अर्थ का, यों कीजिये। "स्व" का अर्थ "मैं" भी और "हम" भी। प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण इन दोनों शब्दों का प्रयोग करता है। यथा "मैं" राम, कृष्ण, आदि और "हम" काशीवासी, "हम" भारतवासी, 'हम" हिंदू, "हम" मुसल्मान, "हम" ईसाई, इत्यादि। मैं के बिना हम नहीं, हम के बिना मैं नहीं। व्यक्ति के बिना समाज नहीं, समाज के बिना व्यक्ति नहीं। स्वार्थ-परार्थ परस्पर अभेद्य संबंध से बँधे हैं। पुनरपि "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद"। "मैं" की मात्रा अधिक होने से स्वार्थ, "हम" की मात्रा अधिक होने से परार्थ। पहिली उमर में वह, पिछली उमर में यह। पश्चिम में, यूरोप के प्रांतों में, समाजशास्त्र पर विचार करने वालों में दो पक्ष हो रहे हैं। एक पक्ष का मत यह है कि प्रत्येक मनुष्य को पूरा अवसर देना चाहिये कि वह अपनी शक्तियों का यथेष्ट प्रयोग करके जहाँ तक उससे बन पड़े लाभ उठावै, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के संघर्ष से मानव-शक्ति बढ़ैगी। ये लोग "इंडिविजुअलिस्ट", "व्यक्तिवादी", कहलाते हैं। दूसरे पक्ष का मत है कि किसी को अपने निज के लाभ के लिये काम करने देना ही न चाहिये, सब संपत्ति समाज की हो, और सब काम समाज के नाम से, समाज के लिये हो, सब आदमी करें, और समाज की ओर से सबको

अन्न वस्त्र मिले। ये लोग "सोशलिस्ट", "समाजवादी," कहलाते हैं। "साम्यवादी", "अराजकवादी," "श्रेणीवादी," आदि इन्हीं के अवान्तर भेद हैं। ये दोनों ही पक्ष "अत्यतवादी" "अतिवादी", "एक्स्ट्रीमिस्ट" हैं, मनुष्यप्रकृति के विरुद्ध हैं, इसलिये अव्यवहार्य हैं। निजी सपत्ति, परिग्रह, "प्रापर्टी" किसी व्यक्ति के पास न रहे, इसका तो अर्थ यही है कि "ममता" न रहे, और अतएव द्वितीय क्षण में, अथवा साथ ही साथ, "अहंता" भी न रहे, कुटुम्ब, दारा, पुत्र, स्वशरीर भी, न रहें। तो यह बात प्रवृत्तिमार्ग पर सर्वथा असंभव है। इस काष्ठा का जब व्यक्तित्व का नाश होगा, तब साथ ही उसके समाजत्व का भी नाश हो जायगा। एव, यदि व्यक्तित्व को, अहंभाव को, अत्यंत बढ़ाया जाय, और वय भाव को अत्यत दबाया जाय तो भी यही दुष्फल होगा। दोनों का उपर्युक्त प्रकार से मर्यादाबंधन, सीमाकरण, समन्वय करने से ही, मनुष्यमात्र का कल्याण होगा। ऐसी ऐकपाक्षिक, अनध्यात्मवित्, अतएव प्रतिपद विरोधमान 'अर्वाचीन' "स्मृतियों" की चर्चा आगे फिर भी की जायगी।

प्रकृति विकृति-संस्कृति।

इस सबका निष्कर्ष यही है कि प्राकृतिक वस्तुस्थिति को, स्वाभाविक नियमों और कार्यकारण-सम्बन्धों को, लेकर, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक, ऐहलौकिक और पारलौकिक, जीवन के लिये, तथा मोक्ष के लिये, नियमबद्ध, मर्यादित, कर देना, प्रकृति के विकृतियों का संस्कृत कर देना,

नैसर्गिक भावों का संस्कार परिष्कार कर देना—इतना ही काम सनातन आर्य-वैदिक-मानव-बौद्ध धर्म का है। और इसी से यह सर्वसंग्राहक है, किसी का भी अत्यन्त विरोधी नहीं। "यह ही"—ऐसा कभी नहीं कहता, "यह भी"—ऐसा ही कहता है। पक्ष में भी इतना अंश ठीक है, प्रतिपक्ष में भी इतना अंश ठीक है। मैले के लिये भी "खाद"रूपेण खेत में परमोपयोगी स्थान है, वह भी अन्न का "खाद्य" है। सर्वव्यापी परमात्मा किसी का अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकता।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

अर्थात्, "मैं" हो तो इस सारे जगत् को, जगदन्तर्वर्त्ती समस्त विरुद्ध भावों को, अपने एक अंश से, ध्यान के, संकल्प के, अवधारण के, बल से धारे हैं (हूं)। यही विवेक, यही लोच, यही लचीलापन, यही विवेकपूर्वक सकोचविकासशीलता, यही विभुता, यही व्यापकता, इस धर्म की प्रबलता का मुख्य कारण भी और मुख्य लक्षण भी है। काल के प्रवाह से, युगपरिवर्तन से मनुष्यसमाज में रागद्वेषादि प्रयुक्त दुर्भावों की वृद्धि से, धर्माधिकारियों और ज्ञानप्रवर्तकों में स्वयं स्वार्थांधता, अधर्म, और अज्ञान की वृद्धि और तपोबल की हानि से, जितना ही इस विवेक और इस लोच के भाव का ह्रास हुआ, उतना ही इस धर्म का बल क्षीण होना और फैलाव और घेरा घटता गया है।

नाम समन्वय मानवधर्म्म।

इस धर्म्म का नाम मानवधर्म्म है—इसलिये कि मानव मात्र इसके अन्दर आ सकते हैं और हैं ही। यदि इसके रक्षकों को सद्‌बुद्धि होती तो आज जो मजहबी झगड़े इस देश को

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ॥
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा है, हे राजा ! दूसरों के सरसों बराबर छेद बड़ी बारीक निगाह से देखते हो, पर अपने बेल के बराबर भी छेद देखकर भी नहीं देखते हो । विभीषण ने रावण से कहा है, हे राजा ! सदा मीठा बोलने वाले चापलूस खुशामदी बहुत मिलते हैं, पर ऐसी कड़ुई पर हितकारी बात बोलनेवाले भी और सुननेवाले भी कम मिलते हैं ।

दूसरे नाम ।

इस धर्म के अन्य नामों पर भी विचार कीजिये । इसको आर्यधर्म भी कहते हैं । आर्य शब्द का अर्थ है, ऋजुबुद्धि का, सत्यबुद्धि का, मनुष्य, तथा कृषिजीवी भी, और आत्मवशी । ऐसे मनुष्यों का निश्चय और धारण किया हुआ धर्म आर्यधर्म है ।

इसी का एक अभिधान वैदिक धर्म भी है । "वेदयतीति वेद" । कार्यों और कारणों के सम्बन्ध को बताने वाले सब ज्ञान का नाम वेद है । "अनन्ता वै वेदाः" यह तैत्तिरीय श्रुति है । इस विस्तृत अर्थ में विद् धातु से निकली हुई जितनी सभी विद्या हैं सभी वेद को अंगोपांग हैं, उसके शरीर के अंग अवयव हैं, उससे पृथक् नहीं हैं, सभी "सायंस" इसमें शामिल हैं । और जब सायंस और शास्त्र की तथ्य बातें पुरुष रचित नहीं हैं, तो प्रत्यक्ष ही वे अपौरुषेय हैं । दो और दो मिलके चार होता है, यह बात स्पष्ट ही पुरुषकृत नहीं है, पुरुषदृष्ट मात्र है ।

आर्षं धर्मोपदेशं तु वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर ॥
हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेन्न लोकं विरसं चरेत् ॥ (शांतिपर्व)

वेद शास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र परम प्रत्यक्ष, प्रतिक्षण प्रत्यक्ष, "अहं"तत्त्व, आत्मतत्त्व, पर प्रतिष्ठित है। "नहि कश्चित् संदिग्धेऽहं वा नाऽहं वेति" (भामती)। इस परम प्रत्यक्ष का न कभी अपलाप हुआ, न होता है, न होगा। सो ऐसे दृढ़मूल अध्यात्मशास्त्र के अनुकूल तर्क से जो ऋषियों के कहे हुए धर्मों के हेतुओं का अनुसंधान करता है, बिना हेतु को समझे काम नहीं करता, केवल "ऋषि, ऋषि, शास्त्र, शास्त्र, वद, वेद" पुकारता ही नहीं, वही तो धर्म को जानता है। दूसरे लोग धर्म को नहीं जानते।

ऐसे हेतुयुक्त, कार्यकारणपरम्परासूत्र से सूत्रित, सम्बद्ध, सुव्यूढ ज्ञान को 'सायंस" पश्चिम देश में कहते हैं। यहाँ उसका व्यापक नाम "वेद" है। पहिले कह आये हैं,

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

एक परमात्मा में सब भूतों को प्रतिष्ठित, तथा सब भूतों का उसी एक से विस्तार, जब मनुष्य पहिचान लेता है, तभी उसका ब्रह्म अर्थात् ज्ञान सम्पन्न होता है, और यह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। पश्चिम के शब्दों में पहिले अंश को यथाकथंचित् 'मेटाफिजिक्" और दूसरे को "सायंस" कहते हैं। पर दोनों ही "सायंस" कहे जायँ तो भी उचित है।

जो एक विशेष शब्दसमूह को विशेष रूपेण ऋग्वेद,

यजुर्वेद, आदि विशेष विशेष नाम से पुकारते हैं यह विशेष क्या है। सामान्य नाम वेद के अन्तर्गत ये विशेष नाम हैं। तो अब ऐसे "सायम", ऐसे "वेद", के मूल तत्वों को लेकर, ऐसे कारण से ऐसा कार्य होता है, ऐसे आचरण से ऐसा फल, सुखात्मक अथवा दुःखात्मक, दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष, शारीर आदि, अथवा अदृष्ट, बौद्ध संस्कार रूपादि, होता है, इन तथ्यों को ध्यान में रख कर देश-काल-निमित्तानुसार यह धर्म चलता है, और सब प्राणियों का धारण करता है, इसलिये इसको वैज्ञानिक धर्म, "सायंटिफिक रिलिजन" भी कहते हैं।

इसको बौद्धधर्म भी कहते हैं, क्योंकि इसके सब नियम, सब शास्त्र, सात्विकबुद्धि के अनुसार बनाये गये हैं, और इसमें सब संशयों के निर्णय के लिये, "शास्त्र" शब्द पर अंधविश्वास से नहीं, किंतु इसी सात्विकबुद्धि से काम लिया जाता है।

> बुद्धौ शरणमन्विच्छ बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
> बंध मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥
> (गीता)

कृष्ण का गीता में परमोपदेश है कि सात्विक बुद्धि का शरण लो, बुद्धि के नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है। सो आजकल यह तामस दुर्बुद्धि फैली है कि संस्कृत पढ़े लोग भी कह देते हैं कि "धर्म में बुद्धि को स्थान नहीं", "जो पोथी में लिखा है वही धर्म है, और यह बदल नहीं सकता", इत्यादि। साथ ही इसके, अपने मतलब के समय पर यह भी "पुराण" श्लोक, कलिवर्ज्य प्रकरण का पढ़ दिया करते हैं,

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभि ।
निवर्त्तितानि विद्वद्भि व्यवस्थापूर्वक बुधै ॥

अर्थात् कलियुग के आरम्भ में, लोक के हित के लिये, विद्वान्, बुध, बुद्धिमान् महात्माओंने, इन इन आचारों को बद कर दिया, उनका निवर्त्तन कर दिया। क्यों, भाई। कलियुग के आदि में पुराने शास्त्रोक्त धर्मों का बुद्धिमान् महात्माओं ने निवर्त्तन और शास्त्रानुक्त नये धर्मों का प्रवर्त्तन बुद्धि के बल से किया, तो आज ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? केवल "शास्त्र" "शास्त्र" पुकारने वाले नासमझों, अथवा स्वार्थी मतलबियों, के बुद्धिद्वेष और स्वतोऽव्याहत वाक्यों की दशा यह है !

इसको "सनातन धर्म" इसलिये कहते हैं कि जो एक ही वस्तु सनातन है अर्थात् आत्मा, परमात्मा, (नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन । गीता), उसी पर, उसी के ज्ञान की नीव पर, यह धर्म खड़ा किया गया है, और प्रतिष्ठित है, इसलिये स्वय मुख्य मुख्य अश में सनातनवत् स्थिर है। कच्ची बुनियाद के दूसरे धर्म रोज उठते, रोज गिरते रहते हैं, जो आत्मज्ञान, मानवप्रकृतिज्ञान, को लेकर नहीं चलते। 'मुख्य अ श' याद रखना चाहिये। घर की नीव, दीवार, खंभे, छत, नहीं बदलेंगे, पर हाडी, पुरवा, पत्तल आदि सामग्री स्थिर नहीं है, वह तो रोज बदलती ही रहैगी, उसको भी सनातन करने का यत्न करना मूर्खता है।

इसको 'इस्लाम' धर्म, फारसी, अरबी के शब्द में, कह सकते हैं, क्योंकि अल्ला की वहदत को, परमात्मा की एकता को, यह नितरां 'तस्लीम' करता है, स्वीकार करता है, मानता है,

और सब जीवों की, संसार मात्र की, 'सलामत' शान्ति, भलाई, चाहता है।

इसको ग्रीक और अंग्रेजी भाषा के शब्द में 'क्रिश्चिया-निटी' भी कह सकते हैं, क्योंकि 'क्रिस्टास्'' शब्द का अर्थ अभिषिक्त, स्नात है। "बप्तिस्मा" का अर्थ जलसिंचन, अभिषेक है। पर असल अर्थ यह है कि जब तक आत्मज्ञान के जल से जीव का सिंचन नहीं होता, जब तक यह आत्मानुभव में निवरा स्नात, निष्णात, नहीं होता, तब तक यह सच्चा 'क्रिस्चियन', सच्चा द्विजन्मा मानव, "रि-जेनरेट्", नहीं होता।

ऊपर कहा कि इस वैदिकधर्म की परम प्रतिष्ठा आत्मज्ञान के ऊपर है, जो आत्मा सनातन है, जिसकी प्रकृति, जिसका स्वभाव, और तज्जनित गुणकर्म आदि भी, सनातन है, इसलिये इस धर्म का नाम सनातन धर्म भी है। आत्मस्वभाव को भुला-कर जो रास्ते बनाये जाते हैं वे शीघ्र ही बिगड़ जाते हैं।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥
या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
उत्पद्य ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ (मनु)

जो अध्यात्म को नहीं जानता वह सभी उचित क्रिया नहीं कर सकता और सच्चे उत्तम फल को नहीं पा सकता। वेद से बाह्य, अर्थात् अध्यात्म शास्त्र के विपरीत, स्मृतियाँ और दृष्टियाँ अर्थात् क़ायदे क़ानून और दर्शन जो हैं, वे सब अनृत, मिथ्या, झूठे और निष्फल हैं, दुष्फल

हैं। जो दर्शन और जो धर्म आत्मा को लेकर चलते, आत्मा के स्वभाव, आत्मा की प्रकृति को ध्यान में रख कर, जीवात्मा के बहिष्करण और अंत करण की बनावट के प्रतिकूल नहीं, किन्तु अनुकूल, नियम बनाते हैं, उसी की नींव पर जीवन-विधि और समाजव्यूह को उठाते हैं, वे ही स्थिर और सुफल हैं।

इसलिये आप लोगों को गुरुकुल में ब्रह्मचर्य पूर्ण करके दीक्षान्त के समय, इस आत्मज्ञान का स्मरण कराता हूँ, कि ससार में जाकर, गृहस्थी उठाकर, इसके अनुसार अपना और अपने परिवार का और समाज का उपकार और सुधार कीजिये। "सत्य वद, धर्म चर, स्वाध्यायात् कुशलाद् भूते मा प्रमद।" और "विद्या ददाति विनय" के विनय शब्द के अर्थ पर विशेष ध्यान रखिये। "विशेषेण नयन"। विशिष्ट उत्तम रीति से जीवन का नयन, ले चलना, निबाहना। सासारिक माया, आत्मा की माया, के तीन मुख्य अवयव हैं, देश, काल, क्रिया। बंधे समय पर, बंधे स्थान में, बधी क्रिया करना—यह "विनयन" का "डिसिप्लिन," "ट्रेनिङ्", "आर्डर्लिनेस्" का तात्त्विक रूप है। इससे सब जीवनप्रबंध सुखमय होता है। इसके विरुद्ध आचरण से, दुःखमय, अस्तव्यस्त, निर्मर्याद, अशिष्ट बर्बरों के ऐसा।

आत्मा का स्वरूप।

प्रमाद न हो इसलिये एक चेतावनी और देना आवश्यक है। आत्मा का स्वरूप परम प्रत्यक्ष है, सभी "मैं" "मैं" कहते हैं, तथापि यह स्वरूप परम गूढ, परम रहस्य भी है। यदि किसी

भी देशकालावच्छिन्न परिमित पदार्थ को "मैं" का आत्यन्तिक स्वरूप समझ लिया तो "महती विनष्टि !" यहाँ बड़े सूक्ष्म विचार और सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

छूरे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण और दुर्गम यह आत्मदर्शन का पथ है। इस पर बहुत सावधानी से चलना चाहिये।

उपनिषत् में कथा है। इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापति के पास पूछने गये,

"हंत, तमात्मानमन्विच्छामो,
यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति,
सर्वांश्च कामान् इति।"

पितामह! उस आत्मा की खोज में हम फिर रहे हैं, जिस आत्मा को पाकर सब लोक और सब अभीष्ट काम मिल जाते हैं, सो आप बताइये कि कहाँ कैसे मिलेगा।

प्रजापति ने कहा, गुरुकुल में वास करो। बत्तीस वर्ष दोनों ने वास किया। पुन प्रजापति के पास आये। प्रजापति ने कहा, नाँद में पानी भर के देखो, जो दीख पड़े वही आत्मा है।

विरोचन ने देखा। अपने शरीर ही को आत्मा जान चले गये। देहात्मवादी हुए। शरीर को ही माला फूल गहने कपड़े से पूजा अर्चा की। आसुरी संपत् के अधिकारी हुए। थोड़े दिनों में अति उद्दण्डता के कारण मारे गये।

इन्द्र ने भी अपना मुँह पानी में देखा। सन्तोष न हुआ। तरह तरह की शंकायें मन में उठीं। पुन प्रजापति के यहाँ गये।

आज्ञा हुई—और बसो। बत्तीस बरस और बसे। पूछा। उत्तर मिला, स्वप्न में जो पदार्थ स्वच्छन्द विचरता है वही आत्मा है। फिर भी शङ्का हुई। और भी बत्तीस बरस वास करके विचार करते रहे। आदेश हुआ कि सुषुप्ति की चेतना ही आत्मा है। फिर भी कुछ शका हो गयी। और पाँच वर्ष परिश्रम किया। एक सौ एक वर्ष के विचार के पीछे इन्द्र की सब शका निवृत्त हुई, आत्मलाभ हुआ, अमर हो गये, अर्थात् अमर तो थे ही, पर यह ज्ञान, यह निश्चय, प्रत्यक्ष हो गया कि जिस चेतना से यह शरीर जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति (तीन वास) तीनों अवस्था में चेतित है वह (तुर्यावस्था की, चौथे वास की) चेतना, यह आत्मा, अजर अमर है। अमरत्व के विश्वास ही का लाभ तो अमरत्व का लाभ है।

एक सौ एक वर्ष सख्या का अर्थ कई तरह से लोग लगाते हैं। अपना मतलब इस स्थान पर इतना ही है कि आत्मा का स्वरूप, 'स्व' का रूप, ठीक ठीक पहिचानना चाहिये, इसमें एक सौ एक, क्या एक हजार एक, भूल होने का सभव है। और यदि एक भी गहिरी भूल हो गई तो आत्मलाभ तो होगा नहीं, विरोचन के ऐसा शरीरहानि हो जायगी।

यदि "अहं ब्रह्मास्मि" का अर्थ 'पराया माल अपना' और आराम तलबी और बदमाशी और मुफ्तखोरी समझा, तो वेशधारियों के मारे देश की मुसीबत हो जाती है। यदि अहंकार को आत्मा समझ लिया, यदि अभिमान को आत्म सम्मान, आत्मगौरव जान लिया, यदि निर्मर्यादता को स्वतन्त्रता, उच्छृङ्खलता धृष्टता को आत्मवशता, यदि अविनीतता और

दुर्विनीतता को स्वच्छन्दता, यदि दर्पन को बहादुरी, समझ लिया, तब तो स्वराज के ठिकाने अराजक, हुल्लड़शाही, का उत्पात मचेगा, और सुखी होने की जगह हम लोग महा दुःख में गिरेंगे।

आजकाल जो भारतवर्ष की स्वराज की लड़ाई रुक अथवा बिगड़ रही है, उसमें मुख्य कारण यही है कि अब तक "स्व" के सच्चे सामाजिक तथा दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा राजनैतिक स्वरूप पर विचार ही नहीं हुआ है। अधिकांश भारतीय नेताओं और नोटों ने विरोचनवत् पश्चिम के देशों में प्रचलित स्वराज के रूपों को ही स्वराज का सच्चा स्वरूप समझ रखा है। अथवा, अपने ही अपने मुँह को विरोचनवत् "स्व" समझ लिया है, और उसीके राज को स्वराज मानना और मनाना चाहते हैं। स्वराज का अर्थ हिंदू हिंदू-राज, मुसल्मान मुसल्मान-राज, जमींदार जमींदार-राज, काश्तकार काश्तकार-राज, ब्राह्मण ब्राह्मण-राज, अब्राह्मण अब्राह्मण-राज, क्षत्रिय क्षत्रिय-राज, पूंजीवाला पूंजीपति-राज, श्रमजीवी श्रमजीवी-राज, इत्यादि अपने मन में कर रहा है। फल इसका—परस्पर अविश्वास, भेद, कलह, ईर्ष्या, मत्सर, छल, द्वेष, बढ़ रहे हैं, कार्यशक्ति घट रही है, स्वराज पास आने के ठिकाने दूर हटा जाता है।

एक किंवदंती है कि सन् १८५७ में "सिपाही युद्ध" के समय एक बड़े राजा या नवाब ने दूसरे बड़े राजा या नवाब से कहला भेजा कि अगर हम तुम मिल जायँ तो विदेशियों के पैर उखड़ जायँगे, और ये देश में कदापि न ठहर सकेंगे। दूसरे राजा या नवाब ने पहिले राजा या नवाब से पुछ भेजा कि

विदेशियों के हट जाने के बाद दिल्ली के तख्त पर आप बैठेंगे या मैं। इसके बाद और बातचीत नहीं हुई। विदेशी देश में रहे, और दिल्ली के तख्त पर बैठे। न राजा बैठे न नवाब। यदि पहिले राजा या नवाब से यह जवाब देते बनता कि अब स्वदेशी विदेशी के भी झगड़े छोड़ो, न तुम तख्त पर बैठो, न मैं, न कोई तीसरा विदेशी या स्वदेशी खाहमखाह, बल्कि ऐसे ऐसे भले आदमी, निस्स्वार्थ अर्थात् सर्वस्वार्थी, परार्थी, और परमार्थी, "अकाम सर्वकामो, वा", जिन पर तुमको भी और मुझको भी और सब प्रजा को भी विश्वास और श्रद्धा हो, कि ये हमारे देश और समाज के अंतर्यामिस्थानीय उत्तम 'स्व' हैं, (अधम "स्व" नहीं) ऐसे आदमियों की एक सभा "तख्त" पर बैठेगी, अर्थात् धर्म का आम्नान व्यवसान व्यवस्थापन निर्णयन निर्माण करेगी, और उस धर्म को, उस कायदे कानून को, हम भी आप भी सभी मानेंगे—यदि ऐसा उत्तर देते बनता तो स्यात् आज भारतवर्ष का इतिहास दूसरा ही होता।

यही दशा इस समय उपस्थित है। 'स्व-राज' 'स्व-राज' सब पुकारते हैं। 'स्व' का अर्थ ठीक ठीक जानते ही नहीं, विचारते ही नहीं। आत्मज्ञान की कितनी आवश्यकता राजनीति के क्षेत्र में है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने मौजूद है, कि बिना इसके सब कार्य अस्त-व्यस्त हो गया है। मनु का वचन पहिले कह आये हैं,

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।

ईसामसीह ने भी यही बात कही है, कि यदि मनुष्य सारे संसार की सब वस्तुओं को पाले पर अपने आपको, अपने

आत्मा को ही खो दे तो उसको क्या लाभ हो सकता है? वह कोई वस्तु नहीं पावेगा, और यदि पावेगा भी तो शीघ्र ही फिर खो देगा। इस देश में तो आत्मविद्याका नाम ही राजविद्या रख दिया था, पर यह सब बात नितांत विस्मृत हो गई है। दार्शनिकों में कहने की प्रथा यह है कि अन्य सब ज्ञान कर्मपरक हैं, पर आत्मज्ञान आत्मपरक ही है। और एक दृष्टि से यह नितांत सत्य भी है। पर दूसरी दृष्टि से देखिये, तो आत्मज्ञान यदि कर्मपरक नहीं तो सब ज्ञानों से अधिक, अथवा यही अकेला कर्मशोधक, धर्मसाधक, कर्तव्यबोधक है। स्वयं भगवद्गीता ही इसका प्रमाण है। योगवासिष्ठ के मुमुक्षु प्रकरण के दश दश अध्याय में विस्तार से इसका वर्णन किया है कि राजों का मोह हटाने को और उनको कार्यक्षम बनाने को इस राजविद्या का अवतार हुआ।

> राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
> प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

यह विद्या प्रत्यक्षावगम है, इसको अपने सामने का इतिहास कहिये, इतिवृत्त कहिये, सिद्ध कर रहा है। यूरोप के देशों के राष्ट्रसञ्चालक तो अपनी कार्यकुशलता, व्यवहार-चतुरता, पर धन्यम्मन्य हैं। पर घोर महायुद्ध में पड़ गये। उनकी सब चतुरता का फल यही हुआ कि आज प्रायः सबके सब अपना घर सपाट कर बैठे हैं, अपने पुरुष पुरुष के दाताम उत्तम युवाओं को युद्ध में मरवा चुका चुके हैं, और जो बच हैं। जो कम रोते हैं वे सदा हैं जिनको मरते भरने आधीन दुर्बल और दीन देशों का माल भूमि मानो या उनका मिला हुआ है।

इन सब बातों से आप निश्चय कीजिये कि आत्मज्ञान की गति मनुष्य के जीवन के प्रत्येक अंश और विभाग में है, और प्रत्येक में उसके द्वारा कल्याण की वृद्धि हो सकती है। मानवधर्म की तो सारी सभ्यता शालीनता इसी अध्यात्म-विद्या की नींव पर स्थापित है। इसलिये 'आत्मा' के 'स्व' के, रूप को बड़े विवेक से निश्चय करना चाहिये।

उपनिषत् में रूपक बाँधा है,

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्न् योऽभिचाकशीति॥

एक ही पेड़ अर्थात् शरीर पर दो चिड़ियाँ बैठी हैं। एक तो उसके फल खूब खा रही है, दूसरी केवल साक्षी होकर देख रही है। संसारलोलुप, बुभुक्षु, बहिर्मुख, स्वार्थी अवस्था जो इस शरीरवान् जीवरूप आत्मा की है वही पहिली चिड़िया है। जो इसकी परार्थी और परमार्थी अंतर्मुख अवस्था संसार-क्षोभ से विमुख, निवृत्तिमार्गी है, वही दूसरी चिड़िया है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक कुल और प्रत्येक समाज में ये दोनों पक्षी मौजूद हैं। यदि खाने वाले पक्षी का, अधम 'स्व' का, राज हुआ तो वह व्यक्ति, वह कुल, तथा वह समाज डूबा। यदि निस्स्वार्थी, परमार्थी, साक्षी, लोकहितैषी पक्षी का उत्तम, 'स्व' का, राज हुआ, तो समाज का अभ्युदय हुआ।

दण्डो हि सुमहत् तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥
ज्येष्ठः कुलं पालयति विनाशयति वा पुनः।
यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यात् मातेव स पितेव सः॥ (मनु)

दण्ड, दण्डशक्ति, राजदण्ड, "कम्पल्सिव् फोर्स", यह सारी अग्नि समान तेज है। जो आत्मा को नहीं पहिचानता, अपनी आत्मा से दूसरों का हाल नहीं समझ सकता, वह इसका उचित सञ्चालन नहीं कर सकता। यदि धर्म से दण्ड विचलित होता है तो स्वयं राजा को उसके कुल कुटुम्ब बन्धु बान्धवों सहित नाश कर देता है। जेठा ही घर को बनाता भी है, बिगाड़ता भी है। जो जेठे की वृत्ति से जेठा रहे वह माता पिता के समान है।

एक गृहस्थी भी तो एक छोटा राष्ट्र है। एक राष्ट्र भी बड़ी गृहस्थी ही है। दोनों के उत्तम प्रबन्ध के लिये प्रबन्धकर्ता आत्मवित् चाहिये, अध्यात्म का, 'पुरुष' और 'प्रकृति' का, मनुष्य के स्वभाव का, जानकार चाहिये। शारीर प्रकृति का भी, मानस प्रकृति का भी।

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (मनु)

सेनापति का, राजा का, दण्डनेता न्यायाधीश आदि विधायक का, किम्बा समस्त संसार के अधिपति का पद सच्चा वेदवेत्ता को ही मिलना उचित है, क्योंकि ऐसा ही जीव इन सबका काम ठीक ठीक चला सकता है।

यहाँ पर एक मुख्य विवेक मानवधर्म में और किया है। राष्ट्र का मूल और मुख्य काम है धर्म का, कानून कायदों का, आम्नाय, व्यवस्था। इनका प्रयोग दूसरा काम है। मानव धर्म में यह मुख्यकाम "राजा" के हाथ में नहीं रखा है, प्रत्युत "शिष्ट" पुरुषों के हाथ में।

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेद् ।
य शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयु स धर्म स्यादशंकित ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद सपरिबृंहण ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया श्रुतिप्रत्यक्षहेतव ॥
इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपबृंहयेत ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामय प्रतरिष्यति ॥

अर्थात्, जब कोई नयी अवस्था उत्पन्न हो, नया प्रश्न उठे, कि क्या करना चाहिये, जिसके सँभालने में, निर्णय करने में, आम्नाय से, श्रुति-स्मृति से, उपलब्ध कायदे कानून से, सहायता न मिले, तो शिष्ट ब्राह्मण जो कुछ विचार करके कह दे वही नया धर्म माना जाय। शिष्ट वे हैं जिन्होंने धर्मानुसार इतिहास-पुराण सहित वेद को जाना है और जो वेद में कहे हुए को प्रत्यक्ष कर के दिखा सकते हैं। इतिहासपुराण सहित इसलिये कि बिना उनके वेद का अर्थ ठीक नहीं समझ पड़ता। वेद का अर्थ वही समझ सकता है जो बहुश्रुत है। न ह्येकमेव शास्त्रं जानान किंचिदपि शास्त्रं जानाति। ऐसा सुश्रुत में कहा है। एक ही शास्त्र को जो जानता है वह किसी शास्त्र को नहीं जानता। तस्माद् बहुश्रुत शास्त्रं विजानीयात् प्रयत्नत । बहुश्रुत होकर एक एक शास्त्र को अच्छी तरह जाने। इतिहास ही में तो सांख्य योग वेदांत के सिद्धांतों के जीवत् उदाहरण मिलते हैं। बिना ऐसे उदाहरणों के वे सिद्धांत समझ में नहीं आते। इतिहास पुराण की ऐसी महिमा है कि उनको छांदोग्य उपनिषत् में पञ्चम वेद कहा है। सो इधर सैकड़ों वर्ष

से संस्कृत पढ़ने वालों ने इतिहास के लिखने पढ़ने की ओर से सर्वथा मन हटा लिया है।

शिष्ट के लक्षणों में मुख्य लक्षण अध्यात्मज्ञान है।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते य स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः॥
(याज्ञवल्क्य)

धर्मनिर्णेता कौन हो? तो चार अथवा तीन विद्वानों की, वेद धर्म के, वेद के, जानने वालों की, समिति, अथवा एक भी अध्यात्मशास्त्र में निष्णात।

जिसने सच्चे "स्व" को पहिचाना है, और इस कारण स्वयं निस्स्वार्थ हो गया है, वही सच्चे "स्व-राज" के बनाने में सहायता कर सकता है, और वही ब्रह्मचर्य समाप्ति के अनन्तर गृहस्थी में प्रवेश करके गृहस्थी को भी अच्छी तरह पाल सकता है। दार्शनिक और व्यावहारिक स्व-राज का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये पुनः पुनः आप लोगों से कहता हूँ कि "स्व" को ठीक ठीक पहिचानिये। पश्चिम में "सायंस" के विद्वान भी अब अध्यात्म की ओर कई कई रास्तों से चले आ रहे हैं। वे भी पहिचानते लगे हैं कि द्रष्टा की उत्पत्ति दृश्य से नहीं हो सकती, द्रष्टा ही दृश्य की सत्ता का प्रमाता है। "सायंस" का, शास्त्र का, स्वरूप ही यह है कि वैदृश्य में सादृश्य पहिचाना जाय। और इस प्रकार से कार्य और कारण के सम्बन्ध का निश्चय किया जाय। जब इससे और आगे बढ़ कर तादात्म्य में एकत्व देख पड़ने लगे, तब "सायंस" का परिणाम, "सायंस" की, शास्त्र की, समाप्ति, अध्यात्म-

दर्शन में हो जाय। इस ओर अन्य देशों के लोग बढ़े आते हैं। इस देश की तो यह पैतृक सम्पत्ति है। पर हम लोग भूले बैठे हैं। और इसी से "हिन्दू धर्म" और "हिन्दू" समाज का दिन दिन ह्रास हो रहा है। आत्मा ही सनातन, चिरन्तन, नित्य, शाश्वत, अजर, अमर है। जो धर्म, जो समाज, उसको, उसको बुद्धि को, पकड़े रहेगा, और जब तक पकड़े रहेगा, वह धर्म, वह समाज, तब तक, और तभी तक, स्वयं अजर, अमर, बना रहेगा। जो उसको छोड़ेगा, उसके विरुद्ध चलेगा, वह तत्काल नश्वर और अनित्य हो जायगा।

यदि इस आत्मज्योति का प्रकाश राजनीति के जटिल प्रश्नों पर डाल कर विचारशील नेतागण 'स्व-राज' का विवरण इस प्रकार कर दें कि जो ऐसे ऐसे गुणवाले, निस्वार्थी, लोकहितैषी, अनुभवी, तपस्वी, विद्वान् भारतवासी मनुष्य हैं, वे ही धर्म-परिषत् के सदस्य चुने जायँगे, चाहे वे किसी 'मजहब' के हों या किसी कौम के हों, हिंदू या मुसलमान या ईसाई या पारसी या अंग्रेज या फरासीसी या पुर्तगाली आदि—तो बहुत सा द्रोह मदूय मिट जाय, और शान्तरूप से शासन प्रबंध के विशेष अंगों पर विचार प्रवृत्त हो। पुराना श्लोक है,

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मं।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति॥

वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध अनुभवी नहीं, वे वृद्ध नहीं जो धर्म न कहें, वह धर्म नहीं जो सत्य के विरुद्ध

नातरो' ऐसी प्रसिद्धि है। अर्थात्, आश्विन और कार्तिक, इन दो महीनों में वैद्य लोगों का रोजगार खूब बढ़ता है, ये दो महीने वैद्यों का ऐसा पालन करते हैं जैसे माँ अपने बच्चों का। इस पर भी विशेष यह है,

कार्तिकस्य दिनान्यष्टौ अष्टाऽऽग्रहायणस्य च।
यमस्य दंष्ट्रा ह्येते ह्यल्पाहारी स जीवति॥

"कार्तिक के अन्त के आठ दिन और अगहन के आदि के आठ दिन, ये यम की दंष्ट्रा हैं, जो कम खाय वही जीवे।" इस शिक्षा को याद दिलाने के लिये यमराज और उनकी बहिन यमुना का कार्तिक शुक्ल द्वितीया को स्मरण करना उचित ही है। सर्वसविता सर्वप्रकाशक सर्वज्ञानमय सूर्यदेव की पत्नी संज्ञा से वैवस्वतमनु, यम और यमी अथवा यमुना (नदी) की उत्पत्ति, संज्ञा की अपर रूप छाया से सावर्णिमनु, शनैश्चर, और तपती (नदी) की उत्पत्ति, तथा संज्ञा ही के एक और अन्य रूप अश्विनी से दो अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति—इस सबका क्या आध्यात्मिक, क्या आधिदैविक, क्या आधिभौतिक अर्थ है, यह कहना कठिन भी है, और यहाँ उस विचार का अवसर भी नहीं है। यमराज धर्मराज के मीर-मुंशी, पेशकार, सरिश्तादार, हेड क्लर्क, मुख्य लेखक, श्री चित्रगुप्त जी का विचार करना आज उपयुक्त है।

यम के भाई अश्विनीकुमार का स्मर्ण।

तो भी इस ओर जिज्ञासा बढ़ाने के हेतु इतनी सूचना उचित है—"[illegible]

प्रति, इति अश्वा, इन्द्रियाणि।" जो विषयों के पास ले जायँ, जो विषयों को चोरें, वे अश्व, अर्थात् इन्द्रियगण। इन्द्रिययुक्त शरीर का, अश्विनी का, रूप जब संज्ञा ने, बुद्धि ने, धारण किया, तब सूर्य के, आत्मा के, जीव के, सङ्ग से दक्षिण और वाम नासिका के श्वास प्रश्वास रूपी दो प्राणवायु उत्पन्न हुए। ये ही अश्विनीकुमार, परम वैद्य, हैं। "प्राणायामैर्दहेद् दोषान्", "प्राणायाम परं बलं"। यम के भाई भी हैं, यम से बचाने वाले भी हैं, इन्हीं के नाम से अधिक बीमारी के महीने आश्विन कार्तिक प्रसिद्ध हैं। अस्तु।

चित्रगुप्त की उत्पत्ति।

प्रथा यह है कि चित्रगुप्त ही आदि कायस्थ हुए। कई पुराण ऐसे हैं कि जिनके आदि अन्त का पता ठीक नहीं चलता, जैसे पद्म, भविष्य, स्कन्द, आदि। इससे यह सुविधा है कि जब किसी नई बात के लिये विशेष प्रमाणादि की आवश्यकता होती है तो ढूँढ़ने खोजने से इनके कुछ न कुछ अपूर्व अध्याय चतुर कार्यकुशल पण्डितजन को अपने घर में मिल ही जाते हैं। चार वर्णों की उत्पत्ति तो वेद ही में कह दी गयी। उसमें कायस्थ नाम नहीं। पर जाति तो देश में उपस्थित हो गयी। किन्हीं का कहना है कि जैसे "शकों" की एक शाखा राजपूत हो गयी, दूसरी शाखा शाकद्वीपी ब्राह्मण हो गई वैसे ही एक अन्य शाखा भी भारतवर्ष में शस्त्रवृत्ति छोड़, शास्त्रवृत्ति को, तत्रापि विशेषकर राज्यप्रबन्ध सम्बन्धी कार्यालयों में, पहिले शक राजाओं, पीछे सभी राजाओं, की अधीनता मातहती में,

लेखक और कर्मचारी ("करण" शब्द भी इसके लिये देना पड़ता है) की वृत्ति को, ओढ़ कर, नाम के अक्षर उलट फेर कर "कायस्थ" हो गयी। इस जाति के मूल स्थान का नाम उस की भाषा में, तथा ग्रीक भाषा में "स्काइथिया" था। किन्हीं ने "शकाइथिया" में से "शक" रख लिया। किन्हीं ने उस शब्द को उलट पुलट 'काइस्थिया" बना कर, "कायस्थ" बना लिया। किन्हीं का विचार है कि "काय" नाम संस्कृत में व्यूहयुक्त, संहत, सघातयुक्त, (आर्गेनाइज्ड) शरीर का भी है, तथा नंमधित जनसमूह, पाठशाला, 'आफिस', दफ्तर का भी है। जो 'काये तिष्ठति', दफ्तर वाले, कार्याधिकारी, 'आफिशल' का नाम अन्वर्थ "कायस्थ" उचित ही है। प्राचीन समय में जब भारतीय समाज में यह प्राण, यह शक्ति, यह बुद्धि थी, कि बाहर से आई हुई जातियों को अपना लेते थे और उनके स्वभावगुणानुकूल उनको समाज में स्थान और कर्म देकर समाज का अंग बना लेते थे, और छूआछूत के ढोंग के मारे मरे नहीं जाते थे, तब ऐसा अक्सर होता था। बहुतेरे "व्रात्य" समूह "शास्त्रान" कर लिये गये और चातुर्वर्ण्य में उनका समावेश हुआ। आश्चर्य नहीं कि जब से सहस्र वर्ष पहिले 'स्काइथ' जाति बाहर से आई, तब एक शाखा सरदार-बहादुर होने के कारण क्षत्रियों में मिल गयी, और दूसरा शाखा प्रजा की होशियार हो। के कारण, किन्तु सर्वथा ब्राह्मणवृत्ति का अधिकारण न कर न, एक मर्यादित रूप से नये नाम से विख्यात हो गयी, जिससे व्यक्ति अपनी अपनी विशेष प्रवृत्ति, प्रकृति, ज्ञान, और आचार विचार के अनुसार,

कभी क्षत्रियों की ओर, कभी वैश्यों की ओर, कभी शूद्रों की ओर, झुक्ते रहे। तथा इसी जाति की एक तीसरी शाखा, जिसने सर्वथा ब्राह्मणवृत्ति अङ्गीकार की, वह प्राय "शाकद्वीपी" ब्राह्मण हो गयी।

इन्हीं भेदों के अनुसार समय समय पर पुराणों मे भी अध्याय बनते गये। पर जब तक इनके बनाने वालों में अध्यात्मज्ञान की कला बाकी रही, तब तक कुछ उसकी भी लपेट ये लोग इन आख्यानों मे रखते गये।

कहीं (वन्हिपुराण में) लिख दिया है,

शूद्रात् कनीयसी जातिरभवत् विप्रसेवक।

ब्रह्मपादाशतो जन्म जात कायस्थनामभृत॥

अर्थात्, शूद्र से भी छोटी जाति, ब्राह्मणों की सेवा करने वाली, (जब ब्राह्मण नवीन "पुराण" लिखेंगे, तो यह लिखना आवश्यक ही है।), ब्रह्मा के पैर के बचेखुचे अंश से (क्योंकि पूरे पैर से तो शूद्र निकल ही चुके थे।) निकल पड़ी, और उसका नाम कायस्थ हुआ (क्यों यह नाम हुआ, "ब्रह्मदेवपादशास्थ" नहीं, यह नहीं लिखा है।) अथ च, यह भी लिखा है,

मसीशायादीक्षिताय क्षत्रवैश्योपमाय च।

अर्थात्, मसी, रोशनाई का ईश, पर अ-दीक्षित, उपनयनादि संस्कार रहित, क्षत्रिय और वैश्य के तुल्य। यह "पुराण" तब मिला होगा जब राजमंत्री के पद पर पहुँचकर किसी कायस्थ ने अपनी जाति के उत्पत्ति की खोज की होगी। पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड में, कथा कुछ विस्तार से, और रस से भी, यों कही है,

ध्यानं ध्यानस्थितस्यास्य सर्वकायाद्विनिर्गत: ।
दिव्यरूप पुमान्, हस्ते मसीपात्रं च लेखनी ॥
चित्रगुप्त इति ख्यातो धर्मराजसमीपत ।
प्राणिनां सदसत्कर्मलेख्याय स निरूपित ॥
ब्रह्मणाऽतींद्रियज्ञानी च्वाग्न्योर्यज्ञभुक् स वै ।
ब्रह्मकायोद्भवो यस्मात् कायस्थो वर्ण उच्यते ॥
नानागोत्राश्च तद्वंश्या कायस्था भुवि सति वै ॥

अर्थात्, ब्रह्माजी ध्यान में मग्न हुए, उनके काय से, शरीर से, एक दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ, हाथ में क़लम दवात लिये हुए। ब्रह्माजी ने नाम उसका चित्रगुप्त रख दिया, और यमराज के पास, मुख्य कारकुन की हैसियत से तैनाती कर दी। सब प्राणियों के सत् और असत् कर्म की, पुण्य और पाप की, वही लिखो। अतींद्रियज्ञान दिया अग्नि तथा अन्य देवताओं के ऐसा यज्ञ में भाग दिया। ब्रह्मा के काय से उत्पन्न हुए इससे कायस्थ कहलाये। और उनके वंश का विस्तार पृथ्वी पर हुआ, और कई गोत्र हो गये।

भविष्य पुराण में यही कथा अधिक विस्तार से, भीष्म पुलस्त्य संवाद के रूप से, कही है। चातुर्वर्ण्य उत्पन्न करके ब्रह्मा समाधिस्थ हुए, थोड़ी देर बाद,

तच्छरीरान्महाबाहु श्याम कमललोचन ।
लेखनीच्छेदनीहस्तो मसीभाजनसंयुत ।
नि:सृत्य दर्शने तस्थौ ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मन ॥ इत्यादि

क़लम और क़लमतराश चाकू और रोशनाई की दवात लिये हुए ब्रह्मा के शरीर से वे निकले। और चार जातियों से

एक एक अङ्ग से निकलीं, पर ये समग्र काय से निकले, तो औरों से अधिक सपूर्ण और उत्तम ही इनको समझना चाहिये। ठीक भी है, यदि एक ही "स्काइथ" वंश की शाखाएँ, शस्त्र-राजपूत क्षत्रिय, तथा हिसाब-किताब आदि-लेखन-दक्ष-वैश्य-रूप कायस्थ, तथा शाकद्वीपी ब्राह्मण भी, तथा शूद्रवत् साधारण बुद्धिवाले सभी हैं। जिस समय यह पुराण लिखा गया उस समय "फौंटेन् पेन" का प्रचार नहीं था, नहीं तो, "फौंटेन्-पेन-विभूषित" इतना ही लिख देने से सब काम चल जाता, अलग अलग कलम, चाकू, रोशनाई का नाम न लिखना पड़ता। कागज का किसी कारण से जिक्र नहीं किया है। आज काल मुन्शी जी कागज भी रखा करते हैं। अस्तु।

इन्होंने ब्रह्माजी से अर्ज की कि मेरा नाम रखिये। उन्होंने फर्माया,

> मच्छरीरात् समुद्भूत तस्मात् कायस्थसज्ञक ।
> चित्रगुप्तेति नाम्ना वै ख्यातो भुवि भविष्यसि ॥
> धर्माधर्मविवेकार्थं धर्मराजपुरे सदा ।
> स्थितिर्भवतु ते वत्स ममाज्ञा प्राप्य निश्चला ॥

मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हो, इसलिये कायस्थ संज्ञा होगी, तुम्हारा विशेष नाम चित्रगुप्त संसार में प्रसिद्ध होगा। धर्मराज के यहाँ धर्म और अधर्म का विवेक करने के लिये तुम्हारा सदा वास होगा।

इनका वंश।

इनका वंश बहुत बड़ा,

> चित्रगुप्तान्वये जाता शृणु तान् कथयामि ते।

श्रीमद्रा नागरा गौड़ा श्रीवत्साश्चैव माथुरा ।
अहिफणा सौरसेना शैवसेनास्तथैव च ॥

इत्यादि द्वादश "शुद्धवंशजा"। आज काल एक गोत्र कायस्थों का अपने को 'सकसेना" कहता है। अजब नहीं जो यह "शकसेना" का निकटतर रूप हो, जिसको नवीन पुराणकार ने "शैवसेना" कर दिया है।

बङ्गाल में घटकराम जी ने इस पुराण की पूर्ति कुलदीपिका नाम ग्रन्थ म करके कायस्थ-वंश विस्तारक रत्नासो पद्धतिकार लिखे हैं। इनकी उत्पत्ति प्रसिद्ध पाच कान्यकुब्जीय ब्राह्मणो के भृत्यो से कही है।

वसुर्घोषो गुहो मित्रो दत्तो नागश्च नायक ।
दासो देवस्तथा सेन पालित सिंह एव च ॥

इत्यादि।

महाराष्ट्र देश में प्रभु आदि कायस्थ जातियों की उत्पत्ति राजा चित्रसेन से कहा जाती है। इन चित्रसेन को स्कंद पुराण की प्रतियों में कहीं चन्द्रसेन करके लिखा है।

इनकी उत्पत्ति का दूसरा प्रकार।

स्कन्दपुराण का प्रकार, पद्म और भविष्य में कथित से भिन्न यह है। चन्द्रसेन राजा को गर्भवती भार्या ने परशुराम के भय से दाल्भ्य ऋषि के आश्रम में शरण ली। परशुराम खोजते हुए पहुँचे। दाल्भ्य से परस्पर नमस्कार निमन्त्रण हुआ। साथ ही भोजन हुआ। परशुराम ने कहा, जो माँगू सो वर दीजिये। दाल्भ्य समझ गये। कहा, बहुत अच्छा,

पर जो मैं भी माँगू वह आप भी दीजिए। बहुत अच्छा। तो माँगिये। चन्द्रसेन क्षत्रिय का गर्भस्थ पुत्र मुझको दीजिये। लीजिये, पर उसका प्राणदान आप मुझे दीजिये। मुश्किल हुई। समझौता हुआ। जीये तो सही पर क्षत्रियवृत्ति न करे, खड्ग न चलावे, लेखनी से और जिह्वा से युद्ध करे।

प्रार्थितश्च त्वया विप्र कायस्थो गर्भ उत्तम ।
तस्मात् कायस्थ इत्याख्या भविष्यति शिशो शुभा ॥

परशुरामजी को यह कैसे मालूम हो गया कि चन्द्रसेन की भार्या के गर्भ में पुत्र ही है, कन्या नहीं, ऐसी शंका करने का काम ही नहीं। परशुरामजी परशु भी चलाते थे और दिव्यदृष्टि भी चलाते थे।

कायस्थों की उपास्य देवता
बगलामुखी का अर्थ।

कायस्थों के लिये, पुराणों में, उपास्य देवता देवी का बगलामुखी रूप विशेष करके कहा है। बगलामुखी का स्वरूप यह है कि वैरी की जिह्वा को एक हाथ से पकड़ लिया है और दूसरे हाथ से मुद्गर से उसे मार रही हैं। मामूली बातचीत में भी वक्ता वावदूक के लिये कहते हैं कि, जनाब, वे तो जबान पकड़ लेते हैं, मुँह बन्द कर देते हैं। जो लोग आजकल का नया रोजगार, यानी वकालत का पेशा, करते हैं, उनके लिए यह गुण बहुत उपयोगी है। और,

जिनकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

जिसकी जो ही उत्कट इच्छा रहती है उसीके अनुकूल वह अपने इष्ट देवता का स्वरूप बना लेता है, और उसके ध्यान से अवश्य कुछ न कुछ उसके हृदय को बल मिलता है। बगलामुखी की उपासना के फल लिखे हैं।

वादी मूकति रंकति क्षितिपतिर्वैश्वानरः शीतति
क्रोधी शाम्यति दुर्जनः सुजनति क्षिप्रानुगः खंजति।
गर्वी खर्वति सर्वविच्च जड़ति त्वन्मंत्रणायन्त्रित
श्रीनित्ये बगलामुखि प्रतिदिनं कल्याणि तुभ्यं नमः॥
यत्र वादिनियन्त्रणं त्रिजगतां जैत्रं च चित्रं च ते
त्वन्नामग्रहणेन संसदि मुखस्तम्भो भवेद् वादिनाम्।
मातर्मे जय मे विपक्षवदनं जिह्वां चलां कीलय
ब्राह्मीं मुद्रय नाशयाशु धिषणामुग्रां गतिं स्तम्भय।
शत्रूंश्चूर्णय देवि तीक्ष्णगदया गौराङ्गि पीताम्बरे
विघ्नौघं बगले हर प्रणमतां कारुण्यपूर्णेक्षणे॥ इत्यादि

अर्थात जो इनकी उपासना करेगा उसका प्रतिपक्षी दुश्मन यदि वाग्मी है तो गूंगा हो जायगा, जमींदार राजा है तो रंक हो जायगा, आग है तो ठंढा पानी, क्रोधी है तो शांत, दुर्जन है तो सुजन, तेज दौड़ने वाला है तो लंगड़ा, गर्ववाला अभिमानी है तो खर्व छोटा दीन हो जायगा, अधिक, जो सर्वज्ञ है वह भी इन देवी के मंत्र से मंत्रित होकर जड़ मूर्ख हो जायगा। हे देवी, तू मेरे प्रतिवादी के मुख का स्तम्भन कर दे, अथवा उसको सोड़ ही दे, जिह्वा में कील ठोंक दे, ब्राह्मी (ज्ञान वाहिनी नाड़ी) को मूंद दे, बुद्धि को नाश करदे, उग्रगति को बिल्कुल रोक दे, शत्रुओं को गदा से चूर करदे, सब विघ्नों

को दूर करदे, हे करुणापूर्ण हृदये । करुणापूर्ण हृदय का और इन सब कार्यों का क्या संबंध है, यह उपासक ही जानता होगा। "गरजमन्द बावला"। दुर्जन को सज्जन बनादे, इतना ही अंश तो इस प्रार्थना का शुद्ध सात्त्विक है, और इसमें सब कुछ दूसरी प्रार्थनीय बातों का भी तात्त्विक लाभ सध जाता है।

यदि दो उपासक एक ही देवी के आपस ही में भिड़ जायँ, तो देवी को भी कठिनाई हो कि किसको जय करावें और किसको पराजय। प्राय जो अधिक पूजा पाठ जप आदि रूपी दाम दे उसीकी नीलाम में जय। प्राय देख पड़ता है कि जब भिन्न धर्म वाले आपस में लड़ते हैं, अथवा दो राजा या राष्ट्र आपस में लड़ते हैं, तो दोनों ही अपने अपने को परमेश्वर का एक मात्र अढ़तिया गुमाश्ता ठकेदार बताते हैं। यह सब केवल राजस तामस बुद्धि का उद्गार है। इसलिये, "क्रोधी शाम्यति दुर्जन सुजनति" यही प्रार्थना सर्वाभीष्ट होने योग्य है। और वाग्मिता, जो बगलामुखी का आध्यात्मिक अर्थ है, वह प्रशसनीय गुण है हो। "सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम ।"

चित्रगुप्तजी की पूजा का फल।

यह तो हुए बगलामुखी देवी की पूजा के फल। श्री चित्रगुप्तजी की पूजा के भी विचित्र फल कहे हैं। सौदास राजा की कथा पुराणों में कही है। सौदास राजा से और उनके पुरोहित वसिष्ठजी से अनायास ही लड़ाई हुई। राजा का कोई कसूर नहीं था। जब वसिष्ठजी राजा के घर आये, और उनके लिये दस्तूर के अनुसार मास पकाया गया, तो एक दुष्ट राक्षस ने, लड़ाई लगाने के लिये, बावर्चीखाने

में नरमास छल से पकवा दिया। वसिष्ठजी के आगे परोसा गया। उन्होंने दिव्यदृष्टि से पहिचाना कि नरमास है, पर अफसोस कि उसी दिव्यदृष्टि से यह नहीं पहिचाना कि एक दुष्ट राक्षस का काम है। जल्दबाजी से राजा सौदास को शाप दे दिया कि तू राक्षस होजा और नरमास खा। राजा को क्रोध हुआ, कि विना दोष ऐसा शाप क्यों दिया, और उन्होंने भी अपने हाथ मे जल उठाया, वसिष्ठ को प्रतिशाप देने के लिये। पर फिर सोचा कि नहीं, व अपने किये का फल स्वय पावेंगे। जल अपने पैर पर डाल दिया। पैर काले हो गये। कल्मापपाद नाम भी हो गया। क्षत्रिय ने ब्राह्मण से अधिक क्षमा, विचार, धैर्य दिखाया। फिर वसिष्ठ के शाप स राजा के ऊपर राक्षसी पागलपन सवार हुआ। मास पकवाने, खाने, खिलाने वालों में, जल्दबाजी प्रमाद उन्माद का सम्मग होना क्या आश्चर्य है। होना ही चाहिये। वसिष्ठजी के अतित्वरा और अवि चारित कार्य का फल मिला। पागल राजा उनके सौ लड़कों को मारकर खा गया। राज में बड़ा उपद्रव हुआ। वह समय हो बड़ा क्रूर और अद्भुत इस भारतवर्ष म हो गया है। क्षत्रियों और ब्राह्मणों में बड़े युद्ध हुए। "मिलिटेरिस्ट-सा वर्टिस्ट," "सोल्जर-प्रीस्ट) सौदास-वसिष्ठ, वसिष्ठ विश्वामित्र, आर्ष्टी-बक जमदग्नि-कार्तवीर्य, कार्तावीर्य-परशुराम, भार्गव-हैहय भार्गव-ताडिक्य, आदि के नाम से ये घोर संग्राम प्रसिद्ध हैं, जो रामराज्य स्थापन होने पर शांत हुए। यह राजा सौदास कभी घूमते फिरते एक स्थान पर जा निकले, जहाँ चित्रगुप्तजी की पूजा

होती थी। उस समय कुछ मन शात था, पूजा में शरीक हो गये। उनका मन्त्र जपा।

मसीभाजनसयुक्त सदा चरसि भूतले।
लेखनीछेदनीहस्त चित्रगुप्त नमोऽस्तु ते॥
चित्रगुप्त नमस्तुभ्य नमस्ते धर्मरूपिणे।
भव त्व पालको नित्य मम शांति प्रयच्छ मे॥

कुछ दिनो पीछे जब राजा का शरीर छूटा, तो यमदूत यमधानी को ले गये। मुकद्दमा पेश हुआ। चित्रगुप्तजी से इशारे स बात हुई। राजा ने याद दिलायी कि मैंने आपकी पूजा की है। फिर क्या कहना है। चित्रगुप्त जी ने ऐसी खूबी से चुन चुन के मिस्ल के कागज सुनाये कि धर्मराज ने अपने पुलिस वालों को ही खूब डाटा, कि तुम सब झूठे मुकद्दमे बनाते हो, और हुकम दिया कि इनको फौरन विष्णुलोक में ले जाओ। पीछे से चित्रगुप्त ने, मुँह लगुए ढीठ तो थे ही, धर्मराज से अपनी करतूत कबूल भी दी। वे भी कुछ खफा होने की बेफायदा कोशिश करके हँस पडे। आज काल भी दफ्तरो में और कचहरियों में अक्सर ऐसा होता ही रहता है। जो सक्रेटरी लोग चाहत हैं वही मिनिस्टर महाशय को अथच गवर्नर और गवर्नर-जनरल महाशय को भी, करना पड़ जाता है। सरीहा उनकी आँखों में धूल डाल देते हैं। पर यमराज धर्मराज जो चित्रगुप्त से अधिक खफा न हुए, उसमें विशेष कारण था, यह आगे कहा जायगा। वे ऐसे कान के पत्ते, आँख के कमजोर, मोम की नाक वाले नहीं हैं। यम हैं, अन्तर्यामी हैं, चित्रगुप्त के भी यमयिता हैं, चित्रगुप्त भी उन्हीं के एक रूपान्तर ही हैं।

कायस्थ जातियुक्त समस्त हिन्दू-समाज के ह्रास का हेतु।

चित्रगुप्तजी के वंशो का वर्णन तो ऊपर किया। आज काल के संयुक्तप्रान्त मे तथा बङ्गाल में कायस्थ घरा अधिकतर पाया जाता है। प्राय बीस वर्ष हुए श्री शारदाचरण मित्र ने बड़ा यत्न किया कि दोनो प्रान्तो की शाखाओं का परस्पर खान-पान शादी व्याह हो। पर कृतार्थ नहीं हुए। हमारे देश के दुर्भाग्य अभी बहुत बलवान् हैं। जिस देश के, जिस समाज के, धर्मरक्षको को यह घोषणा हो कि धर्म में बुद्धि को स्थान नहीं, ऐसे बुद्धिद्रोही बुद्धिहीन देश और समाज और धर्म का भाग्य क्यों न फूटे।

जो अकेले रोटी खायेंगे वे परायों की जूती भी अकेले ही खायेंगे।

आज बारह सौ वर्ष से यह हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म परायों की जूतियाँ खाता चला आता है, और सिकुड़ता ही जाता है, पर अब भी इसकी बुद्धि नहीं सँभलती। परस्पर घृणा से ही मरा जा रहा है। यह नहीं समझ सकता कि जो अकेले रोटी खायगा, उसको पराये की जूती भी अकेले ही, परस्पर प्रीतिहीन अत निस्सहाय होकर, खानी पड़ेगी। हम सब इसी बहादुरी में चूर और मस्त हैं कि मैं तो अपने सगे भाई का भी छूआ पानी नहीं पीता। इस प्रान्त के कायस्थों में, जैसे और जातियो में, अजब अजब रस्में चल पड़ी हैं।

अनन्तजाति, अनन्त आचार, परस्पर विरुद्ध, सभी सनातनधर्म।

यदि हिन्दू कहने कहलाने वाली हजारों जाति उपजातियों की अलग अलग विचित्र विचित्र रीति रस्मों का, आचार-विचारों का, संग्रह करके छापा जाय, तो स्यात् इस टिड्डी दल, इस भेड़ी धसान, की अद्धाघ आँखें कुछ खुलें। जैसे "उघरे पटल परसुधर मति के," स्यात् उनकी बुद्धि को यह फल हो जो देशाटन से होता है। स्यात् वे समझने लगें कि कितना अंश अकृत्रिम अध्यात्म बुद्धि-सम्मत आचार है, और कितना अधिकतर कृत्रिम, बनावटी, मिथ्या, कपोल-कल्पित, और अब इस समय में परम हानिकारक डोकरिया पुराण है।

वर्णोत्कर्ष का अर्थ।

कुछ दिनों से संयुक्त प्रान्त के कायस्थों में यह भाव उठा है कि हम लोग क्षत्रिय हैं और समझे जायें। कुछ लोगों का यह विचार है कि इस प्रकार से जातियों को अपना उत्कर्ष करना उचित और स्वाभाविक है। कुछ जातियाँ, जो "नीची" समझी जाती हैं, अपने को "ब्राह्मण" बना रही हैं, कुछ "क्षत्रिय," कुछ "वैश्य," इत्यादि। पर ऐसे विचार में, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, भारी भ्रम है। इस विचार में वर्णों की उच्चावचता, जन्मसिद्धता, अपरिवर्त्तनीयता, यह सब बात मान ली जाती है। इस विचार से यह यत्न नहीं किया जाता कि एक या कई आदमी पहिले एक वर्ण के थे, अब अपने कर्मों से इन्होंने अपने वर्ण का इसी जन्म में

परिवर्त्तन कर लिया, और अपने को दूसरे वर्ण का बना डाला। बल्कि यह कहा जाता है कि सदा काल से हम और हमारे पुरखा, और पुरखों के पुरखा (पूर्व पुरुष) इस दूसरी जाति ही के थे और हैं जो ऊँची हैं, और उस नीची जाति के न थे न हैं जिसके नाम से हमारी प्रसिद्धि है। यह भाव सर्वथा हानिकारक, राजस-तामस स्पर्धावर्धक, सामाजिक-कार्यबाधक है। वर्णव्यवस्था का अर्थ, सबके सुविधा सहायता के हेतु से, समाजिक-कर्म का विभाग, "कर्माणि प्रविभक्तानि," (डिविज़न ऑफ़ लेबर) है। दलगत या व्यक्तिगत उच्चत्वाभिमान, उत्कृष्टत्व विशिष्टत्वाभिमान, उसका अर्थ नहीं। ऐसी वर्णव्यवस्था व्यक्तिश गुणकर्मानुसार ही हो सकती है, और होनी चाहिये। जो पाथी पत्रा का, ज्ञान समह प्रचार का, "महामंचय ब्रह्मवितरण" का काम करे, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह वृत्ति से जीविका करे, उसका नाम ब्राह्मण। जो सिपाहीपन, दुर्बल-रक्षण, 'क्षतात् त्राण' करे, और जमींदारी आदि वृत्ति से जीविका करे, उसका नाम क्षत्रिय। जो अन्न वस्त्रादि का, धन धान्य का, सञ्चय वितरण करे, कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यादि वृत्ति से जीविका करे, उसका नाम वैश्य। जो औरों की सेवा सहायता करके उनके कहने से "आशु द्रवति" जल्दी दौड़े, उनके "शुच द्रावयति," शोक को दूर करे, उनसे अन्न वस्त्र, भृत्ति रूप से, भरणार्थ, पावे, उसका नाम शूद्र। चाहे जन्म कैसे ही हुआ हो। पर यह वर्णतत्त्व, वर्णरहस्य, वर्णोपनिषत, वर्णमूल, वर्णसिद्धान्त, तो सामुदायिक नामपरिवर्त्तन से सफल नहीं होता।

यदि समुदाय का ही नाम बदलना है, तब तो यह प्रकार सबसे उत्तम है जो मेरे ज्येष्ठ भ्राता, श्री गोविन्ददासजी कहा करते थे। अर्थात् सब "ब्राह्मण" बन जायँ। कनौजिया, सनाढ्य, काश्मीरी, गुजराती, महाराष्ट्र, यदुवंशी, सोमवंशी, चौहान, शीशोदिया, श्रीवास्तव, माथुर, अग्रवाल, चूरूवाल, माहेश्वरी, आभीर, कुंभकार, मालाकार, चर्मकार आदि ब्राह्मण। यों राष्ट्रीय जाति नाम तो एक हो जायगा, तथा स्यात् एकता का भाव भी फैलेगा। किन्हीं स्मृतियों में दशविध ब्राह्मण, जिनमें क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, शूद्र ब्राह्मण, भी शामिल हैं, कहे भी हैं। पर संदेह यह है कि यदि ऐसा लोगों ने अपने को कहना आरंभ किया, और सबने अपने को "उच्चतम" जाति मान भी लिया, तो भी परस्पर संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या कैसे मिटेगी। कर्म विभाग और वृत्ति विभाग, जो वर्ण विभाग का अत्यावश्यक अंग है, कैसे सधेगा?

इसलिये मैं तो चित्रगुप्त जी से आज उनकी पूजा के दिन हृदय से यही प्रार्थना करता हूँ कि वह सात्त्विक, आध्यात्मिक बुद्धि दीजिये, जिससे आपके सच्चे स्वरूप को पहिचान कर, यह भारतीय महा-जन समुदाय, जो वसिष्ठ-सौदास के अन्योऽन्यकृत पागलपन से अंधा और अति दुर्दशा-ग्रस्त हो रहा है, फिर आपके हृदयस्थ गुप्तचित्र की पूजा उपासना करे, सद्बुद्धि पावे, और नरक से बचकर विष्णु लोक के सुख का अनुभव करे।

चित्रगुप्त का आध्यात्मिक अर्थ।

ऐसी बुद्धि के जागने के लिये चित्रगुप्त का आध्यात्मिक अर्थ जानना उचित और उपयुक्त है।

जैसे माया शब्द, पदों का व्यत्यय करके बना है, वैसे ही चित्रगुप्त शब्द भी। "या मा" जो नहीं है, जो असत् होकर भी सत् के ऐसी भासती है, वह माया। तथा गुप्तचित्र का ही नाम चित्रगुप्त।

महाभारत के अनुशासन पर्व के १९३ अध्याय में चार पाँच श्लोक मिलते हैं। जैसे खान में बहुत सा मिट्टी पत्थर खोद कर थोड़ा-सा, सोना चाँदी, जवाहिर मिलता है, वैसे ही इतिहास पुराण में बहुत से आख्यान माहात्म्यादि में से थोड़े से अध्यात्म रहस्य विषयक श्लोक मिल जाते हैं। यम कहते हैं,

किंचिद् धर्म प्रवक्ष्यामि चित्रगुप्तमत शुभम् ।
श्रूयता चित्रगुप्तस्य भाषित मम च प्रियम् ॥
रहस्य धर्मसंयुक्त शक्य श्रोतु महर्षिभि ।
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता ॥
नहि पुण्य तथा पापं कृतं किंचिद् विनश्यति ।
पर्वकाले च यत् किंचिदादित्य चाधितिष्ठति ॥
प्रेतलोक गते मर्त्ये तत्तत्सर्व विभावसु ।
प्रतिजानाति पुण्यात्मा तच्च तत्रोपयुज्यते ॥

अर्थात् जो कुछ कर्म ससार में होता है, पुण्य अथवा पाप अथवा अन्य, उस सबका चित्र सूर्य की विभा में, प्रभा में, सदा गुप्त, रक्षित, बना रहता है। विभा है वसु, धन, जिसका,

वे ही विभावसु, ज्योतिर्मय सूर्य द्युस्थानी, तथा विद्युत् अन्तरिक्ष स्थानी, तथा अग्नि भूस्थानी, एक ही के तीन रूप। यह रहस्य वे लोग सुन समझ सकते हैं जो आत्मा पर श्रद्धा करते हैं, सब लोक का आध्यात्मिक हित चाहते हैं, अतएव महर्षिवत् हैं।

इसी भाव के श्लोक आश्रमवासिक पर्व, अ० १६, में भी हैं।

> अविप्रणाश सर्वेषा कर्मणामिति निश्चय ।
> कर्मजानि शरीराणि शरीराकृतयस्तथा ॥
> महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसश्रयात् ।
> तेषा च नित्यसवासो न विनाशो वियुज्यताम् ॥

संसार में सब वस्तु, पञ्चभूत, द्रव्य, गुण, कर्म, चित्त-वृत्ति, आदि, नश्वर और अनित्य होती हुई भी, नित्य इस अर्थ में है कि उनका संश्रय आश्रय भूताधिपति परमात्मा पर है। जो नित्य पर आश्रित है वह अनित्य कैसे? जो वस्तु नित्य से छू गई, नित्य सनातन शाश्वत आत्मा परमात्मा के ध्यान में आ गई, वह भी नित्य हो गई, चाहे कैसी ही अनित्य हो। पर अनित्य तो प्रत्यक्ष है। इस विरोध का परिहार, इन प्रतिद्वन्द्वियों का समन्वय कैसे? तो स्मृतिद्वारा। चेतयति, स्मरति, इति चित्त। ब्रह्मा का अर्थ महद्-बुद्धि। जिस पदार्थ को साख्य वेदान्त में त्रिगुणात्मक बुद्धितत्त्व, महत्तत्त्व के नाम से कहा है उसी का पौराणिक रूपक ब्रह्मा-विष्णु-शिव की त्रिमूर्ति है।

> मनो महान् मतिर्ब्रह्मा विष्णु शम्भुश्च वीर्यवान्।
> पर्यायवाचकै शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ॥
> (शान्तिपर्व)

उपलब्धिस्तथा प्रज्ञा पूर्वबुद्धि स्त्याशिरोश्वर ।
प्रज्ञा चिति स्मृति संविद् विपुर चोच्यते बुधै ॥
विद्यते स च सर्गादिन् सर्गा तस्मिश्च विद्यते।
तस्मात्सविदिति प्रोक्तो महान् वै बुद्धिमत्तरैः ॥
(वायुपुराण)

यही महद्-बुद्ध्यात्मक ब्रह्मा, महानात्मा, समष्टिबुद्धि, पूर्व कल्प की स्मृति के अनुसार, नयी सृष्टि की कल्पना करती है। यही बात फिर फिर उपजती है, मिटती है। बात वही रहती है। यह अनादिप्रवाहसत्ता ही अनित्य की नित्यता है। परमात्मा की स्मृति में, महद्बुद्धि में अतएव प्रत्येक जीव के चित्त म, हृदय में, सब वेद, सब ज्ञान, सदा धना रहता है। यही तथ्य गुप्तचित्र अथवा चित्रगुप्त है। "फोटोग्राफ", "फोनोग्राफ", "सिनेमा", आदि, इस वैज्ञानिक तथा दार्शनिक रहस्य के प्रत्यक्ष उदाहरण और प्रमाण हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत, "इनडिस्ट्रक्टिबिलिटी आफ माटर", "कानसर्वेशन आफ एनर्जी", "ट्रान्सम्युटेशन आफ फोर्म एण्ड फार्म", अर्थात शक्ति नामक और द्रव्य नामक मूल-प्रकृति के रूपों का परिवर्तन परिणमन विक्रमण होता है, मूल का नाश नहीं होता—ये मत भी इसी रहस्य के प्रकाशक हैं। गीता का श्लोक प्रसिद्ध है,

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ॥

उपनिषत् के बहुधा वाक्य हैं "स सर्वज्ञ., सर्ववित्, सर्व-साक्षी", इत्यादि। थियासोफी की पुस्तकों में इस अनादि अनन्त चित्र को "आस्ट्रल लैट" और "आकाशिक रेकर्ड"

आदि नाम से कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक लोगों का कहना है कि "लैट्" अर्थात् ज्योति एक सकड में एक लाख छियासी हजार मील की गति से बराबर दौड़ती रहती है, और प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु के फोटोग्राफ चित्र को चारों ओर ले जा रही है। दूर के तारा में रहने वाले जीव इस क्षण में, यदि उनकी दृष्टि ऐसी तीव्र हो तो, इस पृथ्वी की उस अवस्था का दृश्य देखेंगे जो कई वर्ष पहिले की हो। इत्यादि।

परमात्मा के उत्कृष्टतम प्रत्यक्ष स्वरूप, सविता, सूर्य, सावित्री गायत्री के अधिष्ठाता, हैं। "सर्वप्रवह्लिकानामाश्रय" (निरुक्त) अर्थात् सब अद्भुत आश्चर्य उनमें हैं। "अप्सरा" "गन्धर्व" आदि सब सूर्य की किरणों के ही भेद हैं। "आप सरति आभिरिति अप्सरस सूर्यस्य रश्मय। गा धयतीति गन्धर्वा सूर्यस्य रश्मय" ।" जो पानी खींचैं वे किरणें अप्सरा। जिनमें दिव्य सूक्ष्म सुन्दर राग निकलै वे किरणें गन्धर्व, इत्यादि।

आश्चर्याणामनेकाना प्रतिष्ठा भगवान् रवि ।
यतो भूता प्रवर्त्त ते सर्वं त्रैलोक्यसंश्रया ॥
(म० भा०, शांति, अ० ३७२)

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्ष विष्णुरसि।
त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि। (उपनिषत्)

सब भूत सूर्य से ही निकलते हैं। सूर्य ही प्रत्यक्ष ब्रह्मा हैं, हिरण्यगर्भ हैं, विष्णु हैं, शिव हैं। सब सौर सम्प्रद स्मृतिरूप, बुद्धिरूप हैं। जैसे एक व्यक्ति को अपने पाप या

करके कभी न कभी अवश्यमेव पश्चात्ताप अपनी स्मृति के द्वारा ही होता है, जैसे पुण्य का स्मरण करके वैसे ही पश्चाद्धर्ष होता है, वैसे इन जगत्स्मृतिरूप देवता के द्वारा दंड और पुरस्कार भी सूक्ष्म स्थूल शरीर में जीव को मिलता है। इसका उपबृंहण तो बहुत है पर थोड़े में सूचनामात्र यहाँ की जा सकती है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते शरीर हे निस्तर यत् त्वयाकृतम्॥

(गरुड़पुराण)

इसका भी अर्थ यही है कि जैसे ध्वनि का प्रतिध्वनि होती है, बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही अपने किये कर्म का, पुण्यात्मक या पापात्मक क्रिया या क्षोभ की, अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही, प्रतिक्रिया प्रतिध्वनि प्रतिक्षोभ होता है। उसका भी मूल कारण यही है कि सर्वव्यापकआत्मा एक है, इसलिये जो दुःख इस बुद्धि से दिया जाता है कि दूसरा कोई है, वह, दूसरा कोई वस्तुत न होने से, अपने आप को वापस आता है।

कानून जानने वाले लोगों का कहना है कि हर कानून के लिये "सैन्क्शन", नियंता, निग्रहीता, बलात्कारक नियोजक शक्ति, प्रतिभू, अर्थात् दंड, चाहिये। यह शक्ति कई प्रकार
सामाजिक—"परस्परभयात्केचित् पापा पापं न
कीय, धार्मिक, अथवा कानूनी—"राजदण्ड
पापं न कुर्वते"। पारलौकिक—
पापं न कुर्वते"। पर इन
ही है, "सर्वेषामेव दण्डदातामात्मा

वेद के वाक्य, "अग्ने नय सुपथा राये," "अग्निमीडे पुरोहित," "अग्न आयाहि वीतये", "अग्निर्वै देवाना मुख," ये सब इसी ज्योतारूपी आत्मा के द्योतक अस्ल में हैं। वाह्य अग्न्यादिक भी आत्मस्वरूपत्वेनैव अभिलषित हैं। "अग्रे नयति" इति अग्नि। इसीलिये पद्मपुराण के श्लोक मे चित्रगुप्त के लिये कहा है "अतींद्रियज्ञानी देवाग योयंज्ञभुक् स वै"। यमराज धर्मराज जो पुण्यापुण्य का फलदान करते हैं वे सूर्य के पुत्र इसी कारण से हैं कि वे भी सूर्य के रूपातर ही हैं।

न यम यम इत्याहुरात्मा वै यम उच्यते।
आत्मा संयमिता येन यमस्तस्य करोति किम्॥

यम को यम नहीं कहते, आत्मा ही का नाम यम है। जिसने आत्मा का सयमन कर लिया उनका बाहिरी यम क्या कर सकता है?

यम उवाच

यमैश्च नियमैश्चैव य' करात्यात्मसंयमम्।
स चादृष्ट्वा तु मा याति पर ब्रह्म सनातनम्॥

यम कहते हैं कि जो यम नियमों से आत्मसयम करता है वह मेरे पास आये बिना, मुझको देखे बिना, सनातन ब्रह्म में लीन हो जाता है।

चित्रगुप्त जो ब्रह्मा अर्थात् सूर्य के काय से उत्पन्न होकर यम के मुख्य लेखक हैं उनका भी अर्थ यही है। इसीलिये उत्तरगीता में कहा है,

कायस्थोऽपि न कायस्थो कायस्थोऽपि न जायते।
कायस्थोऽपि न भुजान' कायस्थोऽपि न बाध्यते॥

एक ही देव के सब देव रूपांतर हैं, उसीसे प्रकट होते हैं, उसीमें लीन हो जाते हैं। दुर्गासप्तशती में इसका रूपक बहुत अच्छा बाँधा है। अस्तु देवी चेतना, चित्, चिति है, अर्थात् आत्मा अथवा आत्मबुद्धि है।

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
चिद्रूपेण च या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्॥

चयनात्, सर्वभावानां सर्वत्र सर्वदा संचयनात् चित्। चिते आविष्कारस्थान चित्त।

यत् तत् सत्वगुणं स्वच्छं स्वातं भगवत पदम्।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्त तन्महदात्मकम्॥

(भागवत)

स्वांत हृत् मानस मन (अमर कोष)।

अविभूतस्वरूपेण तस्यैव महान् इति संज्ञा, अध्यात्म रूपेण चित्त, उपास्यरूपेण वासुदेव, अधिष्ठाता तु तस्य क्षेत्रज्ञ (चिति)। (श्रीधरी टीका)

सब अनंत भावों का जगमें सदा संचय बना रहता है इसलिये उसको चित्-शक्ति कहते हैं। उसके विशेष आविष्कार के स्थान का नाम चित्त। स्वांत, हृत, मानस, मन, ये भी उसी चित्त के नामांतर हैं। यही पदार्थ अधिभूतरूप से महान्, अध्यात्मरूप से चित्त, उपास्यरूप से वासुदेव कहलाता है। सबका अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ चित् है।

डाक्टरी किताबों में ऐसा वर्णन मिलता है कि कभी कभी आदमी डूब गए, समझा गया कि मर गए। बहुत देर के बाद चिकित्सकों के यत्न से फिर होश में आये। उन्होंने

अपना अपना अनुभव कहा है। एक क्षण से मारी पीड़ा हुई। ऐसा जान पड़ा कि मस्तिष्क में आग लग गयी। इसके बाद बेहोशी और शांति। फिर अपने जीवन का समस्त इतिवृत्त, जैसे "सैनेमा" में, आँख के सामने आया। फिर बेहोशी हो गयी। फिर इस संसार में पुनर्वार जागरण हुआ, और मर कर जीये। यदि न लौटते तो जीवन के इतिवृत्त में से पुण्य और पाप की मोजाने लेकर प्रेतलोक और पितृलोक में फल का अनुभव करके दूसरा जन्म यहाँ ले।

य य वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरं।
त तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावित ॥

जैसे दिन भर काम करके सोने के समय कामकाजी आदमी दिन के काम की उद्धरणी करके कल सबेरे क्या करूंगा यह विचार कर सो जाता है, और रात्रि में स्वप्न तरह तरह के देख कर सवेरे उठकर वही पूर्व विचारित काम आरम्भ करता है, वही दशा मरण, तदनन्तर सूक्ष्मलोकानुभव, और पुनर्जन्म की, बृहत्परिमाण से है। "स्मरन्" शब्द यहाँ भी गीता के श्लोक का स्मरणीय है। चेतयति, स्मरति। चित्रगुप्त का चित्र भी प्राय चित् का ही रूपान्तर होगा।

चित्रगुप्त की व्याख्या सूफियों ने भी बहुत अच्छी की है।

लौहि महफूजस्त दर् मानी दिलत्।
हर् चि मी खाही शवद् ज् हासिलम् ॥
दर हकीकत खुद तुई उम्मुल् किताब।
खुद जि खुद आयाति खुद रा बाज याब ॥

"लौहि महफूज", छिपा हुआ चित्रपट, हिफाजत से महफूज गुप्त, रक्षित—यह तो तुम्हारा दिल, तुम्हारा हाफिजा, तुम्हारी स्मृति, चित्त ही है। जो कुछ चाहो सब इसीसे तुमको मिल सकता है। सब किताबों की माता (सर्वज्ञानमय वेद की माता, उम्मुल्-कुतुब) तुम आप ही हो। अपने आपे के सम्बन्धी आयतों को, सूरतों को, ऋचाओं को अपने आपे में से, आत्मा में ने, ही खोज निकालो। मनुष्य का स्मृति, मनुष्य का हृदय, चित्त, ही तात्त्विक वास्तविक आध्यात्मिक 'महाफिज, दफ्तर, 'रेकार्ड कीपर', मूल चित्रगुप्त है।

यह जो व्याख्या की गयी इसका यह मतलब न समझना चाहिए कि तत्तद्भावाभिमानी, तत्तन्मूर्ताभिमानी, परमात्मा की तत्तत्कला के अभिव्यञ्जक, व्यक्तिरूप मूर्त देवता नहीं ही हैं। यह मतलब नहीं है। "आत्मैव देवताः सर्वाः", यह है, "आत्मैव मानवाः सर्व" भी। पर मनुष्य के व्यक्तित्व और मूर्तत्व में और देवता के मूर्तत्व व्यक्तित्व में भेद है। उसके विस्तार में पड़ने का यह अवसर नहीं। निष्कर्ष यह कि सब से अधिक उपयोगी मूल अर्थ चित्रगुप्त का आध्यात्मिक है।

यदि चित्रगुप्त का तात्त्विक स्वरूप ऐसा है, तो सौदास राजा का उनकी पूजा करके धर्मराज यमराज से विष्णुलोक पाना कुछ अनुचित नहीं हुआ। रिश्वत उत्कोच की बात नहीं हुई, प्रत्युत उचित ही हुआ। उसने चित्रगुप्त को वास्तविक रूप में पहिचान कर उनकी भक्ति की, उसने सब पापों के पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त, और प्रायश्चित्त से धर्म पर पैर धरा। और गीता में कृष्ण ने कहा ही है कि कृष्ण की

दुराचारी हो, पर पश्चात्ताप, प्रख्यापन, प्रायश्चित्त करके "मैं" की, आत्मा को, अनन्यभक्ति करे, तो जानो कि वह साधु हो गया, अब उसका व्यवसाय, निश्चय, पुण्यात्मक ही है। इसलिये, हे अंतर्यामी स्वरूप, सबका हाल जानने वाले, चित्रगुप्त! आपको नमस्कार है। आप सबके काय के भीतर स्थित कायस्थ हो, सबके साक्षी हो, विचित्र लेखक हो, सब वस्तुओं, कार्यों, अनुभवों के अनंत चित्रों को सदा सुरक्षित रखते हो, यम के हृदयरूप हो, यम का सब कार्य करते हो, सबके पालक हो, आपको पुनर्वार नमस्कार है, आप सबको शांति दो।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्य सम्यग्व्यवसितो हि स ॥
चित्रगुप्त नमस्तुभ्यमात्मस्वान्तस्वरूपिणे।
गुप्तसदस्वचित्राय सर्वान्त [illegible]मिणे नम ॥
कायस्थिताय सर्वेषा साक्षिणे सर्वकर्मणाम्।
लेखकाय विचित्राय यमकार्यकराय च ॥
यमस्य हृदयायैव नमस्ते धर्मरूपिणे।
सर्वेषा पालकोऽसि त्व नम शान्ति प्रयच्छ मे ॥

॥ ॐ ॥

॥ ॐ ॥

सब धर्मों (मज़्हबों) की एकता।

(धर्मत्रय अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई धर्मों का समन्वय।

तथा

नीतित्रय अर्थात् असहयोग—सहयोग—प्रति सहयोग का।)

[बनारस में तारीख १३-१४-१५ अक्टूबर सन् १९२१ को संयुक्तप्रान्त (मुमालिक मुत्तहिदा) की राजनीतिक (सियासती) कान्फरेन्स हुई। स्वागत-समिति (कमेटी इस्तिक़बालिया) के सभापति (सदर) की अवस्था (हैसियत) से श्रीभगवानदास ने व्याख्यान (ख़ुतबा) दिया। उसका आशय (मज़मून) यह है।]

ॐ परमात्मने नम ।
बिस्मिल्लाह अर्रहमानर्रहीम ।

सज्जनो,

मैं स्वागतकारिणी समिति की ओर से आप लोगों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, दिल से आप लोगों का शुक्रिया अदा करता हूँ, कि आप लोग तक्लीफ उठाकर यहाँ पधारे हैं। हम लोगों से आपको सवा कुछ नहीं बन सकी है, आपको आराम देने का हम लोग कुछ इन्तिजाम नहीं कर सके हैं, इसका हमें बहुत अफसोस है, और इसके लिये हम आपसे माफी माँगते हैं।

क्षमापन ।

इन्तिजाम अच्छा न हो सकने के कई कारण हैं। न्यौता तो जरूर परसाल से ही दिया हुआ था, पर आप जानते हैं कि काम की भीड़ कैसी रही है। गया कांग्रेस के बाद यहाँ म्युनिसिपल् इलेक्शन् हुए, उसके बाद बोर्ड के काम का बोझ नये मेम्बरों पर, जो कांग्रेस कमेटी के भी कार्य-कर्त्ता थे, बहुत बड़ा आ पड़ा, और मेरे ऊपर चेयरमैन का काम रख दिया गया। कौंसिल के मसले पर जो मतभेद सारे देश में हो रहा था उससे भी बड़ी परीशानी थी और कांग्रेस के काम से जनता का मन उचट रहा था। बम्बई में आल्-इंडिया-कमेटी बैठी, एक राय क़ायम हुई, उसको उलटने के लिये नागपुर में कमेटी बैठी, दूसरी राय क़ायम हुई, उसको उलटने के लिये (विशाखपत्तन) विजागापटाम में बैठक हुई, मगर स्पेशल कांग्रेस करने की राय ही क़ायम रही। कहाँ तो, इसमें दिक़्क़तें

पेश आई। बम्बई में बैठक करने की बात हुई। फिर बनारस में बैठक करने की भी एक बार बात हुई। फिर इलाहाबाद में। अन्त में दिल्ली में जलसा करना निश्चय हुआ। इधर ओर सबका मन लगा हुआ था कि देखें दिल्ली में क्या होता है। बनारस के आदमियों ने दिल्ली जाने के पहले प्रान्तीय कान्फ्रेन्स के लिये कुछ ध्यान देना शुरू किया, और रिसेप्शन कमेटी की एक दो बैठकें हुई, और कुछ इन्तजाम का तजवीज भी सोची विचारी गई, पर मन दिल्ली की तरफ खिंचा था। इस कारण दिल्ली में जलसा हुआ। सभर में, और खासकर यहाँ की जहन्नुम और तुफैलों में, निहायत बेकार लोग घर को लौटे। किसी किया तरह समझौता हो गया, इसका तो खुशी जरूर हुई, पर बीमारी का जोर बहुत बढ़ा। घर घर में "डेंगू" बुखार—काम करने वालों में अक्सर बीमार और गिरस्ती के झगड़े से परेशान—एक निहायत तङ्ग—शहर का रोजगार भी मन्दा—इसस शहर वालों को भी ज्यादा तकलीफ देने का हिकमत कम—इन वजहों से हिम्मत बहुत पस्त हो रहे थे। और इनमें से जो कुछ पूछे हैं, या दो चार हैं, वे तो यह सोचने लगे कि अभी तो दिल्ली में कांग्रेस हुई ही है, और दूसरों में ज्यादा यह गोरखपुर में होगी अगर कुछ दिनों के लिये यह जलसा मुल्तवी कर दिया जाता तो अच्छा। पर हमारे ज्यादा काम करने वालों ने हिम्मत बाँधी, और जोर दिया कि यथा मामूल में जलसा होना ही चाहिये। यह इन लोगों की हिम्मत व मिहनत का नतीजा है कि बनारस के लोगों को प्रांत भर के प्रतिनिधियों के दर्शन करने का सौभाग्य

आज मिल रहा है। पर जरूर है कि हम लोगों से कुछ भी खातिरदारी आप लोगों की नहीं बन पड़ी है, इससे फिर फिर क्षमा माँगता हूँ।

स्वागतकारिणी समिति के सभापति की हैसियत से तो मुझे और कुछ कहने की जरूरत नहीं है। मिहमानदारी ही की फिक्र हमको करना है। कान्फरेन्स का जो राजनीतिक काम है उसके बारे में जल्से के सभापति मशिवरा अपने व्याख्यान में देते हैं। हम सबको भारी दुःख है कि जिन सर्वप्रिय सज्जन, जवाहिरलाल जी को हम लोगों ने सभापति निश्चय किया था, वे नामा के कष्टों के बाद प्रयाग से आकर बहुत बीमार हो गये हैं और यहाँ नहीं आ सके। इससे हमारा सारा जल्सा फीका मालूम हो रहा है। उन्होंने इस बीमारी की हालत में भी अपना व्याख्यान लिखकर भेज दिया है। हमें उसीसे सन्तोष करना पड़ेगा। मैं यही कह कर अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहता था, पर एक दस्तूर चला आता है कि स्वागत समिति का सभापति भी कुछ अपनी राय कहा करे, इस दस्तूर को मानता हुआ दो बातों पर मैं अपने कुछ खयाल आपके सामने रक्खूगा।

स्पेशल कांग्रेस के आगे दो झगड़े।

दिल्ली की कांग्रेस कौंसिल के झगड़े का निपटारा करने के लिये बुलाई गई, पर वह बैठने न पाई थी कि एक और ऐसा झगड़ा देश में नये सिर से उठा, यानी मजहबी झगड़ा जिसके आगे कौंसिलों का झगड़ा बच्चों का खेल हो गया, और

सारा काम कांग्रेस का, जो उस छोटे झगड़े से रुक रहा था, इस बड़े झगड़े से बिल्कुल बन्द हो हो गया। इसलिये दिल्ली की कांग्रेस के आगे बजाय एक के दो भारी मसले आ पड़े।

कौंसिलों की बात।

दोनों बातों पर उसने समझौता कर दिया। कौंसिल की बात मजहबी झगड़ों की बात के मुकाबिले कम जरूरी है। इस लिये थोड़े में मैं उसकी चर्चा पहिले कर देता हूँ। देश की हालत देखते हुए यह जरूर था कि स्वराज पार्टी के जो लोग "नान-को-आपरेशन" की तबीयत, असहयोग की दृढ़ता का भाव, सत्य पर आग्रह का उसको प्रकृति, उसका "स्पिरिट आफ आपोज़िशन," अन्याय के विरोध का भाव, लेकर, कौंसिलों में जाकर, क़िस्मत-आजमाई करना चाहें, उनको मौका दिया जाय, उनके रास्ते में कांग्रेस की किसी दूसरी पार्टी की ओर से कोई रुकावट न डाली जाय। यह धीरे धीरे साफ होता जाता है कि स्वराज पार्टी क्या तरीका अख्तियार करेगा। सम्भव (मुमकिन) है कि तिलकजी के प्रकार, "रेसपान्सिव् नान को आपरेशन," यानी पारस्परिक-असहयोग, का बर्ते। मेरा निज का ख्याल हमेशा यही रहा है कि अगर कौंसिल में लोग जायँ तो इसी पालिसी को बर्तें। भारतवर्ष के राजनीतिक नेताओं में बहुत से अच्छे अच्छे लोग हो गये हैं जिन्होंने अपने वक्त में अच्छे अच्छे काम किये और देश को आगे बढ़ाया। पर दो ही नेता युगप्रवर्तक हुए हैं। अर्थात् तिलकजी और गांधीजी, जिन्होंने नये प्रकार,

कहने ही के नहीं, बल्कि कुछ करने के भी, निकाले इन दोनों नेताओं की राय मानने के योग्य है। और देश काल अवस्था के अनुसार इनमें जरूरी घटाव बढ़ाव कर दिया जाय तो इनमें कोई विरोध कोई इख्तिलाफ, भी नहीं रहता। बल्कि सिर्फ काम का बँटवारा हो जाता है। कौंसिलों के भीतर से स्वराज दल वाले नौकरशाही पर दबाव डालते रहें, और अगर बन पड़े और मौका मिले तो "टोटल आबस्ट्रक्शन" आदि भी करने की कोशिश करें, और बाहर से सत्याग्रह दल के लोग भी यथासंभव, खास खास बातों को लेकर, खास खास जगह, असहयोगात्मक सत्याग्रह के जरिया से भी जनता के हकों की रक्षा करें, और नौकरशाही पर दबाव डालें, जैसा नागपुर में हुआ। इस तरह दोनों दल एक दूसरे का विरोध न करके एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं। किन्हीं लोगों ने यह एतराज किया है कि तिलकजी ने पारस्परिक सहयोग कहा था, पारस्परिक-असहयोग नहीं। पर उनके राजनीतिक शिष्य श्री केलकर जी ऐसे नेता ने स्वयं पारस्परिक असहयोग शब्द को मान लिया है।

परस्पर सहयोगाऽसहयोग।

बात तो यह है कि "पारस्परिक" शब्द के मानी ही यह हैं कि तुम हमारे फायदे की बातों में हमारे साथ सहयोग करोगे तो हम भी तुम्हारे फायदे की बातों में तुम्हारे साथ सहयोग करेंगे, और अगर तुम हमारे फायदे की बातों में हमारे साथ असहयोग करोगे तो हम भी तुम्हारे फायदे की

बातों में तुम्हारे साथ असहयोग करेंगे—यह अर्थ हर तरह से "रिस्सासिव" शब्द से ही पैदा होता है, चाहे आप इसके साथ सहयोग या "को-आपरेशन" शब्द लगावें, चाहे असहयोग "नान-को-आपरेशन"। ये दोनों एक ही चीज के दो पहलू हैं। पर, हां, जमाने के लिहाज से इस समय असहयोग के पहलू पर ज्यादा जोर देने की जरूरत है। यह खूब याद रखना चाहिए, क्योंकि इसको हम लोग कभी कभी भूल जाते हैं, कि महात्माजी ने भी असहयोग का अर्थ सम्पूर्ण और सर्वथा असहयोग कभी नहीं किया। खास खास बातों में ही असहयोग उन्होंने बताया। स्कूल कालिज के असहयोग को एक तरह से उन्होंने स्वयं रोक दिया। खद्दर प्रचार ही पर सबसे बड़ा जोर उनका रहा। जेल में पैर रखने से पहिले अंतिम शब्द उनका "खद्दर" ही रहा।

वेदव्यास और ईसा।

ईसामसीह ने कहा है कि "जैसा तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ व्यवहार करें वैसा तुम उनके साथ व्यवहार करो"। यही अर्थ महाभारत में अधिक पूरा किया है।

न तत्परस्य संदधीत प्रतिकूलं यदात्मनः।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्॥

पर यह नियम आत्यंतिक रीति से सन्यासी के ही लिये है, गृहस्थ के लिये नहीं। गृहस्थ इसको कुछ शर्तों से कम करके ही बरत सकता है। और गांधीजी के असहयोग में इस नियम का अनुसरण नहीं है। यह तो चीज ही दूसरी है। जिनका

की पालिसी के नियम को पुराने सस्कृत के शब्दों को थोड़ा सा बदल कर या कह सकते हैं कि "शठ प्रति (शठं नहीं) हठं कुर्यात् मादरं प्रति मादर ।" अर्थात् तुम्हारे साथ जैसा दूसरे करें वैसा तुम भी उनके साथ करो, पर हाँ पालिटिक्स में "शाति" से बिना हाथा पाई के, और जायज उचित, अमन के उपायों से—यह शर्त भी लगा कर। इतना समझ लेने पर गांधीजी और तिलकजी की पालिसी में अतर बहुत थोड़ा रह जाता है। उसूल का नहीं, बल्कि केवल विषयों का, कि किस किस बात में, किस किस अवस्था में असहयोग किया जाय । यथा गांधीजी कौंसिलों का सर्वथा त्याग ही उचित समझते हैं, और तिलकजी के अनुयायी कौंसिल-प्रवेश मात्र के सहयोग को उचित समझते हैं, और वहाँ जाकर यथा शक्ति गवर्मेंट के स्वार्थ से असहयोग और प्रजा के हित की बातों में गवर्मेंट का सहयोग।

इन सब बातो को विचार कर, यदि कौंसिल के विषय में भी कुछ असहयोगी लोग तिलकजी की नीति आजमाना चाहें तो अनुचित नहीं।

भक्ति-वफ़ादारी की क़सम।

वफादारी की क़सम जो कौंसिलों में लेनी पड़ती है उसके बारे में कुछ मित्रों को बड़ा संदेह है, और संदेह होना उचित ही है। पर उस संदेह को शात करने का उपाय यह है कि जो लोग कौंसिलों में जायँ वे पहिले से भी इश्तिहार कर दें, और बाद में आपस के सलाह मशविरे के बाद उचित उपाय और मौका विचार कर, कौंसिलों के भीतर भी इस बात को जाहिर

कर द, कि वफादारी और भक्ति दोतरफा होती है, यकतरफा नहीं, हम आपके भक्त और वफादार तब तक हैं जब तक आप भी हमारे भक्त और वफादार हैं। और भी, वफादारी के मानी यह नहीं है कि, राजा हो या प्रजा हो, मालिक हो या नौकर हो, छोटा हो या बड़ा हो अपना हो या पराया हो, किसी को अनुचित बातों और कारखाइयों में भी हाँ में हाँ मिलायेंगे, और उसके खराब कामों में भी मदद देंगे। बल्कि यह कि उसको नेक राय देंगे, अच्छी राह दिखायेंगे बुरे रास्ते में जाने न रोकेंगे, जो हो हर भले आदमी का हर दूसरे आदमी के साथ वफादारी का फर्ज है। अगर कुछ ऐसी घोषणा और इश्तिहार का बन्दोबस्त कर लिया जाय तो प्राय इस शङ्का का समाधान हो जायगा।

मजहबी झगड़ा।

अब मैं दूसरे और भारी झगड़े का जिक्र करूँगा। खद्दर, शांति, अछूतोद्धार, मजहबी एका ये चार चीजें स्वराज की जड़ बुनियाद हैं—ऐसा महात्माजी बराबर कहते रहे। खद्दर के मानी रोजगारी स्वराज, अछूतोद्धार के मानी मुहब्बत और इंसानियत या झूठे अहङ्कार और झूठी पवित्रता (तहारत) के ऊपर स्वराज, शांति के मानी बुद्धि (अक्ल) का हाथ पर पर स्वराज, मजहबी एका के मानी दिल की तंगदिली या पक्षपाती के ऊपर स्वराज। जितना गौर कीजिये उतना ही निश्चय (यकीन) मालूम होगा कि मजहबी एका होना, मजहबी झगड़ों का मिटना, यह दूसरा सब मज़ाहबों का जड़ बुनियाद है।

हर आदमी अच्छी तरह जानता है, और हर आदमी मुँह से कहता भी है, कि जब तक ये आपस के मजहबी झगड़े जारी रहेंगे तब तक स्वराज नहीं ही मिल सकता। पर कुछ ऐसी माया है कि यह सब जानते, मानते, बखानते हुए भी, लोग धर्म (मजहब) के नाम से एक दूसरे का काम बिगाड़ने का जतन करते ही हैं। और अपना भी काम बिगाड़ते ही हैं।

इस फ़साद का मूल कारण
यानी असली वजह।

इस झगड़े की जो सूरत इधर हुई है, जो बड़े बड़े फसाद कई बड़े शहरों और कस्बों में हुए हैं, उनको यहाँ बखानने की जरूरत नहीं है। शुक्र (धन्यवाद) का मुकाम (अवसर) है कि दिल्ली की स्पेशल कांग्रेस के बाद कोई नये फसाद नहीं सुने गये हैं। वहाँ के समझौते का कुछ असर देश में हुआ, ऐसा मालूम होता है। खासकर उस घोषणा (एलान) का जो दोनों मजहबों के एक सौ मजहबी तथा राजनीतिक नेताओं के दस्तखत से मिलकर हुआ। और वह समझौता हर तरह से गनीमत है। पर उसको स्थिर (मुस्तहकम) करने के लिये, उसकी जड़ मजबूत करने के लिये, उसको कायम रखने के लिये, कुछ और काम की भी जरूरत है। और मैं दिल से आशा करता हूँ कि वह काम इस कान्फरेन्स में शुरू कर दिया जायगा। मैंने गया की कांग्रेस में उसको पेश करने की कोशिश की थी। और मुझे यकीन है कि अगर वहाँ यह काम शुरू कर दिया जाता तो इन फसादों

की नौबत न आती। दिल्ली में भी मैं ने नेताओं का ध्यान इस ओर दिलाया, और आपसे भी यही अरज करता हूँ।

स्वराज शब्द के अर्थ में भूल।

स्वराज के मीठे लफ्ज़ के पीछे सब लोग मिलकर दौड़े। स्वराज की ठीक ठीक शक्ल सूरत पहिचानने की कोशिश नहीं की। उमेद की था कि थोड़ी मिहनत से बड़ी चीज थोड़े वक्त में मिल जायगी। जब नहीं मिली तो हम लोग एक दूसरे को इल्जाम देने लगे, और आपस म लड़ने लगे। हमेशा का दस्तूर है कि जब काम नहीं बनता तो काम करनेवाले एक दूसरे को दोष देने लगते हैं। जैसा नीति जानने वाले ने कहा है, "यदि कार्यविपत्ति स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते"। इस लड़ाई की दो सूरत हुई। जो शाइस्ता पढ़े लिखे लोग थे उनमें तो सत्याग्रह और कौंसिल के मसलों पर कागजी और जबानी लड़ाई शुरू हुई। और यह लड़ाई जब ज्यादा बढ़ी, तब दूसरे दलों (गरोहों) में, जिन्होंने भीतर भीतर यह समझ रखा था कि स्वराज के मानी हमारे ही मजहब वालों का राज, यह बिगड़ा हुआ स्वराज का जोश आपस की हाथापाई, मारपीट, और लूटपाट में उपल पड़ा।

धर्म मज़हब के मानी में भूल।

इसकी असल वजह यह है कि जैसा हम लोगों ने स्वराज का मतलब नहीं समझा है वैसा ही मजहब-धर्म की भी असल शकल नहीं पहिचानते हैं। अब तक हम लोग एक दूसरों को यही कहते आये कि लड़ो मत, छेड़ो मत, मेल करो, मेल करो,

नहीं तो स्वराज नहीं पाओगे । इस तरह स्वराज की मिठाई की लालच से ही जो मेल किया जायगा वह कब तक ठहर सकेगा ? जब तक मजहबों का मेल नहीं किया जायगा, उनके सिद्धांतो (उसूलो) का एका सबको न दिखाया जायगा, तब तक मजहब वालो का भी सच्चा मेल कभी नहीं होगा। और जब तक स्वराज की सच्ची शकल सबको नहीं बताई जायगी और उसका तसफीया समझौता नहीं कर लिया जायगा तब तक मजहब वालों धर्म वालों में, और गरोह-गरोह में, हिन्दुस्तानी-यूरोपीयन में, हिन्दू-मुसलमान में, ब्राह्मण-अब्राह्मण में, स्त्री-पुरुष में, प्राचीन-नवीन में, वृद्ध-युवा में, मालिक-नौकर में,पूंजीवाल श्रमजीवी में, जमींदार-काश्तकार में, दूकानदार खरीदार में, जात-जात म, रोजगार-रोजगार मे, अहलकार-गैरअहलकार में, धनी निर्धन में, खेतिहर-मजदूर मे, पुराणराशि भविष्यनाग में, शास्त्रवादी-बुद्धिवादी में, श्रद्धावादी-युक्तिवादी में, हमेशा आपस में बेएतबारी (अविश्वास) बना रहेगा, और दिली मेल और एका से स्वराज के लिये कोशिश न की जायगी, बल्कि खुले तौर से या छिपे तौर से एक दूसरे का काम रोका जायगा, और जो कुछ एका और मेल होगा वह सिर्फ ऊपरी, दिखनावती, बनावटी और चन्दरोजा होगा। लेकिन धर्म मजहब की असलियत (तत्त्व) पहिचानने से सब धर्मों मजहबों का मेल ही मेल देख पड़ेगा। और स्व-राज में "स्व" की असली सच्ची सूरत पहिचानने से धर्म-मजहब की भी असलियत मालूम हो जायगी, मजहबी झगड़े भी मिट जायँगे, और सियासी तरफें, (राजनीतिक

झगड़े), और गरोह गरोह के आपस के शक शुबहे भी रफा हो जायँगे, जिन्हीं शक शुबहों की वजह से हमारी स्वराज की लड़ाई रुक रही है, क्योंकि इस वक्त हर एक आदमी या गरोह स्वराज का अर्थ अपने मनमाना लगा रहा है और भीतर भीतर समझता है कि स्वराज होने पर हम दूसरों को दबावेंगे, या डरता है कि दूसरे हमको दबावेंगे, और इसी लिये सच्चे दिल से काम में मदद नहीं देता, गो मुँह से सबके सब, यहाँ तक कि अहङ्कार और यूरोपियन भी, कहते और कबूलते हैं कि हिन्दुस्तान को स्वराज मिलना ही चाहिये।

मतलबी यारी और असली यारी।

मतलब की यारी मतलब के साथ बनेगी और बिगड़ेगी, बल्कि यह कहना चाहिये कि उसमें सद्भाव, मित्रता, निश्छलता नहीं हो सकती, इसलिये मतलब को भी बिगाड़ेगी और आप भी बिगड़ेगी ही, बनेगी नहीं। बहुत मोटी बात है, एक ही रोटी अगर आपका भी और हमारा भी लक्ष्य (मकसद) है तो तीसरे से छीनने के लिये तो जरूर हम आप मेल कर लें, पर छीन लेने के बाद क्या हालत होगी? आप खाओगे या हम खायँगे? इस पर तो फिर हमारे आपके बीच लाठी चलेगी? यूरोप की हालत आँख के सामने है। जर्मनी को हराने तक बड़ा मेल था, अब भूराभूरी है। इसलिये रोटी किस भाँति बँट सकते हैं और उसका कैसे आपस में बटवारा होगा, स्वराज की क्या शकल होगी, कि जिसमें किसी गरोह की भी रोटी एक बारगी और सबका साथ न मारी जायगी, यह पहिले से ही

समझ लेना जरूरी है। और इसी समझने के लिये मतलब की यारी छोड़कर असली यारी पकड़ना चाहिये। और स्वराज्य मिले या न मिले, सब मजहबों के माननेवालों में आपस में मेल इस वास्ते होना चाहिये कि सब धर्मों, सब मजहबों के असली उसूल (तत्त्व, सिद्धांत) एक हैं। खुदा परमात्मा एक है, उसीने सब इन्सानों को बनाया है, और सब इन्सानों के दिल में बैठा हुआ है, सिर्फ खुदी के पर्दे ने उस खुदा को हमसे छिपा रक्खा है, स्वार्थ ने परमार्थ को ढाँक दिया है, जो फर्क (भेद) है वह केवल नामों का ही है। जब हम सब ऐसा समझेंगे, और समझायेंगे, तभी सच्ची यारी होगी, और तभी स्वराज्य वगैरह सभी नेमतें (उत्तम वस्तु) सहज में मिल जायँगी।

जैसा ईसा ने कहा है, "पहिले नेकदिली हासिल करो उसके बाद और सब चीजें तुम्हें आप मिल जायँगी"। खुदा को, आत्मा को, भुलाकर दुनिया की लालच और खोज करने से दुनिया भी नहीं मिलती, और खुदा तो खोया है ही। पर यदि खुदा को, आत्मा को, सत्य को, हक़ को आदमी पहिले खोज निकाले, तो उसकी बनाई दुनिया तो आप से आप आ जायगी।

सब धर्मों के उसूल एक हैं।

सूफियों ने कहा ही है,

फ़क़त तफावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं यारो।
जो आबि-साफी कि मौज में है, उसी का जल्वा हबाब में है॥

अर्थात् केवल नाम का भेद है, अस्ल में सब एक हैं। जो ही पानी समुद्र की लहर में है वही बबूले में भी चमकता है।

मौलाना रूम ने कहीं एक कहानी कही है। एक रूमी, एक अरबी, एक ईरानी, एक तुर्की का सफ़र में साथ हो गया। चलते चलते भूख लगी। एक दूसरे की ज़बान समझते नहीं थे। इशारे से बात हुई। जितने पास पैसे थे इकट्ठा किये। क्या खरीदना चाहिये? अरबी ने कहा 'एनब' खरीदना चाहिए, तुर्की ने पुकारा 'उज़म', ईरानी बोला 'अंगूर', रूमी चिल्लाया 'अस्ताफील'। हुज्जत शुरू हुई। मारामारी की नौबत आगई। एक मेवाफ़रोश दौरा लिये उधर से निकला। उसने हुज्जत सुनी सबका मतलब समझा। दूकानदारों को सब तरह के आदमियों से काम पड़ता है, अपने काम भर कई ज़बान में चीज़ों के नाम जानते हैं। बोला, लड़ो मत, मेरे पास चारों के पसन्द की चीजे हैं, जो जिसको चाहे ले लो। दौरा आगे रक्खा। उसमें एक ही क़िस्म का फल था, मगर चारों ने खुश होकर एक एक गुच्छा उठा लिया। क्या बात हुई? अंगूर ही को अरबी में एनब कहते है, तुर्की में उज़म, फ़ारसी में अंगूर, रूमी में अस्ताफील, शायद पहलवी में दाख कहते हैं, और संस्कृत में द्राक्षा। इस छोटी हिकायत में सब धर्मों और मज़हबों का सत-सार दिखा दिया है—"मजहब सदाकत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक हीं हैं यारो"। खुदा बड़ा मेवा-फरोश है, उसको सबका भला मंज़ूर है, सबको मेवा देना चाहता है। सबकी बोली समझता है, सब के दिल में बैठा है, पर अगर हमको खुदा के मज़हब की पर्वा नहीं, "हमारा मज़हब" "हमारा मज़हब" इसी का हमहमा (अहम्‌‌मन्यिता) है, तो मेवे तो मिलेंगे नहीं, सिर तो टूटेंगे।

अल्ला-परमात्मा, खु(दा+ई =)देश्वर, एक है। नाम ही बहुत हैं।

आप यक़ीन मानिये, निश्चय जानिये, जो खुदा आपके और मेरे दिल में बैठा है, उससे मैंने भी बहुत बार पूछा, और आप भी जब चाहिये पूछ सकते हैं, वह यही जवाब देता है और देगा कि मैं अरबी भी समझता हूँ, संस्कृत भी, और अँगरेजी, फ़ारसी, जिन्द, हिन्दुस्तानी, चीनी, जापानी, नई, पुरानी, सभी जबानों को जानता समझता हूँ। मैं ही ने तो उन्हें भी और तुम्हें भी बनाया है। चाहे जिस जबान में मेरा नाम लो, मुझे याद करो, मुझे पहिचानो, मुझसे दुआ माँगो, मैं तुम्हारी नेक ख्वाहिशें (शुभ कामना) पूरी करूँगा। लेकिन अगर हम इस वहमहमें में पड़े कि जो मेरे मुँह से निकले वही सब लोग कहें, मेरी ही नकल सब करें, मेरा ही मजहब फैले, तो दूसरे भी ऐसा ही झूठा और थोथा हठ क्रोध करेंगे, और जो गढ़े हम दूसरों के लिये खोदेंगे उनमें हम खुद गिरेंगे, जो जहर दूसरों के लिये बोवेंगे उससे खुद मरेंगे।

इसलिये भाइयो, दोस्तो, अगर हम लोग मतलबी नहीं, बल्कि सभी दोस्ती चाहते हैं तो,

ऐ व चश्मानि दिल् म बीं जुज़् दोस्त,
हर् चि बीनी बिदाँ कि मज़्हरि ऊस्त।

अर्थात्, दिल की आँख से सबको दोस्त ही दोस्त देखो, जो कुछ देखो उसको उसी अल्ला-परमात्मा का रूप जानो।

यही अर्थ संस्कृत लफ्जों में वेदों में कहा है,

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(ईश उपनिषद)

यानी जो कोई सब चीजों को आत्मा में और आत्मा को सब चीजों में देखता है, वह फिर किसी से जुगुप्सा (नफ़रत) नहीं करता।

यही अर्थ अरबी शब्दों में सूफ़ियों ने कहा है,

मन अरफ़ा नफ़सहू फ़क़द अरफ़ा रब्बहू। (हदीस)

यानी जिसने अपने को पहिचाना उसने अपने रब्ब को पहिचाना। इसी अर्थ को कुरान में दूसरे शब्दों में कहा है, "नसुल्लाहा फ़अन्साहुम अन्फ़ुसहुम", यानी जो अल्लाह-परमेश्वर को भूले वे अपनी नफ़्स अपनी आत्मा को भूल।

कुरान में कहा है,

अल्लाहो बि कुल्ले शयीन् मुहीत्।

यानी अल्लाह सब चीजों को घेरे है।

केन उपनिषद् में ठीक यही कहा है, ब्रह्म सर्वमावृत्य तिष्ठति।

कुरान कहता है, "अल्लाहो नूरुस्समावाति वल्‌ अर्ज़ ।" यानी खुदा के नूर से आसमान और ज़मीन रौशन है, या खुदा ही आसमान और ज़मीन को रौशनी है, नूर है, रोशनी है।

ठीक यही मज़मून वेद भी कहता है, "तमेव भान्तम् भाति सर्वं, तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति ।"

कुरान की आयत है, "हुवल् अव्वल, हुवल् आखिर हुवज़ ज़ाहिर, हुवल् बातिन, व हुवा बकुल्ले शयीन अलीम" ।

ठीक यही अर्थ गीता के श्लोक का है ।-

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित ।
अहमादिश्च मध्य च भूतानामन्त एव च ॥

सब भूतों, प्राणियों, जीवों के भीतर "मैं" पैठा है, बैठा है। जिससे पूछो वही अपने को "मैं" कहता है। "मैं" ही सबके आगे है, सबके बीच में है, सबके पीछे भी रह जाता है। बिना "मैं" के सहारे के, सबध के, न कोई चीज पैदा होती है, न ठहरती है, न मरती है। यह चीज पैदा हुई, इसको भी "मैं" ही पहिचानता है। यह ठहरी है, इसको भी "मैं" ही पहिचानता है। यह नाश हो गई, लुप्त हो गई, इसको भी "मैं" ही पहिचानता है। इसलिये सबके आगे, सबके बीच, सबके पीछे, "मैं" ही है। बिना "मैं" के ससार का सभव ही नहीं।

इजील मे भी यही कहा है—"गाड इज् दी आल्फा एंड दी ओमेगा", "आइ ऐम दी फर्स्ट एंड् दी लास्ट"। यानी "मैं" परमात्मा-खुदा-गाड् आदि अव्वल है, अत आखिर है, मध्य वीच है, हमारे बाहर भी है, भीतर भी (चेतना, होश, ज्ञान, की शकल से) है।

"ला इलाह् इल् अल्ला", इस कल्मे का अर्थ पहुँचे हुए, रसीदा, (ऋच्छतीति ऋषि) सूफियों ने यही किया है कि ला मौजूदा इल्लाहू, यानी है नहीं कोई चीज सिवा उस खुदा के। कुरान में फिर फिर कहा है, "हुवल् हय्यो ला इलाहा व "इल्ला हू," इन्नि अनल्लाहू, ला इलाहा इल्ला अना" यानी वही आत्मा ही जिन्दा है, क्योंकि कोई है ही नहीं सिवा

उसके, नहीं कोई मौजूद है सिवा "मेरे", नहीं कोई ख़ुदा है सिवा "मेरे" (अर्थात् सिवा "मैं" के चेतना के, आत्मा के), "मैं" ही ऐन ख़ुदा है, अल्ला है। 'अहात बिकुल्ले शैइन् इल्मा", यानी सब चीज़ों में फैला हुआ इल्म (चेतना) ही ख़ुदा है। सूफ़ियों ने भी अरबी फ़ारसी में ये ही बातें कही हैं, "अन् अल् हक़्' यानी "अहं ब्रह्मास्मि," "मैं ही सब है, परमात्मा है, अल्ला है"। "सोऽहम्", अर्थात् वह मैं है, और मैं वह है। "हम तूई", "तत्त्वमसि", अर्थात् सब ख़ुदा तू ही है, तू ही वह है। "हमा उस्त, हमा अज़् उस्त, हमा अन्दर् उस्त", यानी, सब उसीमें है, सब उसीसे है, सब वही है। प्रथमा से लेकर सप्तमी और सम्बोधन तक सभी कारक सभी विभक्ति, उसी एक "मैं" में ही घटते हैं। और क़ुरान में कहा है कि "लाहुल् अस्मा उल् हुस्ना", यानी सब सुन्दर नाम उसी के हैं। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति", यह वेद का भी वचन है।

इञ्जील में भी ईसा और दूसरे नबियों ऋषियों ने कहा है, "आइ एण्ड माइ फ़ादर् आर वन", "वी आर् दि लिविंग टेम्पल्स आफ़् गाड्", "इन् हिम आर् लिव् एण्ड मूव् एण्ड हाव् अवर् बीइङ्" इत्यादि, अर्थात् मैं और मेरा परमात्मा एक ही हैं, तुम्हीं सब परमात्मा के जिन्दा मन्दिर हो, उसी परमात्मा (चेतना) में सब ही जीते जागते हैं, चलते हैं, और हस्ती अपनी सत्ता (अस्तित्व हयात) पाते हैं।

वेदों में, गीता आदि में, यही बातें फिर फिर कहा है। सिर्फ़ नमूने के लिये यहाँ कुछ वाक्यों का अनुवाद है।

यस्मिन् इदं यतश्चेद येनेद य इद स्वयम्।
योऽस्मात्परस्माच् च परस्त प्रपद्ये महेश्वरम्॥
(भागवत)

(जिसमें, जिसमें से, जिससे, जो यह सब कुछ है, और सबसे परे भी है उसको नमस्कार है)।

"देहो देवालय प्रोक्त," ("क़ल्बुल् इन्सान, बैतुर रहान्") "शिवोऽहम्," "सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्"। "नेह नानास्ति किंचन," "एकमेवाद्वितीयम्," ("वहदहू ला शरीकि लहू"), "विद्धि त्वमेनं निहित गुहायां," "एको देव सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा", "स वा एष आत्मा हृदि", 'हृद्यन्तर्ज्योति पुरुष,' "यद्यद्विभूतिमत् सत्व मम तेजोंऽशसंभवम्", "ब्रह्म तद्धि सर्वाणि नामानि सर्वाणि रूपाणि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति," "स सर्वानुभू," इत्यादि। कम विचार करने वाले यक बारगी ऐसी बात सुन कर घबरा न जायँ, इसलिये कुरान में तो बचा कर कहा है कि सब सुन्दर नाम उसी के हैं। पर उपनिषत् म खोल कर स्पष्ट कह दिया है कि सभी नाम, सभी काम, सभी रूप उसी एक "मैं" के हैं। और प्रत्यक्ष ही है। "मैं" अमुक नाम वाला हूँ। "मैं" यह काम करता हूँ। अमुक रूप वाला "मैं" हूँ। सब रूपों, सब नामों, सब कामों के पीछे, भीतर, "मैं" ही तो है। जो ही कोई नाम या काम या रूप है उसका मालिक, उसका धारनेवाला करनेवाला एक "मैं" है।

यह परमात्मा सबके हृदय में मौजूद है इसी बात को क़ुरान का हवाला देकर सूफ़ियों ने कहा है,

बायजूदे कि मु भदये वेरा "नहनो अक्र रब"
सकहे कुरान में लिखा था मुझे मालूम न था।

अवतार–मसीह–रसूल।

इस्लामी कलमे का जो दूसरा जुज है, यानी मुहम्मद-रसूलिल्लाह", इसका अर्थ अगर यह किया जाय यानी "यके अज रसूलानि अल्लाह,' अर्थात् परमात्मा के भेजे हुए रसूलों पैगाम-बरों, संदेशहरों, में से एक है, तो किसी दूसरे धर्म वाले को भी इससे इनकार नहीं हो सकता। कुरान का भी यही मशा है। फिर फिर कहा है, "वल कुल्ले क़ौमिन हाद", सब क़ौमों के लिये 'हिदायत करने वाले' भेजे गये हैं। "ला नोफ़र्रिको बैना अहदिम मिन रुसुलेह", यानी रसूलों में फर्क नहीं है, सब बराबर हैं। सनातन धर्म का मसला तो मशहूर (प्रसिद्ध) ही है, कि जहाँ जहाँ जब जब जरूरत होती है अवतार होते हैं। कुरान में साफ कहा है कि "वमा अर्सल्ना मिन् क़ब्लिका मिर् रसूलिन् इल्ला नूही इलैहे अन्नहू लाइलाहा इल्ला अना फअबुदून", यानी "परमात्मा कहता है कि 'मैं', परमात्मा ने जिस जिस रसूल को, 'भेजे हुए को', सन्देश ले जाने वाले को, दुनिया में भेजा, सबको सिर्फ एक ही बात सिखाने को भेजा, यानी यह कि सिवा 'मेरे' सिवा 'मैं' के सिवा आत्मा के, सिवा परमात्मा के, जो सब जीवों के भीतर "मैं" की शक्ल से, चेतना की, जान की, सूरत से, बैठा हुआ है, उसके सिवा कोई दूसरा खुदा, दूसरी हस्ती, अस्तिता, दूसरा सत पदार्थ, हो नहीं है, और इसलिए उसी परमात्मा की, 'मैं' की, मेरी ही, पूजा करो।

ख़ुदा और ख़ुदी की माया।

पर नाम-रूप की माया बड़ी प्रबल (जबरदस्त) है। ऐन सच है कि "फक़त तफावत है नाम ही का", तो भी, एक आदमी अल्ला, ख़ुदा, रब्ब कहता है। एक आदमी आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म कहता है। और महज नाम के फ़र्क़ (भेद) से दिलों में फर्क आता है, फ़िर्क़ाबन्दी होती है, मारपीट होती है। ख़ुदा को ख़ुदी ढाक लेती है। फरिश्ते पर शैतान गालिब हो जाता है। देवता को दैत्य दबा देता है। परमार्थ और परार्थ को स्वार्थ खा लेता है। आत्मा को अहंकार निगल जाता है।

हक़ीकत, तरीकत, शरीयत।

जैसे सनातन आर्य-वैदिक-मानव बौद्ध-धर्म में तीन अंग हैं, ज्ञान, भक्ति, और कर्म, वैसे ही ईसा-धर्म में "नास्टिसिज्म, मिस्टिसिज्म, वर्क्स (एनर्जिज़्म)", और इस्लाम धर्म में भी।

अगर हम थोड़ा भी गौर करें तो हमको मालूम हो जाय कि उसूली "अक़ायद" यानी ज्ञानकाड और "हक़ीक़त" की बातें तो सब मजहबों में एक हैं ही, 'इबादात" यानी भक्तिकाड और "तरीकत" की बातें भी एक ही हैं, और "मामिलात" यानी कर्मकाड या 'शरियत" की ऊपरी सतही बातें भी एक हैं या एक नहीं तो एक सी जरूर हैं। और जब यह निश्चय से मालूम हो जाय तब हमारे दिलों से यह तास्सुब, यह हठ, यह दुराग्रह, जरूर दूर हो जाय कि हमारी ही नक़ल सारी दुनिया करे।

घायजूदे कि मु कद्ये तेरा "नहनो अक़्रब"
सफ़्हे क़ुरान में लिखा था मुझे मालूम न था।

अवतार–मसीह–रसूल।

इस्लामी कल्मे का जो दूसरा जुज है, यानी मुहम्मद-र्रसूलिल्लाह", इसका अर्थ अगर यह किया जाय यानी "यके अज़् रसूलानि अल्लाह," अर्थात् परमात्मा के भेजे हुए रसूलों पैगाम-बरों, सदेशहरों, में से एक है, तो किसी दूसरे धर्म वाले को भी इससे इनकार नहीं हो सकता। कुरान का भी यही मशा है। फिर फिर कहा है, "वले कुल्ले क़ौमिन् हाद", सब क़ौमों के लिये 'हिदायत करने वाले' भेजे गये हैं। "ला नोफ़र्रिक़ो बैना अहदिम मिन रुसुलेह", यानी रसूलों में फ़र्क़ नहीं है, सब बराबर हैं। सनातन धर्म का मसला तो मशहूर (प्रसिद्ध) ही है, कि जहाँ जहाँ जब जब जरूरत होती है अवतार होते हैं। कुरान में साफ कहा है कि "वमा अर्सल्ना मिन् क़ब्लिका मिर् रसूलिन् इल्ला नूही इलैहे अन्नहू लाइलाहा इल्ला अना फ़अबुदून", यानी "परमात्मा कहता है कि 'मैं', परमात्मा ने जिस जिस रसूल को, 'भेजे हुए को', सदेशा ले जाने वाले को, दुनिया में भेजा, सबको सिर्फ एक ही बात सिखाने को भेजा, यानी यह कि सिवा 'मेरे' सिवा 'मैं' के सिवा आत्मा के, सिवा परमात्मा के, जो सब जीवों के भीतर "मैं" की शक्ल से, चेतना की, जान की, सूरत से, बैठा हुआ है उसके सिवा कोई दूसरा खुदा, दूसरी हस्ती, अस्तित्व, दूसरा सत पदार्थ, हो नहीं है, और इसलिए उसी परमात्मा की, 'मैं' की, मेरी ही, पूजा करो'।

ख़ुदा और ख़ुदी की माया।

पर नाम-रूप की माया बड़ी प्रबल (जबरदस्त) है। ऐन सच है कि "फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का", तो भी, एक आदमी अल्ला, ख़ुदा, रब्ब कहता है। एक आदमी आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म कहता है। और महज नाम के फ़र्क (भेद) से दिलों में फ़र्क आता है, फ़िक़ाबन्दी होती है, मारपीट होती है। ख़ुदा को ख़ुदी ढाक लेती है। फरिश्ते पर शैतान गालिब हो जाता है। देवता को दैत्य दबा देता है। परमार्थ और परार्थ को स्वार्थ खा लेता है। आत्मा को अहंकार निगल जाता है।

हक़ीक़त, तरीक़त, शरीयत।

जैसे सनातन आर्य-वैदिक-मानव बौद्ध-धर्म में तीन अंग हैं,[१] ज्ञान, भक्ति, और कर्म, वैसे ही ईसा-धर्म में "भाास्टिसिज्म, मिस्टिसिज्म, वर्क्स (एनर्जिज़्म)", और इस्लाम धर्म में भी।

अगर हम थोड़ा भी गौर करें तो हमको मालूम हो जाय कि उसूली "अक़ायद" यानी ज्ञानकाण्ड और "हक़ीक़त" की बातें तो सब मजहबों में एक हैं ही, "इबादात" यानी भक्तिकाण्ड और "तरीक़त" की बातें भी एक ही हैं, और "मामिलात" यानी कर्मकाण्ड या 'शरियत" की ऊपरी सतही बातें भी एक हैं या एक नहीं तो एक सी जरूर हैं। और जब यह निश्चय से मालूम हो जाय तब हमारे दिलों से यह तास्सुब, यह हठ, यह दुराग्रह, जरूर दूर हो जाय कि हमारी ही नकल सारी दुनिया करे।

धर्मों में समानता।

कोई नमाज के नाम से, कोई सन्ध्या के नाम से कोई "प्रेयर" के नाम से, उसी एक परमात्मा, अल्ला, "गाड" को याद करते हैं। कोई निन्नानवे नाम तस्बीह पर जपते हैं, कोई एक सौ आठ नाम माला पर, कोई दूसरी जबान में उसी के नाम "रोजरी" पर। कोई रसूल पैगम्बर के नाम से, कोई मसीहा के नाम से, कोई अवतार के नाम से, इन अच्छे इन्सानों (मनुष्यों) को ताजीम (आदर, पूजा) के भाव से याद करते हैं, उनकी स्तुति ("हम्द", 'नात') करते हैं, जिन्होंने अपने अपने समय में आदमियों का बहुत बड़ा भला करने का जतन किया, उनकी दुनिया और आकबत (इहलोक और परलोक) बनाने की कोशिश की, और उनके दिलों को बदी से हटाकर नेकी की तरफ लाने की फिक्र की। जब जब जहाँ जहाँ जिस जिस कौम में बदी बढ़ती है, शैतान, "सेटन", असुर, दैत्य, राक्षस का जोर ज्यादा होता है, नेकी घटती है, फरिश्ते, सुर, देव, "एंजल" कमजोर हो जाते हैं, वहाँ वहाँ फिर से धर्म-मजहब को कायम और मजबूत करने के लिये, और अधर्म को और असुरों को दबाने के लिये (अन्दर भीतरी असुर तो अहंकार काम क्रोध लोभ आदि हैं, और बाहरी वे जीव हैं जिनमें ये दोष अधिक मात्रा में हों) परमात्मा की ओर से कहिये, उस क़ौम की रूह में से कहिये, (क्योंकि वह रूह भी खुदा का नूर ही है, रूहि-कौम, सूत्रात्मा, चिदात्मा, जात्यात्मा, "ओवर-सोल") रसूल और मसीहा और अवतार

पैदा होते हैं, जो उस कौम के क़लब (हृदय) को अपने कलब के नमूने के जोर से बदल देते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।

यह बात सभी मजहब वाले मानते हैं कि खुदा है। सब से बड़ा खुदा, अल्लाहू (देव) अकबर (सबसे बड़ा) महादेव, परम ईश्वर, परम आत्मा, पर-ब्रह्म, (सबका अर्थ एक ही है), एक है, वाहिद है, अद्वितीय है, लाशरीक है—यह भी सब मानते हैं। पुण्य का फल सुख, पाप का फल दुख, जैसा करो वैसा भरो, सजा जजा, स्वर्ग-नरक, जन्नत-जहन्नुम, हेवन्-हेल, यह भी सब मानते हैं। रोजा-व्रत, उपवास-फास्ट, हज-तीर्थयात्रा-पल्ग्रिमेज, और जकात 'चरिटी" धर्मार्थ दान, यह भी सब मजहबों में है। अगर एक मजहब वाले ओम् कहते हैं तो दूसरे "आमीं", और तीसरे "एमेन्", और तीनों एक ही चीज हैं, और एक ही मतलब रखते हैं, अर्थात्, "हाँ, अस्ति, सु अस्ति, अस्तु, ऐसा हो, वह परमात्मा "मैं" है, और वह "मैं" ऐसी इच्छा भावना आज्ञा करे। हिंदू लोग धर्म के चार मूल, चार जड़, बुनियाद, मानते हैं, श्रुति, स्मृति, सदाचार, और "स्वस्य च प्रियमात्मन" या 'आत्मनस्तुष्टिरेव च ", या "हृदयाभ्यनुज्ञा"। मुसल्मान लोग भी मजहब की बुनियाद चार ही मानते हैं, जो क़रीब क़रीब यही चीज हैं, यानी, कुरान, हदीस, इज्मा, और क़यास। ईसा धर्म वाले भी "रेवेलेशन (स्क्रिपचर)—आक्टा साक्टोरम्—क्रीड ओपिनियन—कान्शंस अथवा स्टेट्यूट्-ला, कस्टम, प्रेसीडेंट या केस् ला और एकिटी और गुड-कांशंस मानते हैं।

रस्म-रिवाज की समानता।

ऊपरी रस्मों और कर्मों में भी बहुत सदृशता (मुशाबिहत, ततबीक़) है। कोई हिलाल और तारा टोपियों में लगाते हैं, कोई त्रिपुण्ड्, ऊर्ध्व पुण्ड्र वगैर, जो भी हिलाल और तारे की ही दूसरी शक्लें हैं, माथे (पेशानी) पर चन्दन आदि से बना लेते हैं। कोई सूली (सलीब) की शक्ल के आवेजे कपड़ों पर लटकाते हैं, जो भी स्वस्तिका और त्रिपुण्ड् से मिलते हैं। त्रिशूल की शकल में यह सब शक्लें शामिल हैं। कोई सिर पर शिखा, चोटी, चुन्दी के नाम से बाल बढ़ाते हैं, कोई ठुड्ठी पर दाढ़ी के नाम से। कोई जनेऊ और जन्तर (यज्ञोपवीत और यन्त्र) पहिनते हैं, कोई तावीज। कोई बुतपरस्त (मूर्त्तिपूजक) हैं तो कोई क़ब्रपरस्त। निराकारता और एकता और वहदत के महावाक्य और कलमें पढ़ते हुए भी सभी, उस एक अकेले पर देर तक मन न जमा सकने के सबबसे, शकलवाली, नामरूपवाली, चीजों में मन अटकाते ही हैं। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च," यानी परमात्मा अल्ला की दो शक्लें हैं, एक बेशक्ल और एक बाशक्ल। और सारी दुनिया ही यह दूसरी शक्ल है, "हमा ऊस्त", इसलिये कोई मूर्तियों को पूजा करते हैं, कोई शहीदों, पीरों, औलियों की क़ब्रों पर माला फूल चादर चढ़ाते हैं और दीये जलाते हैं। जिन्हीं जीवों को कोई देवता और दैत्य के नाम से पुकारते हैं, उन्हीं को दूसरे फ़रिश्ते, मलायक, शैतान, जिन्नात, "एंजल्स" "फेयरीज", वगैरह के नाम से जानते मानते हैं। कोई देवी

देवताओं की सवारी निकालते हैं, तो दूसरे ताजिये निकालते हैं, और ताजियों पर अर्जियाँ लटकाते हैं। सभी मन्नतें मानते हैं। सभी झाड़ फूक में विश्वास करते हैं। सभी गुरु-शिष्य, पीर मुरीद, सेंट डिसाइपल्‌ के रिश्तों को मानते हैं। अगर एक मजहब वाले श्राद्ध तर्पण ब्रह्मभोज वगैरह करते हैं, तो दूसरे मजहब वाले भी गुजरे हुवों के लिये चेहलुम पर फातिहा पढते हैं, और बारे-वफात और शबिबरात्‌ पर उनकी रूह की भलाई के लिये गरीबों को खाना खिलाते हैं। खुदा को लामकान और निराकार कहते हुए भी सभी उसके लिए खास खास मकान बनाते हैं, मन्दिर के नाम से, मसजिद के नाम से, चर्च के नाम से। बैतुल्ला, देवालय, "हौस आफ्‌ गाड"— इन तीनों नामों के लफ्‌जी मानी भी एकही हैं, अर्थात्‌ ईश्वरका घर। और इन सब मकानों की शकल में भी कुछ समानता, कुछ मशाबिहत होती है। यानी इस नापाक (अशुद्ध) दुनियाँ (पृथ्वी) की मैल से आस्मान की स्वच्छता की तरफ सभी उठना चाहते हैं। शिखर के नाम से, गोपुर और कलश के नाम से, गुंबद और मुनारे के नाम से, और "स्टीप्ल टावर,स्पायर" के नाम से। अगर हिन्दुओं में विश्वनाथ दर्शन और गङ्गास्नान की महिमा है, तो मुसलमानों में काबे के मन्दिर में जाना और जम्‌-जम कुण्ड में स्नान करना बड़ा पुण्य है। और सादृश्य (मुशाहिबत) देखिये। काबे के मन्दिर के अन्दर दो पत्थर हैं, एकका नाम हज्रुल अस्वद्‌, और एक का नाम हज्रुल यमानी, जो अब दीवार में लगाये हैं। कहा जाता है कि पहिले फर्श पर ही थे। हाजी यात्री लोग इन पर बोसा (चुम्बन) देते हैं, और काबे के

मन्दिर की परिक्रमा (तवाफ) सात बार करते हैं, और उसके आगे सहन में सिजदा (दण्डवत् प्रणाम) करते हैं। और यह सब काम अच्छा पैजामा कुर्ता टोपी वगैरा पहिन कर नहीं किया जा सकता, बल्कि नंगे सिर, नंगे पैर, एक धोती और एक उपर्ना ही पहिन कर, जिनको एहाम कहते हैं, और ये बिना सिलाई के होने चाहिये। जैन हिन्दुओं में जो लोग बहुत पवित्रता चाहते हैं वे स्नान करके रेशमी पीताम्बर उपर्ना पहिन कर मन्दिर-यात्रा, देवता-दर्शन आदि करते हैं, और ये भी बिना सिलाई के, "अछूते वासस्रो", होने चाहिये। सभी पोथीपरस्त हैं एक वेद को पूजते हैं, एक इंजील को, एक कुरान को। सभी अपनी अपनी पोथियों को एक ही नाम से पुकारते हैं—ब्रह्म वाक्य, गा (ड) स्पेल, कलामुल्ला, यानी ईश्वर खुदा परमात्मा अल्ला गाड् की कही बात। और मुख्य मुख्य बात भी सब में एक ही है। खुद कुरान में कहा है, "इन्नहू लफ़ी-जुबुरिल अव्वलीन," यानी यह (कुरान) अगलों के नविश्तों (लिखे ग्रन्थों) में है। तौरेत में, उपनिषदों में, वही मुख्य बात है, जो कुरान में। हिन्दुओं में जैसे कथा पुराण का दस्तूर है वैसा ही मुसल्मानों में मौलूद, खुतबा, वाज की चाल है, और ईसाइयों में "सर्मन" की। एक वुजू करते हैं तो दूसरे स्नान। एक आसन बिछाते हैं तो दूसरे सज्जादा। एक नमाज के लिए उठने, बैठने, दण्डवत् करने के कायदे रखते हैं, तो दूसरे सन्ध्या के लिये सूर्योपस्थान, अङ्गन्यास, करन्यास वगैरा के। नमाज में सीने (छाती) तक हाथ उठाना चाहिये कि कान तक, और सन्ध्या में प्राणायाम के लिये हाथ सीधे नाक तक

से जाना चाहिये, या सिर के चारों तरफ घुमा कर, ऐसी ऐसी बातों पर अलग अलग फिर्के (हल) और सम्प्रदाय दोनों में बन गये हैं—ईसाइयों में बीसियों, मुसलमानों में बहत्तर, हिन्दुओं में सैकड़ों बल्कि हजारों । अगर एक अजान की पुकार से आदमियों को जगाकर खुदा को तरफ लाते हैं, तो दूसरे शङ्ख घण्टा से यही काम लेते हैं । ईसाइयों में भी "चर्च बेल्स" होते हैं । अगर एक कुर्बानी करते हैं तो दूसरे भी बलिदान । दोनों गोश्त खाते हैं । कोई एक जानवर, यानी गाय का, गोश्त हराम समझते हैं, तो कोई दूसरे जानवर, यानी सूअर का । अफसोस तो यह है कि दोनों में नफ्स्-कुशी, आत्म-बलि, अपनी नफ्स, अपने स्वार्थ और खुदगरजी, अपने अहङ्कार, काम, क्रोध, वगैरा की कुर्बानी, और "तकि-ईयानात," मासवर्जन, बहुत कम लोग करते हैं । दूसरों का ही बलिदान करते हैं । अपने भीतर जो जानवर और पशुता हैं उनका नहीं । पर खुशी की बात है कि गुनाह, पाप, 'सिन्" के धोने और मिटाने के लिये भी सभी एक ही उपाय करते, या करते नहीं तो बताते जरूर हैं, पश्चात्ताप प्रत्यापन, प्रायश्चित्त, नदम-एतराफ-तलाफी (कफ्फारा, तौबा), "रिपेंटेंस-कन्फेशन् एक्सपियेशन्" ।

पुनर्जन्म के बारे में भी यह ख्याल करने की बात है कि कुरान या हदीस में कहीं इससे इनकार नहीं किया है । बल्कि कुछ कलाम ऐसे मिलते हैं जिनका इशारा कुछ लोगों की समझ में पुनर्जन्म के मानने की तरफ है । "कुल् योह्यी हल्लजी अन्शा-अहा अव्वलमर्रा", यानी जिसने पहिले तुमको जिलाया है

वही तुमको दुबारा भी जिला सकता है। "कैफ़ा तक्फ़ुरूना बिल्लाहे व कुंतुम् अम्वातन् फ़ा अह्याकुम् सुम्मा युमीतोकुम सुम्मा योह्यिकुम सुम्मा इलैहे तुर्जऊन", यानी तुम अल्ला से किस तरह इन्कार कर सकते हो, हालां कि तुम बेजान थे, उसने तुम्हें जिन्दा किया, और फिर तुम्हें मारेगा, और फिर जिलायेगा, और फिर उसकी तरफ़ लौट कर जाओगे। यह बात गीता की भी ही मालूम होती है,

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

यानी बहुत जन्मों के बाद ज्ञान, मारिफ़त, पाकर आदमी मेरे पास, परमात्मा के पास पहुँच जाता है। बल्कि एक और वाक्य कुरान में मिलता है जो तो गीता के इस वाक्य का बिलकुल समानार्थ या अनुवाद ही मालूम होगा। "या अय्योहल् इन्सानो इन्नका कादिहुन् इला रब्बेका कद्हन् फ़ मुलाक़ीहे लतर्कबुन्न तबक़न् अन् तबक़", यानी, ऐ इन्सान, तू अपने रब (खुदा) की तरफ़ जाँफ़िशानी करता हुआ जाने वाला है, तबक़ पर तबक़, दर्जा ब दर्जा तुमको चलना है।

और भी कुरान में कहा है, "मिनहा ख़लक़ना कुम, व फ़ी हा नोईदुकुम, व मिनहा नुख़रिजुकुम तारतन उख़रा", यानी "मैं ने तुमको मिट्टी से पैदा किया, और उसी के अंदर तुमको लौटा दूँगा, और उसी से फिर निकालूँगा, लगातार, आख़िर तक", और "सुम्मा बअस्नाकुम मिन बादे मौतेकुम लअल्लकुम तश्कुरून," यानी "फिर मैंने तुमको मबऊस (पैदा) किया, तुम्हारे मर जाने के बाद, ताकि तुम

कुछ शुक्र करो" । और, "अह्याना बादे अमातना," यानी "हमको जिंदा किया हमारी मौत के बाद" । --

कुछ लोग कुरान की इन बातों के मानी दूसरी तरह लगाते हैं। पर इसमें तो कोई शक है ही नहीं कि खलीफा हारूँरशीद के जमाने के मोतजिला फिर्के के लोग पुनर्जन्म को मानते थे। अल् गिजाली, उमर खय्याम, वगैरा, और सूफी लोग भी, इसमें एतबार (विश्वास) करते थे। बल्कि वैदिक धर्म वालों से ज्यादा बारीकी से इस पर विचार किया था। मनुष्य जन्म के बाद मनुष्य जन्म को नसूख, पशुजन्म को मसूख, वनस्पति जन्म को रसूख, और मणि आदि पत्थर रूप में जन्म को फ़सूख कहते थे। यहाँ तो एक पुनर्जन्म शब्द ही से काम चलाया। मौलाना रूम का कहना तो मशहूर है,

-- हम् चो सब्ज़ा बारहा रोईद अम् ।
हफ त सद् हफ ताद् क़ालिब दीद अम् ।

- यानी घास के ऐसा मैं फिर फिर उगा हूँ, सात सौ सत्तर जिस्म मैंने देखे हैं। ईसा मसीह ने भी एक मौके पर कहा कि जो इलैजा नामका नबी था वही जान दी बाप्टिस्ट नामक फकीर के रूप में फिर जन्मा है। आगा खा के फिर्के के मुसलमान आज भी तनासिख यानी पुनर्जन्म को मानते हैं, और मुहम्मद पैगम्बर को ब्रह्मा का और अली को विष्णु का अवतार बताते हैं। ठीक ही है,

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत् तद् एव अवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

सब एक ही और एक से ही देख पड़ेंगे, सब दोस्तही दोस्त देख पड़ेंगे, और सबकी दुनिया भी और आक़बत भी बनेगी।

"हमा उस्त" (सब वही है) से "हमा दोस्त" का नतीजा निकलता ही है।

एवं तु पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिं।
क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी॥ (विष्णु पुराण)

जब सब हरि-मय आत्म-मय, है, तब सब से भक्ति प्रीति होनी ही चाहिये। द्वेष किससे कीजिये? जब कोई दूसरा हो तब न? सब तो अपने ही हैं, आप ही हैं। लेकिन अगर भेद बुद्धि की, खुदी और अहंकार, स्वार्थ और शेख़ी-मशीख़त, घमंड, हठ, दुराग्रह, तास्सुबकी, और अहमहमिका यानी हमहमा की, आँखों से देखियेगा, और इसी भूल में मस्त रहियेगा कि मेरा मज़हब सब से अच्छा और बाक़ी सब ख़राब हैं, और दूसरे मज़हबवालों को जैसे हो तैसे, अक़्ल और हिकमत और दलील से नहीं, बल्कि छल बल और जबरदस्ती से, अपने मज़हब में लाना चाहिये, अगर हम लोग ऐसा ख़याल करेंगे तो दूसरों का भ., और ख़ाहमख़ाह अपना भी, काम बिगाड़ेंगे।

असल बात यह जान पड़ती है कि पढ़े लिखे या अपढ़ भी जब साफ़ साफ़ यह समझ जाते हैं कि हम दूसरों से अच्छे हैं, पर अहंकार भी उनका साथ ही ज़ोर करता ही है, तब उस अहंकार का, ग़रूर का, इस बहाने से स्वाद (ज़ायक़ा) लेते हैं, कि हमारा ईश्वर, हमारा अल्ला, हमारा ख़ुदा, हमारा गाड्, सब दूसरों के देवताओं से बड़ा है, हमारी पोथी, वेद, या तौरेत, या इंजील, या क़ुरान, सब दूसरी

पोथियों से उमदा है, हमारा अवतार पूर्ण परमात्मा है, हमारा मसीहा खुदा का इकलौता बेटा है, हमारा नबी खातिमुन्नबी अत है। नबीपन का खतम कर देने वाला है, सब फरिश्तों से भी और आदम (आदि मनु) से भी बढ़कर है, खुदा के बराबर नहीं तो उसके बाद दूसरे दर्जे में वही है। वाह, वहदत की खूबी! बेवकूफी में भी सब मजहब वाले यकसाँ हैं! जब अहंकार ज्यादा जोर करता है तब तो यह भी सभी कह देते हैं कि हमी महादेव के मुख्य पुत्र हैं, हमी (यहूदी) यहोवा (खुदा) के खास चुने हुए (चोजन् रेस) हैं, हमी (कुरैशी जाति जिसमें मुहम्मद पैगम्बर पैदा हुए) खास खुदा के प्यारे बल्कि ठेकेदार या मालिक (स्वामी) ही हैं। मगर भाइयो, दोस्तो, हम लोगों को इस अहंकार और गरूर के धोखे में नहीं पड़ना चाहिये। परमात्मा खुदा अल्ला अनंत, ला-इन्तिहा, "अनएण्डिङ्" है, और वही हमारी आप की रूह है, रूह-उल्-रूह है, सूत्रात्मा है विश्वात्मा, जगदात्मा, विराडात्मा, परमात्मा, है। इसमें से अनगिनत अवतार और मसीह और रसूल आये, आ रहे हैं, और आते रहेंगे। अपने अपने देश और जमाने के लिये सबने अच्छी अच्छी बात सिखायी और सिखा रहे हैं और सिखावेंगे। सब की मुनासिब इज्जत, आदर करना चाहिये। यह कभी खयाल में नहीं लाना चाहिये कि जो किसी एक ने कोई खास तरीका किसी देश काल अवस्था के लिये बताया, वही जबर्दस्ती से सब आदमियों से सब जगह सब हालतों में मनवाया जाय और बाकी सब की बातें मिटा दी जायँ। और सर्वोपरि यह सदा याद रखना चाहिये

कि मुख्य धर्मतत्त्व, ज्ञानसार, मग़्ज़, सब ने एक ही सिखाया, अर्थात्, "मैं", जीवात्मा, ही परमात्मा है। "इन्नि अनल्लाहु, ला इलाहा इल्ला अना", "अहं ब्रह्म, नान्यद् आत्मन (अपश्यत्)"।

इस तौर से यदि देखा जाय, कि मुहम्मद का अस्ल अर्थ हकीकतेमुहम्मदी, यानी अक़्लेकुल, अर्थात् महान् आत्मा, महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, है, तब तो यह कहना ठीक हो जाता है कि जो जीव उस तक पहुँचा वही मुक्त हुआ, नबी, परमर्षि, हुआ, सानिमुन्नबूअत हुआ, खुदा का इकलौता बेटा, ब्रह्मस्वरूप हो गया।

मज़हब में ज़बरदस्ती नहीं।

मज़हब में ज़बरदस्ती की कार्रवाइयाँ चाहे थोड़े दिन के लिये कारगर हो भी जायँ, पर बहुत जल्द ही ज़वाल और ख़ुराबियत उनके करने वालों पर आती हैं। जो ज़ोर से जल्द बढ़ता है वह दूसरे के ज़ोर से वैसा ही जल्द घटता भी है। वजह सीधी है, उसके दुश्मनों की संख्या हमेशा बढ़ती रहती है जो उसका बुरा चेतते ही रहते हैं। पच्छिम की क़ौमों का हाल देखिये। सिफ़्ली सभ्यता (तहज़ीब) की चोटी पर पहुँच कर, काम, क्रोध, लोभ, और अहंकार के मारे एक दूसरे को मारे डालते हैं। इस देश में कहावत है कि जब चींटे के पर निकले तब उसकी मौत क़रीब है। और भी यह मोटी बात है। धमकाकर ताक़त दिखाकर विश्वास तो बदला नहीं जा सकता। मार पीटकर, डर दिखाकर, दस दिन व पक्ष किसी से

कहलवा भी लें कि दिन नहीं रात है, तो उसका मन तो बदलेगा नहीं, झूठ बोलने की, झूठे और कायर का काम करने की, आदत ही उसमें और उसकी नस्ल में क़ायम होगी। ऐसी ही बातों का खयाल करके कुरान में बार बार कहा भी है, "ला इकाहा फ़िद् दीन", यानी मजहब के मामिले में कोई जबरदस्ती नहीं है, "लकुम दीनुकुम् वले यदीम", यानी तुम्हारे लिये तुम्हारा दीन, हमारे लिये हमारा दीन, "उद् एला सबीलि रब्बका बिल् हिक्मते वल् मौएज्जतिल हसनते", यानी रब्ब की तरफ़ बुलाओ लोगों को हिकमत की राह से, और अच्छी नसीहतों से।

कहनी से करनी बड़ी।

सबसे उम्दा हिकमत तो अपनी जिंदगी का नमूना है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठ तत्तदेवेतरो जन ।

"एक्जाम्पल् टीचेज बेटर दैन प्रीसेप्ट"।

जिसको लोग जानते हैं कि यह आदमी अच्छा है, नेकनीयत है, सच बोलता है, धोखा नहीं देता, दूसरों का दिल से भला चाहता है, उसकी शिक्षा को सभी बातों में लोग मानने लगते हैं। पैग़म्बर मुहम्मद को उनके जान पहिचान के आदमी 'अल् अमान', यानी विश्वासपात्र, कहके पुकारते थे। इससे बढ़कर दूसरा खिताब हो नहीं सकता। आज भी यही अपनी आँखों के सामने देख लीजिये, गान्धीजी को उनके दुश्मन भी अच्छा ही कहते हैं। अपनी जिंदगी, अपनी रहन सहन, अपने चाल चलन की खूबी से ही अपने धर्म का प्रचार करना—यह सबसे अच्छा तरीक़ा है। इत्रफ़रोश गांधी की दूकान के लिये

"सैनबोर्ड" की जरूरत नहीं है, उसकी खुशबू ही सबको खींचती है। उमदा मिठाई की दूकान पर लोगों को जबरदस्ती नहीं ले जाना पड़ता। हाँ, दूकानदार ऐसा बेतमीज भी न होना चाहिये कि जो कोई सौदा खरीदने आवे उसको दुतकार दे। कोई मजहब वाले एक गल्ती करते हैं, तो कोई दूसरी। अब लोग समझने लगे हैं कि हिन्दू धर्म वालों ने अपने ऊपर सारी जवाल और मुसीबत खास कर दूसरी बड़ी भूल की वजह से बुलायी है। सब मजहबों को सिर्फ अपनी दूकान खुली रखनी चाहिये, और सौदा उमदा रखना चाहिये। अपनी अपनी पसन्द के मुताबिक लोग आपही लेने आवेंगे।

मजहब नहीं इन्सानियत फैलाइये।

यह खयाल कि हमारा मजहब फैलने से हमारी कौम मजबूत हो जायगी—यह भी एक बड़ी झूठी माया है। इतिहास, तवारीख के एक एक पन्ने से मालूम होता है, और आज अपनी आँखों के सामने दिखाई देता है, कि हिन्दू राजा हिन्दू राजा से, ईसाई कौमें ईसाई कौमों से, मुसल्मान राजा और कौमें मुसल्मान राजा और कौमों से, वैसा ही बल्कि उससे ज्यादा, लड़ते आये और लड़ते जाते हैं जितना दूसरे मजहब वालों से। किसी मजहब की ऊपरी जाहिरा रीति रिवाजों के फैलने से कोई कौम मजबूत नहीं होती, बल्कि उस इन्सानियत मनुष्यता, प्रेम-मुहब्बत, नेकी के फैलने से जो सब मजहबों-धर्मों का मतसार है। ये ऊपरी जाहिरा तौर तरीके पहिनावे की भांति हैं, जिसको जैसा मन भावे पहिने भी

छोड़ो । इनमें जबरदस्ती करना बड़ी भूल है, हाँ, सलाह, मश्विरा, परामर्श, शिक्षा, सभ्यता से लेना जायज है ।

जो लोग अपने मजहब की तबलीग, अपने धर्म का प्रचार, जबान से भी करना लाज़िमी ही समझें, वे शाइस्तगी से, सभ्यता से, दलील और हिकमत और युक्ति से, करें । अपने मजहब की खूबियाँ दिखावें, पर दूसरे मजहब की निंदा न करें । सब मजहबों में जो मुश्तरका (समान) बातें हैं, उनका ज्यादा ख्याल रक्खें और जो खुसूसियत (विशेष) और ऊपरी फर्क की, रीतियों रस्मों की बातें हैं, उनकी तरफ थोड़ा कम ध्यान करें । सब आदमी नेकचलन होकर खुदा, ईश्वर के प्यारे हो जायँ—इसकी फिक्र ज्यादा रखें । मेरी उठक बैठक की ही नक़ल सब करें—इसकी कम । अगर मुबल्लिग़ और प्रचारक लोग ऐसा अमल करें तो यह सब झगड़े जो आज बरपा हैं दूर हो जायँ । हिन्दुस्तान में दुनिया के सब मजहब मौजूद हैं । अगर यहाँ मजहबी मेल का नमूना क़ायम हो जाय तो सारी दुनिया में इसका असर फैले । और प्राय झगड़ा भी सिर्फ हिन्दुओं और मुसलमानों में ही देख पड़ता है । यह झगड़ा तभी दूर होगा जब अपने और दूसरे दोनों मजहबों की असलियत को पहचानें, एक दूसरे के गुणों को, खूबियों को, ज्यादा देखें, दोषों को, नुक्सों को, कम, और एक दूसरे को जो कुछ कहें सुनें, समझें समझावें, वह शाइस्तगी (शिष्टता) से ।

ज्यादती हर बात में बचाना चाहिये । धर्म मजहब की भी । इसमें भी जोश और जोम का दमदमा सच्चे धर्म मजहब

के खिलाफ है। कुरान में कहा है—"ला तुम्सदू इन्ना अल्लाहा ला योहिब्बुल मोतदीन", यानी हद से ज्यादा बढ़नेवालों से अल्ला परमात्मा मुहब्बत नहीं करता। यही अर्थ संस्कृत में भी कहा है,—"आश्रयेन् मध्यमा वृत्ति अति सर्वत्र वर्जयेत्" यानी बीच का रास्ता पकड़ो, और अति किसी काम में मत करो। हर आदमी को मुनासिब है कि अपने माँ बाप की, अपने अवतार मसीह रसूल की, इज्जत करे, पर यह मुनासिब नहीं कि कोई किसी से कहे कि तुम भी मेरे ही माँ बाप को इज्जत करो, अपने माँ बाप को नहीं। हाँ, जो सब का अव्वल माँ बाप, परमपितामह, अल्ला, परमात्मा, गाड के नामों से, और रूह चेतना के रूप से, हर आदमी के भीतर बैठा है उसका पूजा दिल से सभी को करना चाहिये।

कौन जिम्मेदार ?

इसकी जिम्मादारी, कि इस तरह पर अमल हो, धर्माचार्यों और मजहबी पेशवाओं पर है। उनको चाहिये कि मुँह देखी बात न कहें, झूठा बदनामी को न डरें, झूठी नेकनामी और वाहवाही को लालच न करें। धन दौलत, ऐश आराम, ऐश्वर्य हुकूमत का लोभ छोड़े। आदर सम्मान इज्जत पर सबोर करे। अपनी अपनी उम्मतों को (अनुयायिवर्गों को) सच्ची सलाह दे। यह न कहें कि अभी लोग तैयार नहीं हैं, जमाना नहीं है। बुद्ध और मूसा, शंकर और रामानुज, ईसा और मुहम्मद, कबीर और नानक, ने जमाने का इन्तिजार नहीं किया, लोगों के तैयार हो जाने

का आसरा नहीं देखा, बल्कि अपनी रूह, अपने इल्हाम, अपने आवेश, के जोर से लोगों को तैयार किया और जमाने को बनाया। युगप्रवर्तक, कालकारक, अबु उल्-वक्त, हुए, प्रवाह-पतित, कालकृत, इब्नुल् उल् वक्त नहीं। और मजहबी पेशवाओं और धर्माचार्यों से भी एक मानी में ज्यादा जिम्मादारी जनता (अवाम) पर है। नौकर जब हाकिम और शाह बन गये, राष्ट्रप्रबन्ध (मुल्की इन्तिजाम) की जगह नौकरशाही हो गई, तो प्रजा को ही उसको फिर से दुरुस्त करने की फिक्र करनी पड़ी। प्रजा ही ने उन मुन्तजिमों (अधिकारियों) को मुकर्रर (नियुक्त) किया था जो अब बिगड़ गये। अब प्रजा ही को उन्हें फिर अपने वश (काबू) में लाना है। इसके लिये प्रजा को अपनी बुजुर्गी (गुरुता, गौरव, बड़प्पन) पहिचानना चाहिये। तभी नौकर भी उसकी बुजुर्गी मानेंगे। यही हालत (अवस्था) धर्म और मजहब की है। अपने को पहिचानिये, अपनी रूह को जानिये मजहबी स्वराज हासिल कीजिये। यह बहुत सहज भी है, और निहायत मुश्किल भी है। पच्छिम से पूरब की ओर, बाहर से भीतर की ओर, आँख फेरने की बात है।

आदमी आप सब मजहबों से बड़ा है।

इस सभा में सभी मजहबों के मानने वाले मौजूद हैं। हर एक को अधिकार (इख्तियार) है कि अपने मजहब को, अपने धर्म को, जब चाहे उतार दे, और जिस दूसरे मजहब-धर्म को चाहे ओढ़ ले, जैसे ही एक कपड़े को उतार कर दूसरे को पहिन

सकता है। इस छोटी सी बात पर आप लोग खूब गौर (ध्यान) कीजिये। बात सीधी है, प्रत्यक्ष है, आँख के सामने है, इसमें किसी दलील की जरूरत ही नहीं। इसकी तरदीद, इसका खण्डन, हो ही नहीं सकता। कैसे हो ? रोज हम लोग देखते ही हैं कि कितने ही आदमी एक धर्म छोड़ कर दूसरा धर्म उठा लेते हैं। तबलीग और प्रचार के मानी यही हैं कि लोग एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को उठा लें। पर इस बात का असली नतीजा क्या निकलता है उस पर गौर कीजिये, इसका अच्छा नतीजा यही निकलता है कि सब मजहबों और धर्मों से आदमी की रूह (आत्मा) बड़ी है, वही रूह इन सब मजहबों के बीच में तजवीज (निर्णय) करती है, कि कौन ज्यादा अच्छा और कौन कम अच्छा, किसको लेना चाहिये किसको छोड़ना चाहिये। सब पोथियाँ, वेद, जिंद अवस्ता, इंजील, तौरेत, कुरान त्रिपिटक, गुरुग्रन्थसाहब, इत्यादि तथा सब मजहबी पथप्रदर्शक (रहनुमा), अवतार, ऋषि, मुनि, रसूल, पैगम्बर, मसीह, नबी, सभी आप से दर्खास्त (प्रार्थना) करते हैं कि मुझको मानो मुझको मानो। आप जिसको चाहते हो मानते हो, नहीं चाहते तो नहीं मानते और अलग, दूर हटा देते हो। इससे बढ़के क्या ज्यादा सरीही सबूत (प्रत्यक्ष प्रमाण) चाहिये कि आदमी का रूह इन सभों से बड़ी है ? इस्लाम में बहत्तर और सनातन धर्म में बहत्तर सौ फिरके जो पैदा हो गये हैं वे भी, खराबी करते हुए भी, इसी इन्सानी रूह की बुजुर्गी, बड़प्पन, के सुबूत हैं, कि आदमियों ने ही मनमाना मजहबों की शकल वक्तन् वक्तन् (समय समय पर)

बदल डाला । जैसा सूफियों ने कहा है,

है अपने सीने में उससे जायद जो बात बायज किताब
मसहफि दिल् बीं कि किताबे बेह् अज ई नेस्त ।

अर्थात्, अपने दिल (हृदय) के कुरान—वेद को देखो, इससे बढ़ कर कोई किताब (पुस्तक) नहीं है ।

आत्मैव देवता सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

आत्मा ही सब देवता है, सब कुछ आत्मा में, अपने में, अपने दिल में, भरा पड़ा है ।

दर हकीकत खुद तु ई उम्मुल किताब ।
खुद जि खुद आयाति खुद रा बाज याब ॥

नितरा सत्य यह है कि तुम आपही कुरान की माँ, वेद-माता, हो । अपने विषय की, आत्मा के विषय की, आयतें (ऋचा) अपने आपे में से ढूंढ निकालो ।

ऐसी सब दलीलों (युक्तियों, हेतुओं) का निचोड़, सूफियों ने कुछ शेरों (श्लोकों) में रख दिया है ।

जाँ कि उस्ता रा शिनासा खुद तु ई,
जुम्ल उस्ता रा खुद उस्ता हम् तु ई ।
चूँ हकीकत रा मुहक्किक् खुद तु ई,
ऐन हक ईनस्त ऐनुल् हक तु ई ।
हस्तिये रब रा मुजव्विज चूँ तु ई,
बिल् यकीन् अल्लाहु अकबर खुद तु ई ।

संस्कृत में इस भाव को यों कह सकते हैं,—

गुरोर्योग्यत्वविज्ञाता त्वं, ततोऽसि गुरोर्गुरु ।
सत्यासत्यविनिश्चेता त्वं, ततोऽसि सतोऽपि सत् ।
ईश्वरास्तित्वनिर्णेता त्वं, ततोऽसि परेश्वरः ।

अर्थात्, उस्ताद (गुरु) की योग्यता (लियाक़त) पहिचानने वाले, यह आदमी गुरु मानने योग्य है या नहीं है इसका विवेक करने वाले, तो तुम ही हौ, जिसको चाहते हौ उसको अपना गुरु बना लेते हो, इसलिये नितरां तुम ही सब गुरुओं के गुरु हो । यह सत्य है, यह असत्य है, ऐसा निश्चय करने वाले तुम ही हौ, जिस बात को चाहो सच मान लो, अर्थात् सच कर दो, सच बना दो, इसलिये सत् के भी सत्, सत्ता के हृदय, सत्ता के सार, सत्ता के कर्त्ता हर्त्ता, धाता विधाता, तुम ही हौ । ईश्वर है या नहीं है, जीव से, संसार से, भिन्न, इनका बनाने, बसाने, बिगाड़ने वाला कोई दूसरा ईशिता है या नहीं है, इसका निर्णय करने वाली तुम्हारी ही रूह, तुम्हारी ही बुद्धि आत्मा है, तुम ही हौ, इसलिये तुम स्वयं परम-ईश्वर, परम-आत्मा हौ ।

तो इस रूह (आत्मा) को ही पकड़ना चाहिये । इसके बल से हम सबको चाहिये कि अपने अपने मज़हबों में, सामाजिक दस्तूरों में, देश के बंदोबस्त में, धर्मनीति, आचारनीति, राजनीति में, जो ख़राबियां आ गई हैं उनको दूर कर दें । यह मत कहिये कि यह तो धर्म मज़हब की बात है, इसमें बोलने का काम नहीं । जब आपकी रूह को, आपके "स्व" को, यह ताक़त (शक्ति) है कि एक मज़हब को बिल्कुल छोड़ दे और दूसरे को बिल्कुल ओढ़ ले, तो क्या यह ताक़त

नहीं है कि मौजूदा मजहब को जरूरत के मुताबिक घटा बढ़ाकर दुरुस्त कर ले ? और बिना ऐसे घटाये बढ़ाये, फिर्के और सम्प्रदाय बने कैसे ? यही सब ताकत रखनेवाली रूह असली "स्व" है। हदीस में इसीलिये कहा है कि जिसने अपने को पहिचाना उसने खुदा को पहिचाना—"मन् अरफा नफ्सहू फ क़द् अरफा रब्बहू"। जब इस रूह को, जो खुदा का नूर है, हम लोग पहिचानेंगे, तभी मजहबी झगड़े मिटेंगे और मजहबी स्वराज मिलेगा। और तभी राजनीतिक, सियासती, सच्चे स्व-राज को भी शक्ल हम पहिचानेंगे, और तभी वह स्वराज भी हमको मिलेगा। बिना इस सच्चे "स्व" को, अपने को, फिर से पहिचाने, हिन्दुस्तानी कौम में बुजुर्गी वापस नहीं आवेगी। एक महात्मा गान्धी से इस बत्तीस करोर के जत्थे का काम नहीं चलेगा। इस भारी गरोह में सच्ची रूह डालने के लिये, चन्दरोजा जोशाजोशी पैदा करने के लिये नहीं, बल्कि सच्ची रूहानियत, (आध्यात्मिकता, अध्यात्म-भाव) पैदा करने के लिये हर एक जिले और हर एक शहर और कस्बे में हमको ऐसे आदमी चाहिये जो महात्माजी के ठीक ऐसे नहीं तो उनके करीब तो होवे। और ऐसे बुजुर्ग तभी होंगे जब सब मजहबों के असली मुश्तरका उसूलों की, (मुख्य समान सिद्धान्तों को), तरफ सबका ध्यान दिलाया जायगा। क़ुरान में कहा है "कुल तआलौ एला कलेमतिन् सवाइम् बैनना व बैनकुम", सब लोग उस एक बात की तरफ आओ जो हमारे और तुम्हारे दर्मियान एक है। वेद में कहा है "सङ्गच्छध्वम् संवदध्वम् सं वो मनांसि जानताम्", सब लोग

एक साथ चलो, एक बात बोलो, एक ज्ञान जानो, एक मञ्च "स्व" का पहिचानो। यही सबसे ज्यादा जरूरी और पुरअसर अर्थात् प्रभावशाली उपाय है जिससे सच्चा और मजबूत स्वराज, धार्मिक भी, और राष्ट्रीय भी, हासिल (प्राप्त) होगा और कायम (स्थिर) रहेगा।

तफ़्का दर रूहि हैवानी बुवद ।
रूहि-वाहिद रूहि-इन्सानी बुवद ॥
(मौलाना रूम)

भेद बुद्धि पशु की अवस्था के जीव का लक्षण है। अभेद-बुद्धि, मनुष्यता का।

रूह् या अक्ल ओ इल्म दानद् जीस्त।
रूह रा पारसी व ताजो (मुसलिम व हिन्दू) नीस्त॥
(सनाई)

जीवात्मा का, जीवन का अनुभव, बुद्धि और विद्या से होता है। रूह को फारसीपन या अरबीपन (या मुस्लिम पन या हिंदूपन) से मतलब नहीं।

मोकूँ कहाँ तू खोजै बंदे, मैं तो तेरे पास।
नहिं मंदिर में, नहिं मस्जिद में, मैं आतम विश्वास॥
(कबीर)

कह नानक बिनु आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई।
(नानक)

तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचानें।
(तुलसी)

हूदनेहार नू हूढ सौंतूँ
पया परत दे घर दा रस तैं नूँ।
कहीं तू ही न होवे यार सत्र दा
फिरे ढूँढता जगलों बिच जिन्नूँ ॥
(बुल्ला शाह)

ऐ कौम । व हज रफ्ता ! कुजा एद, कुजा एद !
माशूक हमीं जास्त, बिआयेद, बिआयेद !
माशूकि तो हमसाय तो, दीवार ब दीवार,
दर वादिया मरगश्ता चिरा एद, चिरा एद ।
(शम्स तब्रेज)

(हे जे हज को हौ चल । लौटि आव । फिरि आव ।
प्यारो तुमरो तौ यहीं, तुम इत उत कित जाव ?
मीत । सँटो तुव मीत वे वाके घर की भीत ।
मरु जङ्गल भटकत फिरत क्यों भूले भरमाव ?)

दिल तवाफि दिलों कुन् कि काबए-मखफीस्त ।
के आँ खलील बिना कर्द व ई खुदा खुद सास्त ॥

(दिल ! फेरो करु आपनों, अरु काया को नाहिं ।
तोहिं रच्यौ परमातमा, अरु खलील तौ ताहि ।
साँचो काबा है तुही, क्यों खोजै तु याहि ॥)

शिवमात्मनि पश्यति, प्रतिमासु न योगिन ।
आत्मस्थं ये न पश्यंति तीर्थे मार्गति ते शिवम् ॥
(शिव पुराण)

आत्मानंद' आत्मरति', आत्मक्रीड, आत्मतृप्त, स स्वराड् भवति। (छांदोग्य)

सच्चे आत्मा को पहिचानो, आत्मगौरव, आत्मसम्मान, अपने में लाओ, इसीसे झूठे कृत्रिम बनावटी धर्म-मजहबों के बंधन और झगडे भी छूटेंगे, और अन्यायी परराज के भी क्लेश दूर होंगे, और सच्चा स्वराज, आध्यात्मिक भी और राजनीतिक भी, मिलेगा।

॥ ॐ आमीं एमेन् ॥

प्रणव की एक पुरानी कहानी ।

[संवत् १९६४ (सन् १९०७) में, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन में, श्री भगवान्दास ने यह भाषण किया ।]

कथा भाग ।

संवत् १९५४, सन् १८९६-१८९७ ई०, के शीत ऋतु में, मुझको नारावंकी के शहर में, (जहाँ मैं गवर्मेंट की नौकर के संबंध से गया हुआ था) अपने मित्र पंडित परमेश्वरीदास जी वकील के घर पर, एक पण्डित मिले। नाम उनका धनराज था। मैंने सुना कि बचपन में ही उनकी दोनों आँखें शीतला के रोग में जाती रहीं, पर धारणा शक्ति अद्भुत है, और बहुत से प्राचीन और बहुमूल्य ग्रन्थ उनको कण्ठस्थ हैं। उनसे बातचीत करने पर मेरा मन उनकी ओर बढ़ा।

उनका कहना था कि जिन बातों के केवल पूछने ही से, आधुनिक पंडित-समाज में, मनुष्य नास्तिक और भ्रष्ट समझा जाता है, उन सबका उत्तर विस्तार पूर्वक इन प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है। उदाहरण के लिये कहा कि बाल्यावस्था में मैंने जब गुरुजी से पूछा कि गुरुजी, पाणिनि के व्याकरण में माहेश्वर सूत्र चौदही क्यों हैं, पन्द्रह अथवा तेरह क्यों नहीं हैं, अथवा अइउण् पहिले क्यों हैं, ऋलृक् पहिले क्यों नहीं है, अथवा पहिले सूत्र के अंत में इत् ण् क्यों है, क् क्यों

नहीं, तो इन सब प्रश्नों के उत्तर के स्थान में मारपीट ही पाई। पीछे उनको किसी घूमते फिरते संन्यासी ने, लड़के की बुद्धि अच्छी देख के, पता दिया कि यदि तुमको इन बातों की रुचि है तो ऐसे स्थान में ऐसे पण्डित के पास असल माहेश्वर सूत्र, बीस हजार, और नारदीय भाष्य, साठ पैंसठ हजार, ग्रन्थ संख्या के हैं, उन पण्डित के पास जाकर पढ़ो। इस प्रथा का एक श्लोक अब तक बाजार में भी सुन पड़ता है—

यान्युज्जहार माहेशाद् व्यासो व्याकरणार्णवात।
तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे॥

नेत्रहीन लड़का एक और लड़के के साथ बाप के घर से भागकर वहाँ पहुँचा। उसको अधिकारी जानकर पण्डित ने उसका आदर किया और ग्रन्थ पढ़ाया। उसने उसको कण्ठ में रख लिया। और तो कोई स्थान रखने का उसके पास था ही नहीं। एक पण्डित के घर से दूसरे पण्डित के यहाँ के गुप्त प्राचीन ग्रन्थों का पता लगाकर, और खोज खोज कर, इन अमूल्य रत्नों को अपने स्मृति के भंडार में वह संचय करता रहा। कई लक्ष श्लोक उसने कण्ठस्थ कर लिये।

यह सब आलोदत उन्हीं नेत्रहीन पण्डित ने मुझसे कहा। इसमें कितना अंश सत्य है, कितना नहीं, इसके निर्णय के लिये मेरे पास कोई स्वतन्त्र निश्चायक प्रमाण नहीं।

चिपत्र प्रवेश।

ऐसा सुनके मैंने उनसे पूछा कि किसी प्राचीन ग्रन्थ में आपको ब्रह्म पदार्थ का निरूपण इन शब्दों में भी मिला है,

अर्थात "अह एतत् न"—"मैं यह नहीं"? कुछ देर वे चुप रहे, फिर बोले, हाँ, इन्हीं अक्षरों से ब्रह्म का निरूपण गार्ग्यायण ऋषिकृत "प्रणववाद" नाम के ग्रन्थ में किया गया है। और कुछ अंश गद्यपद्यमय उन्होंने पढ़ के मुझको सुनाया। उस समय तो वह सब वाक्य मेरी समझ में नहीं आये। यद्यपि संस्कृत-ऐसे जान पड़ते थ, पर संस्कृत कुछ विशेष प्रकार की थी। हां, ये तीन शब्द "अहम्—एतत्—न" उस अंश अवश्य पहिचान पडे, जैसे दूर से गहन अन्धकार में दीपक देख पड़ता है। इससे मेरी इच्छा उस ग्रन्थ को आद्योपान्त सुनने की बढ़ी। पर धारार्वकी से मुझे दूसरे स्थान को शीघ्र ही जाना हुआ और पण्डित धनराज भी अपने घर को जो बस्ती के जिले में, तहसील खलीलाबाद, डाकखाना मेंहदावल, मौजा बेलहर कलाँ में (उनके कथनानुसार) था, चले गये। तीन वर्ष पीछे जब मैं गवर्मेंट की नोकरी छोड़कर, सेंट्रल हिंदू कालेज के कार्य में यथाशक्ति सहायता करने के लिये बनारस आया, तब फिर उनसे संवत् १९५७ (१९००ई०) में समागम हुआ। मैं ने उनको पण्डित परमेश्वरीदास जी के यहाँ से बुला कर अपने पास काशी में पाँच महीने रक्खा। और इस समय में क्रमशः मैंने, तथा पण्डित गंगानाथ झा ने, जो अब प्रयाग में म्योर कालज में संस्कृत के प्रोफेसर हैं, और पण्डित अम्बादास शास्त्री ने, प्रणववाद ग्रन्थ, १६००० श्लोक संख्यात्मक, गद्य-पद्यमय, उन नेत्रहीन पण्डित के मुखोधार से लिख लिया। इसी ग्रन्थ का हाल आपसे कहता हूँ।

इस ग्रन्थ में यह विस्तार से कहा है कि प्रणव के जो तीन

अक्षर हैं, अ, उ, और म, उनका अर्थ अहम्, एतत्, और न—यही है, और इन तीन का समाहार ही ब्रह्म का स्वरूप है।

अब आप लोग इस चिंता में होंगे कि "अहम्-एतत्-न" यह क्या रहस्य है, और प्रणव के अति पवित्र माने हुए शब्द में इस अर्थ को पहिना देने का क्या फल है। "हिन्दू" मात्र के कान में और मुँह में यह बात है कि सारे संसार का सार वेद है, और वेद का सार गायत्री, और उसका भी सार और मूलबीज प्रणव है। प्रणव ही से वेद की और वेद से संसार की, उत्पत्ति है। पर इस प्रथा का अर्थ क्या है, प्रणव से वेद और वेद से संसार कैसे निकलता है, इस प्रश्न का उत्तर प्रचलित शास्त्र-ग्रन्थों और उनके शास्त्रियों से नहीं मिलता। यह सब उत्तर उस प्राचीन ग्रन्थ में मिलता है, यह मैं आपको दिखाने का यत्न करूँगा।

अपना अनुभव।

पर इसके पहिले आपको यह बताना उचित है कि मैं किन विचारों के मार्ग से इस महावाक्य, 'अहम्-एतत्-न" के पास, पूर्व संस्कारों से प्रेरित होकर, संवत् १९४४ में पहुँचा। क्योंकि प्रणववाद ग्रन्थ में यह अंश, साधनिका का, जिज्ञासु के इस महावाक्य तक क्रमशः पहुँचने का, नहीं कहा है। प्रत्युत, यह महावाक्य सिद्धवत् मान लिया गया है, और संसार में, तथा विविध शास्त्रों में, इसके भाव की व्याप्ति का व्याख्यान किया है। बिना इस पूर्वाङ्ग के, इस साधनिका के, जाने, प्रणववाद ग्रन्थ का सब विषय प्रायः अस्पष्ट और

दुरूह रह जायगा। इसलिये मैं आपका निमन्त्रण करता हू कि थोड़ी देर के लिये आप मेरे साथ इस विचार मार्ग पर चलिये।

जिज्ञासु से ही कहना।

यहाँ ऐसी शंका हो सकती है कि पुरानी मर्यादा है, "नापृष्ट कस्यचिद् ब्रूयात्", जब तक कोई पूछे नहीं तब तक कुछ कहना नहीं, विशेष करके अध्यात्म विषय में। जिसको भूख नहीं उससे खाने के लिये निर्बंध करना स्पष्ट ही अनुचित है। फिर मैं आपको ऐसा निमन्त्रण उलटा क्यों देता हूँ ? तो ऐसा नहीं। मैं प्राचीन मर्यादा का पालन ही कर रहा हूँ ? क्योंकि मर्यादा नितरां हेतुयुक्त है। जिसको भूख नहीं उसको भोजन देना अनुचित है, हानिकारक है। जिसको सुनने की इच्छा नहीं उसको सुनाना दोषकर ही है। पर नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों ने मुझे प्रस्तुत विषय पर कहने का निमन्त्रण दिया, और आप लोग यहाँ पधारे हो, इसीसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप सब सुनना चाहते हो। और इसी हेतु से मुझे भी उत्साह होता है कि मैं आपको प्रतिनिमन्त्रण दू कि आप सुनिये और मेरे साथ इस विचार मार्ग पर चलिये। इस मार्ग पर पहिला पदपात यह है,

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

(सांख्य कारिका)

अंतिम प्रश्न।

अनन्त जीवों की अनन्त इच्छा एक मात्र यही है कि

सुख हो और दु:ख न हो। इन अनन्त जीवों ने सुख दु:ख भी अनन्त प्रकार के मान रक्खे हैं, और इस कारण से उपाय और चेष्टा भी अनन्त प्रकार की करते हैं। पर अनुगम करने से सब सुखों का मूलस्वरूप एक, और सब दु:खों का भी मूल स्वरूप एक, ही जान पड़ता है। "मैं", "अहम्", आत्मा, की वृद्धि—यही सुख का स्वरूप है। इसकी हानि—इसकी सत्ता की कमी—यही एक दु:ख का स्वरूप है। कारण भी इसका स्पष्ट है। यद्यपि उपाधि के भेद से जीव अनन्त है, पर मूलस्वरूप सबका भी एक "मैं" ही है। इसी कारण से मनु ने कहा है।

सर्वं परवशं दु:खं सर्वमात्मवशं सुखं।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदु:खयो॥

उपनिषदों में भी कहा है, "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति," "आत्मा वै प्रेष्ठः प्रेष्ठः"। आमन्त्रितो अहम् अयम् इत्येवाग्रे उक्त्वा अथ अन्यत् नाम प्रब्रूते यद् अस्य भवति। (वृ० आ०)

जहाँ जहाँ अपनापन है, अपना वश चलता है, अपनी हुकूमत है, वहाँ सुख है। जहाँ जहाँ परायापन, परतन्त्रता, दूसरे की हुकूमत है, वहाँ वहाँ दु:ख है। "मैं" के ही लिये जो कुछ भी प्रिय है वह प्रिय है। "मैं" ही सबसे श्रेष्ठ भी है, प्रेष्ठ (प्रियतम) भी है। जीव अपने को जैसा भी मान ले उसी प्रकार के अहं की वृद्धि और ह्रास से उस काल में उसको सुख और दु:ख होता है। यदि अपने को बलवान्, या रूपवान् या यशस्वी, या धनी मान लिया है तो धन, या रूप, या यश,

या धन की वृद्धि हानि से उसको सुख दु ख होता है। यदि प्रतिष्ठा मे उसका अहभाव, अहकार, है, तो प्रतिष्ठा के वृद्धि-ह्रास से सुख दु ख होता है। यदि कीड़ा अथवा पशु अथवा पक्षी बना है तो उसी कीटता पशुता और पक्षिता की वृद्धि हानि में वह सुख दु ख का अनुभव करता है। यदि वह विषय भोगी है तो विषयिता की वृद्धि हानि से। यदि तपस्वी है, या विद्यानुरागी है, तो तपस्विता या विद्वत्ता की वृद्धि हानि में वह सुख दु ख मानता है। यदि मनुष्य या राजा या देवता है तो मनुष्यत्व की या राजत्व की या देवत्व की सामग्री की वृद्धि और हानि से सुख और दु ख भोगता है। यदि ब्रह्माड का अधिपति, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, आदि, है तो ब्रह्मत्व, विष्णुत्व, शिवत्व, आदि के वृद्धि ह्रास में। यदि स्त्री है तो स्त्रीत्व, पुरुष तो पुरुषत्व, के। अर्थात जिस बात का अहकार है, जिसमें "अहता" (और उसीका किंचित मृदु वा तरल आकार "ममता") है उसी अह (और मम) के पोषण से सुख और शोषण स दु ख पाता है।

अब सबसे बड़ी परतन्त्रता मृत्यु की है इससे कोई भी बचा नहीं है। राम ने वसिष्ठ से पूछा—

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् ह्रियते हरिरप्यज ।

भवोऽप्यभावमायाति का धास्था मादृशे जने ॥(यो० वा०)

परमेष्ठी ब्रह्मा भी, अज हरि विष्णु भी, भव शिव महादेव भी, काल स लुप्त हो जाते हैं, तो मेरा ऐसा क्षुद्र जीव कैसे धीरज धरे?

व्यास ऐसे पिता ने शुक्र ऐसे पुत्र को यही उपदेश दिया—

किं ते धनेन किमु बन्धुभिर्वा ते
किं ते दारैं पुत्रक यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहा प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गत पिता च ॥

हे पुत्र ! पत्नी, पुत्र, बन्धु, धन दौलत, कोई भी मौत के आगे काम न आयेंगे । (हृदय—) गुहा के भीतर छिपे हुए आत्मा की खोज करो । पता लगाओ कि पिता पितामह कहा से आये, कहा हैं, कहाँ गये, कहाँ जायगे । आत्मा का पता लगाने से सबका पता लग जायगा ।

नचिकेता ने यम से यही वर माँगा—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीय ॥

मनुष्य मर जाता है। देखने वालों को संदेह होता है कि जीव बचा है कि नहीं। इसका रहस्य बताओ। सच क्या है ? जीव, आत्मा, अमर है या नहीं ? यम ने धन दौलत, महाराज्य, साम्राज्य, रूप रंग, सुन्दर स्त्री पुत्र, अति दीर्घ आयु आदि की लालच बहुत दी। पर लड़के ने यही कहा कि जब तुम मृत्यु के स्वरूप से सामने आ खड़े होगे तब ये सब किस काम आवेंगे ? इसलिये यह परम रहस्य ही बताओ, यही मेरा अन्तिम वरण है, यही सबसे अधिक चाहता माँगता हूँ ।

यदि मौत के भय से छूटे तो जीव सब परतन्त्रता से

छूटे, और तभी उसकी आत्मवशता और सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हो। तब यह कह सके कि मैं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी हूँ। तभी इसको परमानन्द हो। "भूमा वै सुखम्।" तभी आत्मा की, अहम् की, "मैं" की, भूमा अर्थात् बहुता, बड़प्पन, सिद्ध हो। "नाल्पे वै सुखमस्ति", आत्मा के छोटेपन में सुख नहीं, जब तक आत्मा अपने को छोटा, किसी से भी छोटा, किसी के भी अधीन, किसी के भी परवश, किसी प्रकार से भी मृत्यु के वश, समझता है, तब तक सुखी नहीं।

विचार सोपान।

इस मौत के भय से छूटने के लिये बड़े बड़े विचार मनुष्यों ने किये। एक सर्वस्रष्टा परमेश्वर को माना। आरम्भ वाद में विश्वास किया। परमेश्वर की भक्ति से अमरत्व मिलेगा। भक्ति शास्त्र बने। न्याय वैशेषिक दर्शन बना। इससे सन्तोष नहीं हुआ। महा पराधीनता तो बनी ही रही। यदि परमेश्वर रुष्ट हो जाय तब क्या होगा? यदि भक्तिप्रदर्शन से, स्तुति से, वंदना से, अनवरत सेवकता, दासता, गुलामी से, चित्त में कभी ग्लानि उत्पन्न हो, और परमेश्वर की इच्छा के प्रतिकूल कोई बात अपने से होजाय, तब तो अमरता गई? और भी। यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वकल्याणमय है, तो फिर उसके बनाये संसार में इतना दुःख, इतना पाप, क्या? क्या परमेश्वर भी विषम है, असमदर्शी, पक्षपाती, दुजायगी करने वाला, एक को सुख और बहुतों को बहुत दुःख जान बूझ कर देने वाला, क्रूर और निर्घृण है? ऐसी असमाधेय शंकाएं उठीं। नास्तिक दर्शन

बने। सांख्य योग बने। पुरुष और प्रकृति दो अनन्त अनादि पदार्थ माने गये। परिणामवाद चला। इससे भी सन्तोष न हुआ। मतलब तो सदा यही रहा कि एक ही पदार्थ हो, दूसरा न हो, और वह एक पदार्थ स्वयं अहम् आत्मा "मैं" हो, कि दूसरे का भय न हो, सब तो स्वतन्त्रता सिद्ध हो। यह अभिप्राय तो सिद्ध नहीं हुआ। और दो अनन्त कैसे? आपस में टकरायेंगे नहीं? "द्वितीयाद् वै भयं भवति।" इन जोर शंकाओं ने फिर जिज्ञासु को आगे बढ़ाने को धक्का दिया। मायावाद, अविद्यावाद अध्यासवाद, आभासवाद, विवर्तवाद, चला। वेदान्त दर्शन बना। एक आत्मा और उसकी ही माया में उसी को अनन्त उपाधि और अनन्त सुख दुःख का मिथ्या जञ्जाल, और वह एक आत्मा मृत्यु से परे। पुरुष और प्रकृति नहीं, असंख्य पुरुष और एक प्रकृति नहीं, किन्तु पुरुष की प्रकृति, एक पुरुष परमात्मा की अनन्त प्रकृति, माया, शक्ति।

यहाँ तक तो वेदान्त दर्शन आया, और बहुत दूर आया। संसार के दो विभाग कर डाले, एक "मैं", विषयी, और एक "यह" सब कुछ जो मैं से अन्य है, विषय है, इतर है, अन्यत है, आत्मा का विवर्त है, विरुद्ध है, उलटा है, आभास मात्र है, अहं पर, आत्मा पर, अध्यस्त है अध्यारोपित है। और यह कहा कि "मैं" ही तो सच है, और "यह" सब कुछ मिथ्या है। पर शङ्का फिर भी रह गई। "यह" कहाँ से आया, क्यों आया? "मैं" का और "यह' का संबन्ध मिथ्या ही सही, पर क्यों हुआ और कैसे हुआ? और यदि एक बेर हुआ तो फिर फिर क्यों नहीं होगा? क्या आशा कि इससे कभी पूरा

छुटकारा हो जायगा ? जो वेदान्त के महावाक्य प्रचलित हैं उनसे पूरा पूरा सन्तोष नहीं होता। कोई तो आत्मा को क्रियावान् सिद्ध करते हैं। "सोऽकामयत बहु स्या, प्रजायेय।" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्", इत्यादि। अर्थात्, उस एक अद्वितीय परमात्मा ने चाहा कि मैं जो अकेला हू सो बहुत हो जाऊ, मेरी बहुत सी प्रजा हो जायँ। और उसने शरीर रचा और उसी में स्वय प्रवेश किया।

कोई केवल निष्क्रिय सिद्ध करते हैं। "अहं ब्रह्मास्मि" "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि। अर्थात, मैं ब्रह्म हू, एक हूं, मैं ही हू, नाना अर्थात अनेक वस्तु, अनेकता, असत् है, है ही नहीं।

पर इन दोनों प्रकार के महावाक्यों से हमारा सन्तोष नहीं होता। हमको तो ऐसा वाक्य चाहिये कि जिसमें सारा ससार हमारी मुट्ठी मे बन्द हो जाय। ब्रह्म की, अर्थात "मैं" की, निष्क्रियता में भी विकार न आवे (क्योंकि यदि उसमें क्रिया पैदा हुई तो यह किसी न किसी कारण से परतन्त्र हो जायगा, और परिवर्तनशील होकर मौत के मुँह में भी पड़ सकेगा, "परिपूर्णस्यका स्पृहा"), और, साथ ही इसके, ससार की सक्रियता, जो प्रतिक्षण प्रत्यक्ष देख पड़ती है, यह भी समझ मे आजाय। मिथ्या शब्द का अर्थ केवल आँख बन्द करके निषेध ही का, अभाव ही का, न रह जाय, बल्कि ठीक ठीक समझ में आजाय।

यह बात "अहम् ब्रह्म" और "न इह नाना अस्ति किंचन" इन दोनों वाक्यों को एकत्र करने से सिद्ध होती है।" अहं (नाना, किंचन =) एतत्—न।"

शैल-शिखर-प्राप्ति।

"अहम्-एतत्-न"="मैं-यह-नहीं"। यह ऐसा महावाक्य है कि जिसमें दोनों बातें सिद्ध होती हैं। यदि इन तीनों पदार्थों को एक साथ लीजिये तो केवल एक एकाकार एकरस अखण्ड निष्क्रिय संवित् देख पड़ती है। "मैं-यह नहीं" इसमें कोई क्रिया विक्रिया नहीं है, कोई परिवर्त परिणमन नहीं है। केवल एक बात सदा के लिये कूटस्थवत् स्थिर है, अर्थात् केवल "मैं" है और "मैं" के सिवाय और कुछ नहीं है। अथ च "मैं" अपने सिवाय कोई अन्य वस्तु, अन्य पदार्थ, ऐसे ऐसे रूप रंग नाम आदि का, नहीं हूँ। यदि इस वाक्य के दो खण्ड कीजिये, पहिले "मैं-यह" और फिर "यह-नहीं" तो इसी वाक्य में संसार को सब कुछ किया, इसके सम्पूर्ण परिवर्त का तत्व, देख पड़ता है। "मैं यह-हूँ," यही जीवन का, जनन का, शरीरधारण का, स्वरूप है। "मैं-यह-नहीं-हूँ," यही मरण का शरीरत्याग का, स्वरूप है। क्रियामात्र का यही द्वन्द्व स्वरूप है। सब क्रिया जोड़ा जोड़ा चलती है—लेना और देना, पकड़ना और छोड़ना, बढ़ना और घटना, हँसना और रोना, जीना और मरना, उपाधि का ग्रहण करना और उसमें अहंकार करना और फिर उसको छोड़कर उससे विमुख होना, पहिले एक वस्तु में सुख मानना और उसी वस्तु में पीछे दुःख मानना। अध्यारोप और अपवाद, प्रवृत्ति और निवृत्ति, इन दो शब्दों में संसार का, व मरण का, तत्त्व सब कह दिया है। यदि सम्पूर्ण दृष्टि, समष्टि दृष्टि, परमार्थ दृष्टि, से देखिये, तो इस वाक्य में सम्पूर्ण संसार, अनादि

और अनन्त, सबकाल और सर्वदेश के लिये, निस्पंद, निष्क्रिय, शिला के ऐसा बन्द है। योगवासिष्ठ में महाशिलासत्ता का रूपक बांधा है। यदि खंड दृष्टि से, व्यष्टि दृष्टि से, व्यवहार दृष्टि से, देखिये तो इसमें क्रिया और क्रम है। रामायण की पोथी समग्र यदि हाथ में उठा लीजिये तो राम का जीवन वृत्तान्त सम्पूर्ण इसमें प्रतिक्षण मौजूद है। यदि एक एक पन्ना देखिये तो क्रम पैदा होता है। वैसी ही इस वाक्य की दशा है। यदि इसको समग्र उठा लीजिये तो सब संसार "सर्वं सर्वत्र सर्वदा" इसमें है। यदि एक एक "यह" को लीजिये तो अनन्त क्रम पैदा हो रहा है।

इसकी बारीकियों के विस्तार से विचार करने का यहाँ अवसर नहीं। यह सब सूक्ष्म परीक्षा निरीक्षा समीक्षा मैं ने "दि सायंस आफ् पीस्" और "दि सायंस आफ् दि इमोशन्स" (अर्थात् "शांति शास्त्र" और "क्षोभ शास्त्र") नाम के दो ग्रंथों मे (अंग्रेजी भाषा में) यथा शक्ति विस्तार से लिखने का यत्न किया है। अंग्रेजी में लिखने की समापत्ति कैसे हुई, यह मैंने उक्त दूसरे ग्रंथ की भूमिका में कहा है। आप सरीखे विज्ञजनों की रुचि इस ओर देखकर आज हिंदी में कुछ कहने का मुझे सौभाग्य और उत्साह प्राप्त हुआ है। यदि ऐसी अभिरुचि बनी रही तो हिंदी में और भी कहने लिखने का साहस करूँगा। इस स्थान पर केवल इतना ही कहके आगे चलता हूँ कि जो जो दार्शनिक मत इस समय प्रचलित हैं उन सबका तत्त्व इस वाक्य में मौजूद है। उन सबके विरोध का परिहार और सर्वसमन्वय का मार्मिक

रहस्य भी इसमें है। और जो जो कमी इनमें से एक एक में है वह सब इसमें पूरी हो जाती है। द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय, स्रष्टा और सृष्य, कर्ता और कार्य, जीव और देह, चेता और जड़, आत्मा और अनात्मा, "मैं" और "यह", दोनों इसमें मौजूद हैं। इन दोनों का स्वरूप भी इसमें है, अर्थात् एक का सत् और दूसरे का असत्। इन दोनों का संबंध भी इसी में है, अर्थात् निषेधरूपी, और यह बात भी इसी से पैदा होती है कि जिस जिस वस्तु का निषेध, प्रतिषेध, अपलाप, अपवाद, निराकरण, निरास किया जाता है, उसका पहिले अभ्युपगम, अध्यारोप, विधान, संभावन, संकल्प, अध्यास कर लिया जाता है। पहिले यह माना जाता है कि उसका सम्भव है और तब उसकी वास्तवता का निषेध होता है। इसी से असत् पदार्थ पर सत्ता का मिथ्या आरोप देख पड़ता है।

मैं अपने विषय में तो यह कह सकता हूँ कि जबसे मेरे हृदय में इस त्रिपदात्मक महावाक्य और तद्‌ज्ञापित त्रिपदार्थसमाहारात्मक संवित् का उदय हुआ तब से मेरा बहुत सी शंका निवृत्त हुई, बहुतेरे सिद्धान्तविषयक सामान्य विषयक प्रश्नों का उत्तर मिला, (विशेष तो असंख्य हैं, असंख्य विशेषों का ज्ञान तो अनन्त काल, अनंत देश में, अनंत क्रियाओं से ही हो सकता है), सनातन-वैदिक-बौद्ध-आदि-मानव धर्म कैसे अध्यात्मविद्या से, ब्रह्मविद्या से, उत्पन्न हुआ, और कैसे उस पर प्रतिष्ठित निष्ठित है, यह बात कुछ कुछ समझ में आई, विरोधों के परिहार का, भेदों के समन्वय का, मूल-

सूत्र हाथ लगा, प्राचीन आप ग्रंथों में जो वाक्य और अर्थ नीहार से आच्छन्न थे उन पर कुछ कुछ आलोक पड़ा और मार्ग सूझने लगा। मेरे लिये तो यह वाक्य और संवित् अँधेरे में दीया-बत्ती हुए। और अंतरात्मा से, परमात्मा से, मेरी प्रार्थना है कि औरों को भी ऐसे ही होवें। जब से यह महामंत्र कहिये, महावाक्य कहिये, जिससे परमात्मा के, चैतन्य के, संवित् के, स्वभाव का, संसार के मूल नियम का, नियति का, व्यास्थापन होता है, मेरे मन में उदित हुआ, तभी से मुझको ऐसा भान होने लगा कि ये न हों प्रणव के तीन अक्षरों का यही अर्थ होगा। पर, निश्चय नहीं होता था। उपलब्ध ग्रंथों में इस अर्थ की चर्चा नहीं। प्रणववाद सुनने पर यह निश्चय हुआ।

प्रणव-वाद का विषय। महावाक्य।

इस वाक्य से जो फल उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन विस्तार से प्रणववाद में किया है। उन्हें थोड़े में मैं आपसे कहता हूँ।

प्रणव के तीन अक्षरों का अर्थ तीन शब्दों से किया गया और एक मूल महावाक्य निकला। "अ" का अर्थ "अहम्" (आत्मा), "उ" का अर्थ "एतत्" (अनहम्, अनात्मा), "म" का अर्थ "न" (निषेधात्मक सम्बन्ध)। आदि महावाक्य हुआ "अहम् एतन्न," जो परमात्मा अथवा ब्रह्म का स्वरूप और स्वभाव और प्रकार अर्थात संसार दिखाता है। इन तीन शब्दों के जोड़ तोड़ और उलट फेर से अवान्तर

महावाक्य निकलते हैं। एक एक महावाक्य संसार के एक एक विभाग और प्रकार का नियम या क़ानून है, उसीके अनुसार संसार का वह विभाग चलाया जाता है। जैसे आज काल के किसी राज्यप्रबन्ध में बीसियों अथवा पचासों मोगे और महकमें हैं, और हर एक मोगे और महकमे के चलाने के लिये सिद्धान्त और विधि विधान उसूल क़ायदे कानून, नियत हैं, और उन्हीं नियमों के अनुसार सरकारी नौकर उन विभागों का काम चलाते हैं तैसे ही एक एक महावाक्य एक एक ईश्वरी कानून की किताब का हृदय है, बीज है, मूल-मन्त्र है, और देवता और ऋषि और जीवन्मुक्त आदि जो उस उस विभाग के अधिकारी हैं, वे उन क़ानूनों को अमल में लाते हैं, और उनके अनुसार संसार का व्यवहार चलाते हैं।

एक शब्द "अदालत" कहने से सैकड़ों न्यायालय और हजारों कर्मचारी और लाखों वादी प्रतिवादी साक्षी दफ्तर और दफ्तर वालों की सूचना होती है। एक शब्द "माल" से एक बड़ा भारी प्रबन्ध देश भर की आमदनी-खर्च, आय-व्यय, आयात-निर्यात का आँख के सामने आ जाता है। एक एक शब्द सेना शिक्षा, वार्त्ता अर्थात् वाणिज्य-व्यापार, रोज़-गारी, कहने से देश के शासन और जीवन के एक एक बड़े खण्ड का सूचन और स्मरण हो जाता है। वैसा ही एक एक महावाक्य से संसार मात्र के एक एक विभाग का, "प्रकार" का, ज्ञान होता है और व्यवहार चलता है।

संसार प्रबंध के मूल नियम।

मुख्य प्रकार कौन कौन हैं? किन किन महावाक्यों से उनकी सूचना होती है? उनके अमल करनेवाले अधिकारी कौन कौन हैं? इसके निर्णय निश्चय के लिये उसी मूल महावाक्य पर ध्यान करना चाहिए। क्योंकि उसीसे, और उसी में, सब संसार की सृष्टि, स्थिति, और लय, होना उचित है। "अहम्" अर्थात् "मैं" आत्मा का स्वरूप है। "एतत्" अर्थात् "यह" अनात्मा का स्वरूप है। इन दोनों का सम्बन्ध निषेधरूप है। "मैं यह नहीं हूँ"—इस भावना, इस धारणा, इस संवित् को यदि क्रमदृष्टि से देखिये तो इसमें तीन बातें अवश्य निकलती हैं। पहिले तो "मैं" के सामने "यह" पदार्थ आता है। इस क्षण में ज्ञान होता है। इसके पीछे "मैं" और "यह" के संयोग वियोग का संभव होता है। यही इच्छा है। तीसरे क्षण में संयोग-वियोग होता है। यह क्रिया है। संयोग वियोग दोहरा शब्द इसलिये कहा जाता है कि पहिले संयोग होकर पीछे अवश्य वियोग होता है। पहिले राग पीछे द्वेष, पहिले प्रवृत्ति पीछे निवृत्ति, पहिले लेना पीछे देना, पहिले जन्म पीछे मरण, पुन जन्म पुन मरण, यही संसरण क्रिया है।

ज्ञान, इच्छा, क्रिया।

बस ये ही तीन बातें ज्ञान, इच्छा, और क्रिया, जीव मात्र और जीवनमात्र का मुख्य प्रकार क्या सर्वस्व हैं। प्रतिक्षण में प्रत्येक जीव इसी ज्ञान, इच्छा, क्रिया,

ज्ञान, इच्छा, क्रिया, के फेरे में फिरा करता है। पहिले ज्ञान, तब इच्छा, तब क्रिया। और क्रिया के बाद फिर ज्ञान, फिर इच्छा, फिर क्रिया। यह अनन्त चक्र सर्वदा चल रहा है।

प्रणव में अकार ज्ञान का सूचक है, उकार क्रिया का, और मकार सदसदात्मक विधिनिषेधात्मक इच्छा का। अहं-आत्मा-पुरुष अथवा प्रत्यगात्मा में जो इन तीन पदार्थों का बीज है उसको सत् चित्-और आनन्द के नाम से कहते हैं। अर्थात् ज्ञान चिदात्मक, क्रिया सदात्मक, और इच्छा आनन्दात्मक। तथा अनात्मा अर्थात् मूलप्रकृति में ये ही तीन पदार्थ सत्त्व ज्ञानात्मक, रजस् क्रियात्मक, और तमस् इच्छात्मक कहाते हैं। ये ही तीन प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सदा विद्यमान हैं। ब्रह्माण्ड में ज्ञान के अधिष्ठाता देवता का नाम विष्णु है। क्रिया के, ब्रह्मा। इच्छा के, शिव। ऐसे ब्रह्माण्ड अनन्त हैं और प्रति ब्रह्माण्ड में यह त्रिमूर्ति है। और त्रिमूर्ति के ऊपर और नीचे बराबर अनन्त शृंखला अधिकारियों की फैली है जैसे राज्य के प्रबन्ध में यामिक, चपरासी, चौकीदार से लेकर सम्राट् शाहनशाह तक हैं। ये अधिष्ठाता देवता और अन्यान्य अधिकारी भी वैसे ही अपने अपने स्थान पर वैराग्य और निवृत्ति और शुद्धि की परीक्षा के पीछे नियुक्त किये जाते हैं, जैसे किसी पार्थिव राज्य के कर्मचारक योग्यता की परीक्षा के पीछे।

ऋग्वेद।

"अहं" (मैं), "अहं अस्मि" (मैं हूँ), "अहं ब्रह्मास्मि," (मैं ब्रह्म हूँ,) यह महावाक्य ज्ञान का सार है। इसका आगम

व्यवहरण, प्रयोग, विष्णु देवता के सपुर्द है। इसकी टीका ऋग्वेद है ऋग्वेद का मुख्य महावाक्य यही है। ऋग्वेद को इसीका विस्तार जानना चाहिये। विष्णु देवता के सीगे के क़ानून की किताब ऋग्वेद है। ज्ञानसर्वस्व इसमे मौजूद है।

यजुर्वेद

"एतत्" (यह), "एतत् (बहु) स्याम्" (यह, बहुत, होऊ), "एकोऽहं बहु स्याम्," (एक मैं बहुत हो जाऊँ) यह महावाक्य क्रिया का तत्त्व है और यजुर्वेद का मूलमंत्र है। इसके अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा हैं। चारों वेदों के वक्ता ब्रह्मा इसलिये कहे जाते हैं कि वेदों के प्रकाश करने की क्रिया ब्रह्मा ही के द्वारा होती है। नहीं तो एक एक वेद के रचने वाले देवता एक एक अलग अलग हैं।

सामवेद।

"न", (नहीं) "एतत् न", (यह नाना दृश्यमान नहीं), "नेह नानास्ति किञ्चन", नाना पदार्थ कुछ हैं ही नहीं, केवल एक आत्मा ही है। यह महावाक्य इच्छा का तत्त्व है। इच्छा का काम यही है कि जीव को बहुत सी संसार की वस्तुओं की ओर ले जाय, और फिर उनसे जीव घबरा उभिया जाय, दुखी हो, उसकी इच्छा की पूर्ति न हो, और असंतोष और वैराग्य भोगे। इच्छा ही जीव को पहिले अस्ति का स्वरूप दिखाकर फिर नास्ति का स्वरूप दिखाती है। अपनी इच्छा ही के कारण संसार में पड़कर और दुःख भोग कर तब जीव कहता है कि यह सब कुछ नहीं है सब

सूत्र है। यह इच्छा का स्वरूप है। सामवेद का यह महावाक्य मूल है और शिव इसके अधिष्ठाता हैं।

अथर्ववेद ।

इन तीनों वाक्यों का समाहार यही मूल वाक्य है, अर्थात "अहं एतत् न", और अथर्ववेद इसका व्याख्यान है, जिसे स्वयं महाविष्णु ने रचा है ।

जैसे ही महाविष्णु ने समष्टिरूप से अथर्ववेद रच कर अपने मातहतों के, अपने अधीन अजस्य अजस्तन अधिकारियों के, सपुर्द किया, और उन्होंने अपने अपने विभागों के काम के लिये अपने मातहतों के लिये विशेष रूप से ऋक् यजु साम रचा, वैसे ही महाविष्णु के उपरांग, उपरिष्ट, उपर के अधिकारियों ने महाविष्णु की शिक्षा के वास्ते महावेद महागायत्री आदि रचा है। यह सब अनन्त है। मूल सूत्र, मूल सिद्धांत, मूल महावाक्य, तो सब में वे ही हैं। भेद टीका के विस्तार के परिमाण का ही है। अन्यथा अन्योन्यमाय सम ।

गायत्री ।

गायत्री की कथा यह है कि चौबीस मुख्य महावाक्यों के सूचक एक एक अक्षर लेकर गायत्री महामंत्र बना है।

यह बात जो सिद्ध हुई, अर्थात् ज्ञान इच्छा क्रिया तीन का और चौथे "न" का समाहार, इसी के हिसाब से, इन्हीं पदार्थों के परिवर्तन विवर्त्तन से, संसार के असंख्य विभाग हो गये हैं। यह तो पहिले कह आये हैं कि इन्हीं तीन बातों का नाम, आत्मा अथवा अन्तरात्मा की दृष्टि से, चित्, आनंद,

और सत् है। इन्हीं तीन गुणों के कारण प्रत्यगात्मा सगुण ब्रह्म कहाता है। मूल प्रकृति की दृष्टि से इनके नाम सत्त्व, तमस्, और रजस हैं। प्रत्यगात्मा और मूलप्रकृति के संयोग से जो जीव पदार्थ पैदा होता है उसके जीवांश अर्थात चेतनांश की दृष्टि से यह तीन, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, कहाते हैं, और जड़ उपाध्यंश की दृष्टि से ये ही, गुण द्रव्य, और कर्म हो जाते हैं। वस्तुओं के गुणों को हम जानते हैं, वस्तु अर्थात् द्रव्य की इच्छा करते हैं, और इसके कर्म को घटाने बढ़ाने आदि की क्रिया करते हैं। गुण द्रव्य और कर्म का ज्ञान इच्छा क्रिया—इतना ही संसार का सर्वस्व है। इन्हीं के नियमन के लिये वेदादि की उपयोगिता है।

प्रत्येक वेद के चार भाग।

इनके ही अनुसार प्रत्येक वेद के चार चार विभाग किये हैं, इसलिये कि यद्यपि हम लोग इनकी गिनती अलग कर ले पर वे वस्तुतः अलग नहीं हो सकते। प्रत्येक में अन्य सब मग्न रहते हैं। ज्ञान में इच्छा और क्रिया छिपी है। इच्छा में ज्ञान और क्रिया छिपी है। क्रिया में इच्छा और ज्ञान छिपा है। ज्ञाननिष्ठ ऋग्वेद में भी ज्ञानांश संहिता है, क्रियांश ब्राह्मण, इच्छांश उपनिषत् और उनका समाहार उपवेद अथवा तंत्र है। ऐसा ही और सब वेदों में भी है।

शाखा

इसके ऊपर हर एक वेद की दो दो शाखा हैं, एक कृष्ण और एक शुक्ल। इसका कारण यह है कि संसार दो पदार्थों

के मिलने से बना है, पुरुष और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा, सत् और असत्, प्रकाश और तम, नेकी और बदी, दक्षिण मार्ग और वाममार्ग। क्रम से एक एक अंश का आधिक्य दिखाने के लिये प्रति वेद की दो दो शाखा हैं।

अंगोपांग।

इसके बाद इन्हीं ज्ञान इच्छा और क्रिया के उलट पलट से अंग अर्थात् व्याकरण शिक्षा आदि, और छः उपांग वेदांत मीमांसा आदि बने हैं। उनके मिश्रण से बहुत से अवान्तर शास्त्र पैदा होते हैं। इस सब वेद और शास्त्र के समूह की समष्टि संहिता अंश में है।

वेदों का विषय।

(१) ऋग्वेद में यह सब वर्णन किया है कि किस पदार्थ की किस से और कैसे उत्पत्ति और स्थिति और विनाश है, क्या उसका उचित देश और काल है, क्या उसकी आवश्यकता है, कितने उसके विभाग हैं, इत्यादि।

(२) यजुर्वेद में क्रिया का स्वरूप, क्रिया का और मंत्र का सम्बंध, मंत्र के प्रकार, यज्ञ, संस्कार, श्राद्ध, इत्यादि सबका आध्यात्मिक वर्णन करा है। जीवन भर के सम्पूर्ण व्यवहार इसमें कहे हैं।

चार वर्ण, चार आश्रम, और चार पुरुषार्थ का संबन्ध ज्ञान इच्छा क्रिया और समाहार से है। ब्रह्मचर्य आश्रम और ब्राह्मण वर्ण का संबन्ध ज्ञान से है, गृहस्थाश्रम और क्षत्रियवर्ण का क्रिया से, वानप्रस्थ आश्रम और वैश्यवर्ण का इच्छा से,

("वशीकरोति इंद्रियाणि इति वश्य ," यह व्युत्पत्ति प्रणववाद में कही है) और सन्यास और शूद्रवर्ण का सबन्ध समाहार से है।

आप लोग आश्चर्य करेंगे कि शूद्र और संन्यास का साथ कैसा। एक सबम छोटा और नीचा गिना जाता वर्ण, दूसरा सबसे ऊंचा समझा जाता आश्रम। इसको यों समझना चाहिये। नदी के किनारे यदि मनुष्य खड़ा हो तो जो छाया पड़ती है, उसमें उत्तमाग, सिर, सबम नीचे हो जाता है। शूद्र का अर्थ यही है कि जो सबकी सेवा करे। यदि कोई नि स्वार्थ सेवा करता है तो वही सच्चा संन्यासी है, यदि स्वार्थ से सेवा करता है तो मामूली शूद्र है।

"मैं" और "यह" इन दोनो पदार्थों का ज्ञान ब्राह्मण वर्ण और ब्रह्मचर्य आश्रम में होना चाहिए।

"मैं यह हूँ,' "जो मैं हूँ वही यह है," "इसकी रक्षा मुझी से हो सकती है"—यह क्रिया क्षत्रियवर्ण और गृहस्थाश्रम की होना चाहिये।

"यह नहीं है" "एतत न "," केवल मैं ही मैं हूँ", "यह ससार कुछ नहीं है", "आत्मा ही आत्मा है"—यह इच्छा एक अर्थ से धन संचय करने की और दूसरे अर्थ से ससार छोड़ कर पुण्य संचय करने की, यही वश्यवर्ण और वानप्रस्थाश्रम का तत्त्व है।

"मैं यह नहीं हूँ,' किन्तु "मैं ही सब जगह हूँ," और "सब हूँ," "यह और यह और यह, ऐसी भेदबुद्धि और उपाधि झूठी है," सबको सबकी सेवा और सहायता करनी

चाहिये, ऐसा ज्ञान और अमल सन्यासी का, सब शूद्र का, है। देखिये, बड़े का क्या अर्थ है? केवल यही कि उसके भरोसे, उसकी मिहनत से, उसकी गोद में, दूसरे खेले और सुख पायें। और छोटे का भी अर्थ यही है कि दूसरे के सिर चैन करे। तो सच्चा शूद्र वही है जो सबकी सेवा करे और उनसे कुछ बदला न चाहे। जो बदला चाहे, जो मज़दूरी मांगे, जो यह समझे कि "मैं" अर्थात् आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, वह मामूली शूद्र है। पुराणों में भी शूद्र शब्द की व्याख्या विवेक से, दो प्रकार की है। "शुचा द्रवति", थोड़े से भी दुःख शोकादि के कारण से घबरा जाता है, वह तो बालबुद्धि नीची कोटि का शूद्र। "परेषां शुचं द्रावयति", दूसरों के दुःख शोक को दूर करता है, वह उत्तमकोटि का शूद्र, अर्थात् सत्यवाद का सन्यासी शूद्र "आशु द्रवति, वृद्धानां आज्ञया", बड़ों की आज्ञा से जल्दी जल्दी दौड़ कर काम करता है, जैसे बालक, यह भी अर्थ हो सकता है।

षोडश संस्कार और पञ्च महायज्ञ और अश्वमेध गोमेध इत्यादि का भी ऐसा ही रहस्य अर्थ, "अहं, एतत्, न," इन्हीं शब्दों के उलट पलट से, इस ग्रन्थ में कहा है।

(३) सामवेद में इच्छा का वर्णन है।

पहिले कह आये हैं कि संसार में दोही पदार्थ देख पड़ते हैं, एक "अहं" और एक "अनहं"। इनका सम्बन्ध, इनके संयोग का कारण, यही शक्ति स्वरूप तीसरा पदार्थ है। शक्ति का भी तात्विक स्वरूप इच्छा ही है। इच्छा के सिवाय और कोई "कारण" संसार में नहीं है। आत्मा की दृष्टि से जो पदार्थ

शक्ति है, जीव की दृष्टि से वही पदार्थ इच्छा है। जैसे आत्मा के तीन गुण, सत्, चित, आनंद हैं, और मूल प्रकृति के तीन गुण, रजस्, सत्त्व, और तमस् हैं वैसे ही शक्ति, माया, अथवा दैवीप्रकृति के तीन गुण, सृष्टि, स्थिति, और संहार कहना चाहिये। देवता दृष्टि से यही तीन शक्तियाँ, लक्ष्मी, सरस्वती, और सती कहाती हैं। ज्ञानशक्ति अर्थात् सरस्वती का साथ ब्रह्मा से, जो क्रिया के और उत्पत्ति के अधिष्ठाता हैं, इस हेतु से है कि विना ज्ञान के क्रिया नहीं हो सकती। तथा क्रिया-शक्ति अर्थात् लक्ष्मी का साथ ज्ञान के और स्थिति के अधिष्ठाता विष्णु से इस हेतु से है कि विना क्रिया के ज्ञान की सफलता नहीं हो सकती। शिव का साथ सती का है। दोनों इच्छारूप हैं। इस लिये उनका सम्बन्ध अर्धाङ्ग का है।

इन तीन शक्तियों में से प्रत्येक के तीन विभाग कर दिये हैं, ज्ञान, इच्छा, और क्रिया के अनुसार। लक्ष्मी, अर्थात् क्रिया शक्ति, के तीन आकार, रमा, लक्ष्मी, और शारदा। रमा में ज्ञानांश का मेल है, लक्ष्मी शुद्ध क्रिया रूप है, और शारदा में क्रिया के साथ इच्छा मिली है।

इसी प्रकार से सरस्वती के तीन भेद, ऐंद्री, ब्राह्मी और सरस्वती।

तथा सती के तीन भेद, सती, गौरी और पार्वती। इन नवों के समाहार का नाम भैरवी।

यही दश महाविद्या, ज्ञान, इच्छा, क्रिया के भेद से होती हैं।

देवताओं के वाहन, हंस, गरुड़, और वृषभ, का भी अर्थ,

देश, काल, और गति, हैं। ये ही तीन, देश, काल, और गति मकार अर्थात् निषेध के तीन गुण समझने चाहिये। तीनों साक्षात् निषेधस्वरूप, शून्यरूप, है। देश भी पात्र ही है न काल भी अभावरूप, अनद्रूप है। और गति, जो केवल देश और काल के मिलनेसे ही पैदा होती है, (अथवा जिसी से देश और काल पैदा होते हैं, क्योंकि बिना गति के बिना क्रिया के, बिना क्रम के, देश और काल का ज्ञान ही नहीं, यथा सुषुप्ति में) यह भी परम शून्यरूप है। क्रम, एक के बाद एक, जिसका नाम गति क्या क्रियामात्र है। और केवल क्रम पदार्थ न सत्ता है ? पर यद्यपि ये तीनों परम असत् स्वरूप हैं, तो भी बिना इनके संसार असंभव है इन्हीं में संसार है।

जो पुराणों में देवताओं के आभूषण और शस्त्र अस्त्र कहे हैं उनका भी रहस्य अर्थ इसी प्रकार का है।

इन शक्तियों के अनन्त प्रकार का वर्णन सामवेद में किया है।

(४) तीनों वेद के विषयों का समाहार, इनका परस्पर सम्बन्ध अथवा सामानाधिकरण्य, उनके नाना प्रकार, ज्ञान इच्छा क्रिया का शरीर की नाड़ी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि से सम्बन्ध, और संसार के प्रबन्ध करने वाले अधिकारियों के धर्म और उनके परस्पर सम्बन्ध, का वर्णन अथर्व में है।

ब्राह्मण, उपनिषत्, उपवेद, और छः छन्द शास्त्र के ग्रन्थों में भी, क्रमश, ब्रह्मा विष्णु शिव के अधीन अधिकारियों ने अपने अपने विभाग का और अधिक विवरण किया है। केवल एक दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। यथा, क्रम से सर्व

का अर्थात् चेतना का धीरे धीरे सात तत्त्वों अर्थात् महत्, बुद्धि, आकाश, वायु, तेजस् आपस्, और पृथ्वी के ओढ़ने, का, तथा इनके अणुओं और परमाणुओं की बनावट का, वृत्तांत कहा है। किस प्रकार से इनमें धीरे धीरे चेतना का विकास होता है, किस प्रकार से जीव क्रमशः धातु, वृक्ष, पशु, चन्द्रात्म, सौरात्म, मनुष्य, देवता आदि योनियों में वृद्धि पाता है, इस ब्रह्माण्ड में, जिसके परमेश्वर महाविष्णु हैं, जिनका प्रत्यक्ष शरीर सूर्यबिंब है, कितनी पृथ्वियाँ अर्थात् ग्रह हैं, जिन पर जीव की वृद्धि होती है—यह सब बातें इनमें सविस्तर वर्णन की हैं।

हर जगह और हर बात में अ, उ, और म का सम्बन्ध और अनुकरण दिखाया है। यथा पृथ्वी तत्त्व में तीन भेद हैं, ज्ञान प्रधान परमाणु तो पृथ्वी परमाणु है, क्रियाप्रधान का नाम मेदिनी, और इच्छाप्रधान का नाम मही है। तथा जल के भेद में ज्ञानप्रधान का नाम सलिल, इच्छाप्रधान का नाम अपस् और क्रियाप्रधान का नाम तोय है। एवम् अग्नि, तेजस्, वन्हि। एवं मारुत, पवन, वात। एवं आकाश, चिदाकाश, महाकाश, इत्यादि।

इस ग्रन्थ में विशेष करके अन्तःकरण की वृत्तियों में त्रिकों को अ उ म के अनुसार दिखाया है।

व्याख्यान के बहुत परिमित समय में केवल एक सूचीमात्र आपके सामने पढ़ जाता हूँ अधिक कहने का अवसर नहीं है।

अन्तःकरण में तीन प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार, (और उनका समाहार चित्त) हैं। ज्ञान में, सकल्प, विकल्प और अनुकल्प,

इच्छा में आशा, आकांक्षा, कामना, क्रिया में, क्रिया, प्रतिक्रिया, अनुक्रिया, इत्यादि ।

६ अंग और ६ उपांग भी इसी प्रकार वर्णन किये हैं। जो आज काल इनमें परस्पर विरोध प्रचलित है उस सबका इस ग्रन्थ में परिहार देख पड़ता है, और यह स्पष्ट होता है कि ये सब शास्त्र सचमुच एक ही ज्ञानशरीर के अंग और उपांग अन्वर्थ हैं ।

सब शास्त्रों में तीन बातें प्रधान हैं। आत्मा, अनात्मा, और निषेध, अथवा ज्ञान, क्रिया, और इच्छा, के अनुसार ।

नीति शास्त्र में धर्म ज्ञान के स्थान में है, अर्थ क्रिया के, काम इच्छा के, और मोक्ष उनका समाहार है ।

न्याय में, प्रमाण (अनात्मा), प्रमेय (आत्मा), और संशय (इच्छा) का समाहार प्रयोजन (मोक्ष) में होता है। न्याय शास्त्र का दूसरा त्रिक क्रिया, कारण, कर्ता है, जिसका भी समाहार प्रयोजन ही है ।

वैशेषिक के मुख्य त्रिक दो हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, और सामान्य, विशेष, समवाय । सामान्य आत्मस्थानीय है। विशेष अनात्मा । समवाय इच्छा अर्थात् सम्बंध ।

योग में चित्त ज्ञानरूप आत्मस्थानीय, वृत्ति क्रियारूप अनात्मस्थानीय, और निरोध इच्छारूप सम्बन्धस्थानीय हैं। परमज्ञान, मोक्ष, यही समाहार है ।

सांख्य में प्रकृति, पुरुष, और असंख्येय संख्यातीत भव, यह त्रिक है।

मीमांसा में स्वार्थ, परार्थ, और परमार्थ, इन तीन प्रकार

के कर्मों का वर्णन है। एक जो अपने हित के लिये किया जाय, एक जो पराये भले के लिये किया जाय, एक जो केवल उचित होने के ही कारण से, फलाफल का विचार छोड़कर, स्वार्थ और परार्थ के भावों को त्याग कर, किया जाय।

वेदांत में जीव आत्मस्थानीय है, माया संसारस्थानीय, और ब्रह्म सम्बन्धस्थानीय है। इन सबका समाहार प्रणव स्वयम् है।

काव्य में रसों का त्रिक, शृंगार, रौद्र, और शांत है। यह त्रिक आध्यात्मिक त्रिक, राग, द्वेष, और शम, का अनुसारी है। इनके मिश्रण से, और मात्रा के घटाव बढ़ाव से, अन्य सब रस उत्पन्न होते हैं। साहित्य में अलंकारों का मुख्य त्रिक है, उपमानालंकार, उपमेयालंकार, अनन्यालंकार। इनके समाहार को अतिशयोक्ति कह सकते हैं। संगीत में, शब्द (ध्वनि, नाद), प्रतिशब्द (प्रतिध्वनि, प्रतिनाद), और अनुशब्द (अनुध्वनि, अनुनाद, अनुवचन)। कर्मयोग की प्रवृत्ति, निवृत्ति, अनुवृत्ति, पुराणेतिहास की सृष्टि, लय स्थिति; संसार के विकास, संकोच, स्थैर्य क्रिया के, स्पंद, स्फुरण, स्फुलन, आदि के अनुसार। इन्हीं शब्द, प्रतिशब्द, आदि की कमी बेशी और मिश्रण से सब राग-रागिणी, उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से, विविध शास्त्र और कला, गणित, चित्रण, आदि के विषयों से संबंध रखने वाले कोई तीन सौ त्रिक उस ग्रंथ में कहे हैं।

व्याकरण में त्रिवर्ग बहुत देख पड़ता है। स्वर, व्यंजन, और विसर्ग-अनुनासिक; उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित, प्रातिपदिक या संज्ञा, धातु, कारक, समास (समाहार), कर्ता,

इच्छा में आशा, आकांक्षा, कामना, क्रिया में, क्रिया, प्रतिक्रिया, अनुक्रिया, इत्यादि ।

छ अंग और छ उपांग भी इसी प्रकार वर्णन किये हैं। जो आज काल इनमें परस्पर विरोध प्रचलित है उस सबका इस ग्रन्थ में परिहार देख पड़ता है, और यह स्पष्ट होता है कि ये सब शास्त्र सचमुच एक ही ज्ञानशरीर के अंग और उपांग अन्वर्थ हैं ।

सब शास्त्रों में तीन बातें प्रधान हैं। आत्मा, अनात्मा, और निषेध, अथवा ज्ञान, क्रिया, और इच्छा, के अनुसार ।

नीति शास्त्र में धर्म ज्ञान के स्थान में है, अर्थ क्रिया के, काम इच्छा के, और मोक्ष उनका समाहार है ।

न्याय में, प्रमाण (अनात्मा), प्रमेय (आत्मा), और संशय (इच्छा) का समाहार प्रयोजन (मोक्ष) में होता है। न्याय शास्त्र का दूसरा त्रिक क्रिया, कारण, कर्त्ता है, जिसका भी समाहार प्रयोजन ही है ।

वैशेषिक के मुख्य त्रिक दो हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, और सामान्य, विशेष, समवाय । सामान्य आत्मस्थानीय है। विशेष अनात्मा । समवाय इच्छा अर्थात् सम्बंध ।

योग में चित्त ज्ञानरूप आत्मस्थानीय, वृत्ति क्रियारूप अनात्मस्थानीय, और निरोध इच्छारूप सम्बन्धस्थानीय हैं। परमज्ञान, मोक्ष, यही समाहार है ।

सांख्य में प्रकृति, पुरुष, और असंख्येय संख्यातीत ब्रह्म, यह त्रिक है।

मीमांसा में स्वार्थ, परार्थ, और परमार्थ, इस तीन प्रकार

के कर्मों का वर्णन है। एक जो अपने हित के लिये किया जाय, एक जो पराये भले के लिये किया जाय, एक जो केवल उचित होने के ही कारण से, फलाफल का विचार छोड़कर, स्वार्थ और परार्थ के भावों को त्याग कर, किया जाय।

वेदांत में जीव आत्मस्थानीय है, माया संसारस्थानीय, और ब्रह्म सम्बन्धस्थानीय है। इन सबका समाहार प्रणव स्वयम् है।

काव्य में रसों का त्रिक, शृंगार, रौद्र, और शांत है। यह त्रिक आध्यात्मिक त्रिक, राग, द्वेष, और प्रशम, का अनुसारी है। इनके मिश्रण से, और मात्रा के घटाव बढ़ाव से, अन्य सब रस उत्पन्न होते हैं। साहित्य में अलंकारों का मुख्य त्रिक है, उपमानालंकार, उपमेयालंकार, अनन्यालंकार। इनके समाहार को अतिशयोक्ति कह सकते हैं। संगीत में, शब्द (ध्वनि, नाद), प्रतिशब्द (प्रतिध्वनि, प्रतिनाद), और अनुशब्द (अनुध्वनि, अनुनाद, अनुवचन)। कर्मयोग की प्रवृत्ति, निवृत्ति, अनुवृत्ति, पुराणेतिहास की सृष्टि, लय स्थिति; संसार के विकास, संकोच, स्थैर्य क्रिया के, स्पंद, स्फुरण, स्फुलन, आदि के अनुसार। इन्हीं शब्द, प्रतिशब्द, आदि की कमी बेशी और मिश्रण से सब राग-रागिणी, उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से, विविध शास्त्र और कला, गणित, चित्रण, आदि के विषयों से संबंध रखने वाले कोई तीन सौ त्रिक उस ग्रंथ में कहे हैं।

व्याकरण में त्रिवर्ग बहुत देख पड़ता है। स्वर, व्यंजन, और विसर्ग-अनुनासिक, उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित, प्रातिपदिक या संज्ञा, धातु, कारक, समास (समाहार), कर्ता,

कर्म, करण, इत्यादि। इनमें सन्नापद आत्मस्थानीय है, धातु क्रियास्थानीय, और कारक इच्छास्थानीय है।

इस नागरी प्रचारिणी सभा का भाषा से अधिक सम्बन्ध है, इस कारण व्याकरण ही के विषय मे कुछ विशेष कहकर यह कहानी समाप्त करता हूँ।

भाषा का प्रयोजन यही है कि अपना अर्थ दूसरों को जना दे। तो क्या यह केवल श्रव्य शब्द द्वारा ही हो सकता है? दृश्य इंगित और चेष्टा से, इशारों से, अगुली, हाथ, सिर आदि के संकेतों से, भी तो होता है। गूगे बहिरे लोग ऐसा करते भी हैं। फिर अधिकतर शब्द, अर्थात श्रव्य भाषा, का प्रयोग क्या है? इसका उत्तर यही है कि संसार की इस अवस्था म श्रोत्रन्द्रिय की अधिक प्रबलता और विकास है। तत्त्वों से ही सब वस्तुए बनी हैं। उन सबमें आकाश है, जिसका गुण शब्द है। इस कारण प्रत्येक वस्तु स शब्द निकल रहा है, भिन्न भिन्न कानो में पड़कर उस शब्द के रूप का परिवर्तन हो जाता है। उसी परिवर्तितरूप का, जो मनुष्य फिर अनुकरण करके, उस उस वस्तु का स्मरण दूसरे को कराते हैं, वही उसका नाम हो जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय और वागिन्द्रिय की बनावट के भेद से भाषा-भेद होता है। यही कारण है कि इतने भेद भाषाओं के हैं। बल्कि यहाँ तक कहा है कि प्रति गव्यूति भाषा बदल जाती है। सच तो यों है कि प्रति व्यक्ति भेद है। साथ ही इसके, मनुष्य मात्र में यदि एक अश भेद और विशेष का है तो एक अंश सामान्य का भी है। इसी कारण से यह भी कहा है कि ऐसी भी भाषा है जिसको, यदि

उसका जाननेवाला और कहने वाला मिले, तो भिन्न भिन्न देशों और बोलियों के लोग भी उसको एक साथ समझ सकते हैं।

इस ब्रह्माण्ड म सप्त लोक हैं। प्रति लोक में एक प्रधान भाषा है। 'परा पश्यंती मध्यमा वैखरी' तो प्रसिद्ध ही हैं। इनके सिवाय तीन और हैं, साम्प्रतिका, चाक्षिकी और सार्वात्त्विका। वैखरी जो इस भूलोक और जाग्रदवस्था की भाषा है, उसके अनन्त भेद, देश और काल के अनुसार हुए हैं, हो रहे हैं, और होंगे। आकाश और श्रोत्रेंद्रिय और वागिंद्रिय प्रबल होने से श्रव्य भाषा प्रचलित है। यदि कोई अन्य तत्त्व और उसके संबन्धी ज्ञान और कर्म के इंद्रिय प्रबल होते तो उन्हीं के गुण की भाषा होती, यथा दृश्यभाषा, स्पृश्यभाषा, घ्रेयभाषा, स्वाद्यभाषा इत्यादि। पर सब भाषाओं की बनावट में सज्ञापद, क्रियापद, और कारक, (जिसको "हुरूफि राबित" फ़ारसी में, और "प्रेपोजिशन्" अंग्रेजी में कहते हैं), किसी न किसी रूप में आवश्यक हैं। और इसके बाद अनन्त फैलाव है। प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग, इत्यादि। जैसा जैसा जिस जाति का स्वभाव और उसकी आवश्यकता और व्यवहार होता है, वैसी वैसी उसकी भाषा और मुहावरे होते हैं, और ज्यों ज्यों मनुष्य मात्र का परस्पर व्यापार व्यवहार मेल जोल बढ़ता जायगा उतनी भाषा की एकता होती जायगी।

यह सब अनन्त विस्तार और अनंत एकता प्रणव में अन्तर्गत हैं और उससे सिद्ध होती है।

किंतु यह परमात्मा ब्रह्म इन सब विशेषों के विस्तारों से परे है, उनका निषेधरूप है।

न भाषापरं नैव वा शास्त्रसिद्ध
न वाणीपरं ज्ञानगोऽतीतगम्यम्।
ममाहारसंसारसारप्रसारम्
अकारं उकारं मकारं मकारम् ॥
अकार उकार मकार प्रमेय
सदोंकारमोंकारमोंकाररूपं।
महातत्त्वमेकं परातत्त्वमेक
स्वतोऽहं स्वतोऽहं स्वतोऽहं स्वतोऽहं ॥
न सत्य न चासत्यमद्वैतरूपं
न नित्यं न चानित्यमेक स्वरूपं।
न चाद्वैतसिद्ध न द्वित्वप्रसिद्ध
समोऽहं समोऽहं समानातरोऽहं ॥
परोऽहं परोऽहं परंवातरोऽहं
समोऽहं समोऽहं समानंदरूपं।
प्रसिद्ध विशुद्ध स्वबोधस्वरूप
नमोऽहं नमोऽहं नमोऽहं नमोऽहं ॥
कचिन्मोक्षसिद्ध कचित्पापसिद्ध
कचित्पुण्यसिद्ध समस्त समेत ॥
अनेकस्तदेको विवेकस्तदेको
विरोधस्तदेकोऽहमेकोऽहमात्मा ॥
सत्य सिद्ध सर्वग सर्वनित्यो
मुक्तो नाहं बंधसिद्धोऽहमात्मा।

साक्षी कर्त्ता सात्विक सर्वगोऽहं
भोग्यो भोक्ता भावनीयोऽहमात्मा ।।
अत सिद्ध सद् वहि सिद्धरूप
सर्वासिद्ध सर्वमोंकारगीत ।
सत्य सत्य सत्यसभावनीय
सर्वं सर्वं सर्वमोंकारगीतम् ।।

इति ।

।। ॐ ।।

प्रणव की कहानी का परिशिष्ट ।

(रामनवमी संवत् १९८४ विक्रम,
अर्थात् २९ मार्च, सन् १९२८, ईसवी को लिखा गया)

सितम्बर सन् १९०० से जनवरी सन् १९०१ ईसवी तक, पाँच महीने में, काशी में, प्रणववाद नामक ग्रंथ को प० धनराज के कण्ठोद्धार से, श्री गंगानाथजी की (जो अब महामहोपाध्याय और इलाहाबाद युनिवर्सिटी के वाइस्‌चान्सेलर हैं) और श्री भगवादास शास्त्री को (जो पीछे काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में न्याय वेदान्त के मुख्याध्यापक थे, महामहोपाध्याय हुए,और सन्‌१९२७ ई० में शांत होगये) सहायता से मैंने लिखा । उस मूल लिपि से एक प्रति और श्री भगवादास जी ने लिखी । इस दूसरी प्रति पर मैंने, यथावकाश, जैसा कुछ ग्र थ मेरी समझ में आ सका, उसका अंग्रेज़ी अनुवाद लिखा । यह प्रति, मूल संस्कृत और अंग्रेजी अनुवाद की, अब मद्रास नगर के आधार स्थान में थियोसाफिकल् सोसाइटी (अर्थात् "ब्रह्मविद्या सभा") के पुस्तकागार में रख दी गई है । पुनरुक्ति और संदिग्धांश आदि छोड़कर, बोधसौकर्य के लिये, अध्यायों का सनिवेश, परिमाण, क्रम आदि कुछ बदल कर, इस अनुवाद को, टिप्पणियों के साथ, तीन जिल्दों में, सन् १९१०, १९११, १९१३, में, क्रमश , थियोसाफिकल् पब्लिशिङ्ग् हौस, आधार, मद्रास, के द्वारा छपवाया ।

इसके आरम्भ में प्राय सौ पृष्ठ की भूमिका दी है, जिसमें प्रणववाद की प्राप्ति मुझको कैसे हुई, और उसके विषय में क्या शंका उठती है, और क्या समाधान हो सकता है या नहीं, तथा ग्रन्थ के गुण दोष क्या हैं, इस सबका वर्णन विस्तार से किया है। इसी स्थान पर यह भी लिख देना चाहिये कि मेरी मूलप्रति से लिखवाकर एक प्रतिलिपि श्रीशिवप्रसाद गुप्त (काशीवासी, "काशीविद्यापीठ" के स्थापक) ने, तथा एक, दाक्षिणात्य देश साङ्गली के राजा ने, अपने अपने पुस्तकागार में रक्खी है। तथा मद्रास 'हाइ कोर्ट" के भूत-पूर्व प्रधान न्यायाधीश श्री सुब्रह्मण्य ऐयर ने, प० श्रीनिवासाचार्य से आधुनिक संस्कृत में इस ग्रन्थ का अनुवाद करा के, मद्रास में छपवाया है। पर, यह अनुवाद, श्री सुब्रह्मण्य ऐयर महाशय के रुग्ण और तत् पश्चात् शान्त हो जाने के कारण संपूर्ण न हो सका। प्राय तीन चौथाई ग्रन्थ छपा, और एक चौथाई रह गया। दो जिल्दें छपी हैं, पहिली सन् १९१५ ई० में, और दूसरी सन् १९१९ में।

मुझे इस बात का बहुत खेद है कि अब तक न तो कोई पुरानी प्रामाणिक लिखी हुई प्रति इस अद्भुत ग्रन्थ की मिली, जिसकी शैली, भाषा, विचार, उपलब्ध ग्रन्थों से बहुत भिन्न हैं। और न प० धनराज ने इसका पर्याप्त प्रमाण दिया कि ग्रन्थ उनको सचमुच कंठस्थ है। जो एक बेर उन्होंने लिखवा दिया उसको फिर कभी नहीं दुहराया, कितना भी उनसे कहा गया कि, बिना ऐसी परीक्षा दिये, लोक को विश्वास नहीं होगा कि यह ग्रन्थ सचमुच आपके स्मृतिस्थ कंठस्थ है।

कोई संस्कृतज्ञ विद्वान्, उसके असाधारण विषय, उन्मादगान के ऐसे पद्य, अपाणिनीय शब्दप्रयोग, उलझी वाक्यरचना, पहेलियों की सी शैली, आदि को थोड़ा सा देख सुनकर तत्काल ग्रंथ को उन्मत्तप्रलाप कह देते हैं, कोई कर्णपिशाच की कर्तूत बताते हैं, कोई स्वयं पं० धनराज की कपोलकल्पना कहते हैं। इत्यादि। इन सब तर्कों का क्षोदक्षुण्ण मैंने उक्त अंग्रेजी भूमिका में यथाशक्ति करने का यत्न किया है, और सब पूर्वपक्ष उत्तरपक्षों का विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि (निश्चित नहीं, किन्तु) सम्भाव्यतम विकल्प यही है कि सचमुच ऐसा ग्रंथ प्राचीन कोई है, और पं० धनराज ने उसको कंठस्थ कर लिया है।

पं० धनराज मुझसे काशी में, दिसंबर सन् १९२६ में, बहुत वर्षों बाद पुनः मिले। और उनसे फिर भी इसकी चर्चा हुई, पर उन्होंने अपनी स्मृति शक्ति की उक्त सीधी सादी अत्यन्त सहज परीक्षा देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया, और यह भी कहा कि इस प्रत्याख्यान का कारण भी नहीं बता सकता। सन् १९२७ में, प्रयाग (इलाहाबाद) के (अंग्रेजी) "लीडर" नामक दैनिक पत्र में, और संयुक्तप्रांतीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव् कौंसिल) में भी इस विषय पर प्रश्नोत्तर और वाद विवाद हुए, पर कुछ फल नहीं निकला, "प्रणववाद" की मूलोत्पत्ति नीहाराच्छन्न ही रही। "परोक्षप्रिया इव हि देवा प्रत्यक्षद्विषः"।

एक दृष्टि से ऐसी शंका का पड़ा रहना अच्छा भी है। पुस्तक प्राचीन है कि नवीन, (बृहदारण्यक उपनिषत् के

बशाध्याय में परिगणित अथवा किसी अन्य) गार्ग्यायण नामक ऋषि की कृति है अथवा नवकल्पित, अधम कर्ण-पिशाच अथवा उत्तम कोटि के देव या सिद्ध पुरुष की उपजन्न है और धनराज उसके करणमात्र हैं अथवा उन्होंने सचमुच उसे किसी प्राचीन लिपि से सुनकर कंठ किया है, (अमेरिका में पिछले पचास साठ वर्षों में बहुत से ग्रंथ लोगों ने विविध प्रकार के "आवेश" की अवस्था में लिखे और छपवाये हैं, जिनमें अधिकाश अर्थशून्य अथवा दुष्टार्थक हैं)—ऐसी शकाओं का सर्वथा निराम न हो सकना भी गुणकारी है। इससे ग्रंथ की "आप्त"-वाक्यता पर ध्यान कम जायगा, उसके विषय की युक्तिमत्ता पर अधिक। परप्रज्ञता और अन्धश्रद्धा का (इस देश में "वेदवादरता", वेद, वेद, वेद, पुकारने वाले, बहुत हैं ही) प्रोत्साहन न होगा, परीक्षाबुद्धि और स्वयप्रज्ञता का ही उत्तेजन होगा। मृदुजिज्ञासा वाले, अथवा केवल कुतूहली, हट भी जायँगे। इस गुण के साथ एक दोष भी हो सकता है कि, स्यात्, कुछ लोग, श्रद्धाजड़, चमत्कार खोजी, केवल "अद्भुतस्मृति" की अप्रमाणित, असाधित, भी प्रतिज्ञा पर मुग्ध होकर, बिना परीक्षा के, थोड़े से रत्न के साथ, अथवा बिना रत्न के भी, बहुत सी धूलि और कूड़े का भी ग्रहण करलें। पं० धनराज ने संयुक्तप्रात के नगरों में कई सज्जनों को छोटे बड़े गद्य पद्य के कई ग्रंथ लिखवाये हैं, जैसे मुझको प्रणववाद, और यह कहना कठिन है कि उनमें से कितने अच्छे हैं, कितने बुरे, कितने अर्थशून्य। समय समय पर उनमें से दो चार के थोड़े थोड़े अंश, जो मुझको लोगों

ने दिखाये, उनमें से किसी में ऐसी विशेष अप्रसिद्ध अपूर्व बात मुझे नहीं देख पड़ी जैसी प्रणववाद में। और कई तो केवल प्रलाप ही से जान पड़े, जैसे कोई नशे की हालत में बेजोड़ शब्द मुँह से निकालता रहे। संसार में सिद्धई जगाने वाले, धोखा देने वाले, सिद्ध साधक भी बहुत देख पड़ते हैं। बिना पूँजी के रोजगार फैलाने वाले भी हैं। पर प्रायः "नामूला च जनश्रुतिः", बिना राई के पहाड़ नहीं बनता, थोड़ी पूँजी के बल पर बहुत लेन देन फैलाया जाता है, व्यावेशशील मनुष्य बहुधा व्यर्थ, तो कभी सार्थ, बात भी कहता है। प० धनराज का वृत्तान्त और उनके "कंठस्थ" ग्रंथों का तत्त्व मुझे कुछ ऐसा ही सत् और असत् का समुच्चय जान पड़ता है। सारे संसार की ही यही कथा है।

इसलिये, यह सब शंका होते हुए भी, प्रणववाद ग्रंथ बहुमूल्य है, उपयोगी है, उनकी बहुतेरी सिद्धांतविपयक, प्रकृति के सामान्य नियमों की, बातों से बुद्धि का प्रसार होता है—यह मेरा विश्वास है। विशेष विशेष बातों पर, यथा यह वेद इस देवता की कृति है प्रत्येक वेद में दो शाखाएँ हैं, इस वेद का यह यह विषय है, इत्यादि पर विश्वास, बिना अन्य परिपोषक प्रमाणों के जल्दी नहीं हो सकता। पर इसमें कोई बात प्रायः ऐसी भी नहीं है जो युक्ति के विरुद्ध, या वस्तुस्थिति के स्पष्ट विपरीत, या स्वतोव्याहत हो। संस्कृत शास्त्रों की प्रथा ही है कि अब जो कुछ आर्ष मन्य इतिहास, पुराण, वैद्यक, ज्योतिष आदि वेदांगों के तथा अन्य शास्त्रों के, मिलते हैं वे अति संक्षिप्त हैं, और उनका मूल आदिम रूप बहुत

विस्तृत शतसहस्राध्यायात्मक था, और ब्रह्मा, सरस्वती, इंद्र, गणेश, शिव आदि का रचा हुआ था। इत्यादि। प्रत्यक्ष ही किसी भी सभ्य शिष्ट जाति के सारस्वत भांडार में, प्रत्येक समाजोपयोगी विषय पर, लघु, मध्यम, बृहत् परिमाण के ग्रंथ मिलते हैं। तथा जो कुछ मनुष्य जानते और लिखते हैं यह सब "ब्रह्म" में, अर्थात्, सर्वत्र व्याप्त महत्तत्त्व में, बुद्धितत्त्व में, अणोरणीयान्, महतो महीयान्, अनंत विस्तार और संक्षेप से, व्यक्ताव्यक्त रूप से, सदा वर्त्तमान ही है।

अस्तु। "अहं एतत्-न" से, वेद वेदांग वेदोपांग-उपवेद आदि के, विविध शास्त्रों और दर्शनों के, जो विषय देख पड़ते हैं, उनकी संगति, उनका समन्वय, कैसे हो सकता है, और संसार का स्वरूप क्या है, संसार की गति के मुख्य नियम क्या हैं, इसके समझने में प्रणव वाद से बहुत सूचना सहायता मिलती है। मुझे तो बड़े संतोष का हेतु और ग्रंथ की प्रामाणिकता का प्रमाण, यह हुआ कि जो मूल विचार, "अहं-एतत्-न" के रूप से, मेरे हृदय में स्वतंत्ररीति से स्वयं उदय हुआ था, वह, बहुत वर्षों पीछे इस ग्रंथ में मिला, और उसका प्रयोग वैदिक शास्त्रों के सांकेतिक विषयों के सुलझाने में किया हुआ मिला, जिसका मुझे कुछ ध्यान ज्ञान न था। देवी भागवत में श्लोक है,

> इत्येवं चिंत्यमानाय मुकुन्दाय महात्मने।
> श्लोकार्धेन तया प्रोक्तं भगवत्याऽखिलार्थदं॥

"अहं-एतत्-न" ऐसे अर्थ से गर्भित प्रणव कैसे अखिलार्थद, सब अर्थों का देने वाला, सब ज्ञानों का भांडार, हो सकता

है, इसका भारी सूचन, दिग्दर्शन, निदर्शन, नमूना, इस ग्रंथ में मिलता है।

कभी तो खेद होता है कि सूचन और प्रलोभन ही अधिक होता है, तृप्ति नहीं की जाती। पर एक ग्रंथ में क्या क्या किया जाय? और पढने वाले को स्वतंत्र विचार का, अपने पैरों पर खड़े होने का, स्वयं आगे खोज करने और बढ़ने का, अभ्यास भी तो होना चाहिये। आखिर, पश्चिम के वीर धीर ज्ञानी साहसी तपस्वी आचार्य नई नई खोज, नई नई उपज (उपज्ञ), नई नई कला, नये नये यंत्र तंत्र शास्त्र अपने बाहुबल, हृदयबल, और बुद्धिबल से निकाल और फैला रहे हैं, केवल पुरानी पोथियों के नाम के जप से ही सतुष्ट नहीं होते। तौ भी, जैसा आध्यात्मिक अर्थ बताने का यत्न इस ग्रंथ में किया है, वैसा, या उससे कम भी, श्रम आधिदैविक अर्थों के आविष्कार का किया होता, तो वेद के कर्मकाड के समझने में सहायता मिलती।

वर्त्तमान काल में, अथवा यदि यह कहें तो स्यात् अनुचित न होगा कि कई सहस्र वर्षों से, वेद के कर्मकाड का ठीक ठीक अर्थ समझ नहीं पड़ता है, लुप्त हो गया है। जैसे अश्वमेध आदि की विधि, अक्षरार्थ देखने से, अत्यंत बीभत्स, क्रूर, अश्लील, घृणाकारक, व्यर्थ, जान पड़ती है। अक्षरार्थ के सिवाय कोई दूसरा अर्थ है या नहीं, अक्षरार्थ केवल उत्प्रेक्षा, या रूपक, या अर्थवाद मात्र है, इसका कुछ पता नहीं चलता। इधर, सैकड़ों, अथवा हजारों, वर्ष से, घोर तपस्या

के, और तज्जनित दिव्यशक्ति और इंद्रियों के द्वारा आधि-दैविक, योगज, दिव्य ज्ञान के, लुप्त हो जाने से, लकीर के फ़क़ीर बनकर मीमासकों ने यही निश्चय कर लिया है कि दूसरा गूढ़ अर्थ तो कोई समझ में आता नहीं, केवल अक्षरार्थ के अनुसार ही कर्म करना चाहिये, फल उसका, अदृष्ट संस्कार के द्वारा, स्वर्गादिक, आमुष्मिक, कुछ होगा। किन्तु इस चाल का विचार, युक्तिशील, हेत्वन्वेषी, मनुष्य के हृदय को संतोष नहीं देता। यहाँ तक कि गीता में भी "भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रिया-विशेषबहुला पुष्पिता वाक्" की निंदा ही की है। इस प्रकार के अदृष्ट फल देने वाले वैदिक कर्म काड पर अधविश्वास से तो दृष्ट फल देने वाले, सुनी हुई "श्रुति" को प्रत्यक्ष कर दिखाने वाले, "श्रुतिप्रत्यक्षहेतव," कहे को कर देने वाल, पश्चिम के वैज्ञानिक कर्मकाडियों पर उत्फुल्लनेत्र विश्वास करना बहुत अच्छा।

प्रणववाद में यज्ञों का और सस्कारों का अर्थ, "अहम् एतत्-न" के शब्दों में, ज्ञान, इच्छा, क्रिया के अभिप्राय से, आध्यात्मिक ही अधिकतर कर दिया है। अन्य ग्रथों से जो ऐसी सूचना मिलती है, कि अजमेध, महिषमेध, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध का अर्थ क्रमशः काम का हनन, क्रोध का हनन, अहंकार (अस्मिता) का हनन, करुणात्मक मोह (अभिनिवेश) का हनन, और जीवभेदबुद्धि (अविद्या) का हनन है, इसकी भी चर्चा इसमें नहीं है। संस्कारों का विषय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के बहुत उपयोगी है। इसके संबध में आधिदैविक ज्ञान के प्रचार की बहुत आवश्यकता है। सो

इस म थ से पूरी नहीं होती । आधिदैविक का अर्थ देव सम्बंधी और सूक्ष्मलोकसम्बन्धी । देव का अर्थ परमात्मा की प्रकृति की अनत सूक्ष्म शक्तियाँ भी, और तत्तच्छक्त्यभिमानी अनंत देव उपदेव आदि नामक जीवविशेष भी । इनके विशेष व्यापारक्षेत्र सूक्ष्मलोक। है तो सबका संबंध सब से। स्थूल सूक्ष्म कारण, भू भुव स्व, अधिभूत अधिदैव अध्यात्म, सब परस्पर सबद्ध हैं। तो भी, "वैशेष्यात तु तद्वाद तद्वाद । इहलोक की अपेक्षा से परलोक, सूक्ष्मलोक, भुव लोक, स्वर्लोक आदि को पितृलोक देवलोक आदि कहते हैं। गर्भाधान से अन्त्येष्टि और श्राद्ध तक संस्कारों का मुख्य उद्देश्य यह है कि उत्तम जीव परलोक से इस लोक में मानवकुलों में, आवें, यहाँ उनके स्थूल, सूक्ष्म शरीरों का यथासंभव अच्छे से अच्छा परिष्कार हो उनकी उत्तम शक्तियों का उपोद्बलन और विकास हो यथाशक्ति चतुर्विध पुरुषार्थ का, उत्तम स्वार्थ और उत्तम परार्थ का, धर्म अर्थ काम मोक्ष द्वारा साधन करने का यत्न करें, और (मोक्ष और आवागमन से छुटकारा न सिद्ध होने की अवस्था में) इस लोक से परलोक को जब वापस जायँ, तो सुखतम मार्ग से जायँ और वहाँ भी सुख पावें । विविध प्रकार के यज्ञ भी इसी उद्देश्य की सिद्धि में संस्कारों की सहायता करने वाले हैं। जैसा मनु ने कहा है,

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

मातुरग्रेऽधिजनन द्वितीयं मौंजिबंधने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षा द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥

विविध प्रकार के संकारों से, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के, बहिष्करण और अन्तःकरण के, सम्यक्करण संस्करण, परिष्करण,शोधन, मार्जन, शिक्षण, से, तथा विविध प्रकार के यज्ञों से, यजन से, परोपकारार्थ, समाजसेवार्थ, परिश्रम और त्याग करने से, व्यक्तियों की संस्कृति, शिष्टता, सभ्यता, समायोग्यता सिद्ध होती है, सपन्न, निष्पन्न होती है। और व्यक्तियों की संस्कृति से कुल कुटुम्बों की और समाज की संस्कृत, उन्नति, प्रगति, समृद्धि, सिद्ध होती हैं। इस स्थान पर यह याद रखना चाहिये कि सब देशों और कालों में, सब सभ्य समाजों में, संस्कार और यज्ञ, अर्थात् संस्करण और यजन, होते रहे हैं। केवल "वेद"-नामक ग्रंथों के अक्षरों से ही, संस्कृत भाषा के शब्दों और श्लोकों से ही, स्रुक् आदि पात्रों से ही, अग्नि मे घी डालने से ही, बहुल क्रियाविशेषों से ही, छोटी छोटी रीति रस्मों से ही, संस्कार नहीं होते। चित्त का और शरीर का सम्यक् करण, संस्करण, परिकर्म, परिष्करण, उत्तम बनाना—यह मुख्य उद्देश्य है। जिस प्रकार से हो वही संस्कार, वही यज्ञ। जैसे एकस्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिये बीसियों प्रकार के वाहन हैं, कोई शीघ्र, कोई मंद, कोई अल्पायास कोई बहायास—मुख्य उद्देश्य गमन। जैसे सैकड़ों प्रकार के अन्न हैं, कोई अधिक स्वादु कोई कम, कोई अधिक पथ्य और हित कोई कम, कोई सुलभ कोई दुर्लभ—उद्देश्य सबका शरीरतर्पण, प्राणपोषण। जैसे सैकड़ों भाषा हैं—

उद्देश्य सबका अभिप्रायप्रकाशन। वैसी ही कथा संस्कारों और यज्ञों की है।

जब संस्कारों पर, यज्ञों पर, अध्यापन, शिक्षण पर, धर्मज्ञान पर, व्यक्ति का और समाज का सब ऐहिक और आमुष्मिक सुख इस प्रकार से सर्वथा आश्रित अधीन है, तो संस्कारकर्ता, अध्यापक, याजक, ऋत्विक्, धर्मज्ञाता, धर्म-निर्णेता, धर्मव्यवस्थापक, इष्ट और आपूर्त्त अर्थात् वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सुख साधक, ज्ञानवर्धक, उपयोगी कृत्यों का, वृक्षारोपण वापी कूप तड़ाक पाठशाला चिकित्सालय, राज-पथ देवमन्दिरादि के निर्माण का, बताने वाला, जीवन के दुर्गम स्थलों में उचित मार्ग दिखाने वाला, सदुपदेश देने वाला, कैसी उच्चकोटि का, ब्रह्ममय, ज्ञानमय, इहलोक परलोक दोनों की व्यवस्था जानने वाला, तपःशीलसम्पन्न, त्यागी जीव होना चाहिये, जिसके लिये "ब्राह्मण" नाम अन्वर्थ हो, यह प्रत्यक्ष स्पष्ट है।

विरुद्ध इसके, किस प्रकार के मनुष्य आज काल इस अभागे देश में पुरोहित, पुजारी, शिक्षक हो रहे हैं, यह कई बेर कहा जा चुका है। "मील" (आधकोस) के चिह्न के वास्ते जो पत्थर गाड़े हुए हैं, उनको देवप्रतिमा बता कर, उनकी भी पूजा, माला फूल रोली और पैसे से, सीधे सादे भोले गाँव वालों से ये पुजारी लोग कराते हैं, पैसे स्वयं लेने के वास्ते। जिस देश के याजक यजमान के बुद्धिभ्रंश की यह दशा हो वह क्यों न दिन दिन अधिकाधिक अधोगति पावै और पराधीनता के दुःख सहै इन सबके उद्धार का मूलोपाय,

मुख्योपाय, एकमात्रोपाय, आत्मज्ञान आत्मश्रद्धा का प्रचार है।

सर्वपरवश दु ख सर्वमात्मवशं सुख ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षण सुखदु खयो ॥
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवसादयेद् ।
आत्मैव देवता सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थित ॥

उद्देश्य मन्त्र का अभिप्रायप्रकाशन । वैसी ही कथा संस्कारों और यज्ञों की है ।

जब संस्कारों पर, यज्ञों पर, अध्यापन, शिक्षण पर, धर्मज्ञान पर, व्यक्ति का और समाज का सब ऐहिक और आमुष्मिक सुख इस प्रकार से सर्वथा आश्रित अधीन है, तो संस्कारकर्ता, अध्यापक, याजक, ऋत्विक्, धर्माता, धर्म-निर्णेता, धर्मव्यवस्थापक, इष्ट और आपूर्त अर्थात् वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सुख साधक, ज्ञानवर्धक, उपयोगी कार्यों का, वृक्षारोपण वापी कूप तटाक पाठशाला चिकित्सालय, राज-पथ देवमंदिरादि के निर्माण का, बताने वाला, जीवन के दुर्गम स्थलों में उचित मार्ग दिखाने वाला, सदुपदेश देने वाला, कैसी उच्चकोटि का, ब्रह्ममय, ज्ञानमय, इहलोक परलोक दोनों को व्यवस्था जानने वाला, तपःशीलसम्पन्न, त्यागी जीव होना चाहिये, जिसके लिये "ब्राह्मण" नाम अन्वर्थ हो, यह प्रत्यक्ष स्पष्ट है ।

विरुद्ध इसके, किस प्रकार के मनुष्य आज काल इस अभागे देश में पुरोहित, पुजारी, शिक्षक हो रहे हैं, यह कई बेर कहा जा चुका है । "मील" (आधकोस) के चिह्न के वास्ते जो पत्थर गाड़े हुए हैं, उनको देवप्रतिमा बना कर, उनकी भी पूजा, माला फूल रोली और पैसे से, सीधे सादे भोले गाँव वालों से ये पुजारी लोग कराते हैं, पैसे स्वयं लेने के वास्ते । जिस देश के याजक यजमान के बुद्धिभ्रंश की यह दशा हो वह क्यों न दिन दिन अधिकाधिक अधोगति पावे और पराधीनता के दुःख सहे इन सबके उद्धार का मूलोपाय,

मुख्योपाय, एकमात्रोपाय, आत्मज्ञान आत्मश्रद्धा का प्रचार है।

> मर्वंपरवश दु ख सर्वमात्मवशं सुख ।
> एतद्विद्यात् समासेन लक्षण सुखदु खयो ॥
> उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवसादयेद् ।
> आत्मैव देवता सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितं ॥

ॐ

महा समन्वय।

सर्व सर्वत्र सर्वदा।

(अक्षयतृतीया, संवत् १९८५, अर्थात् २२ अप्रैल, सन १९२८ ईसवी, को लिखा गया)

अपना (="आपणो"=आत्मनः) अनुभव।

जन्मस्थान काशी में, क्वीन्स् कालिजियेट् स्कूल के एंट्रेंस क्लास में, मैं पढ़ता था। वि० संवत् १९३७ (ई० सन् १८८०), और मेरी आयु का बारहवाँ वर्ष था। "थियासोफिस्ट" नामक मासिक पत्र का पहिला अंक मेरे हाथ में पड़ा। १ अक्टूबर सन् १८७९ ई० को निकला था। नाम का अर्थ है "ब्रह्मविद्याभ्यासी"। पत्र में वेदान्त की, योगसिद्धियों की, ऋषियों मुनियों सिद्धों की, संसार की विविध गति की, आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक रहस्यों की, मानवमात्र में परस्पर स्नेह प्रीति भ्रातृभाव सहायता की आवश्यकता की, विविध धर्मों और दर्शनों के समान तत्वों और सिद्धान्तों के अन्वेषण की उपयोगिता की, मनुष्य में गुप्त अनुद्बुद्ध सूक्ष्म शक्तियों को योगमार्गों से उद्बुद्ध सिद्ध करने और सूक्ष्म

रहस्यों के ज्ञान को प्राप्त करने की उचितता की, चर्चा थी। बारह वर्ष के बालक को बातें कम समझ पड़ीं। पर पूर्व सस्कार उदित हुए, परम पदार्थ के दर्शन की वासना जागी, जिज्ञासा के अंकुर निकले। ससार मे इतना दु:ख क्यों है, ससार ही क्यों है, सुख दु ख, जीना मरना, मैं तुम यह वह क्या हैं, क्यों हैं, प्रतिक्षण सर्वत्र परिणाम परिवर्त्त हो रहा है, कोई वस्तु दो क्षण के लिये एक रूप से स्थिर नहीं है, यह क्या है, क्यों है, कैसे है, परिणाम का अर्थ ही किसी भाव का अभाव होना और किसी अभाव का भाव होना, सो कैसे, परलोक कोई है या नहीं है, इहलोक और परलोक में क्या भेद है, शरीरों से जीव भिन्न हैं या नहीं हैं, नश्वर हैं या अमर हैं, नहीं हैं तो अमर हो सकते हैं या नहीं, हो सकते हैं तो कैसे, दु:ख से सब जीव कैसे छूटें, जीवों से भिन्न कोई ईश्वर है या नहीं है, उसकी इच्छा पर जीवों की सत्ता असत्ता सद्गति असद्गति आश्रित है अथवा जीव स्वतत्र हैं—इत्यादि प्रश्नों की संतत चिंता उत्पन्न हुई और बढती गई। प्रत्येक जीव को, कभी न कभी, किसी न किसी जन्म में, इस चिंता का अनुभव करना पड़ता है। पहिले तो दूसरी सासारिक (अविद्या की) वासना इस शांति की (विद्या की, मोक्ष की) वासना के अकुरों को दबा देती हैं, जैसे बरसाती कुशकाश अन्य बीजों को। "यह प्रश्न न कभी उत्तीर्ण हुए, न होंगे, खाओ, पीयो, दुनिया का अपना काम देखो। हाँ, मन बहलाने को, जी चाहे तो, कभी ऐसी दो चार हवाई बातें कर लिया करो।" जैसा फारसी के शायरों ने बड़े मीठे शब्दों में कहा है,

हदीसे मुत्रियो मय गो, व राजे दह कम तर जो।
कि कस् न कुशूद् व न कुशायद्, व हिक्मत ईं मुअम्मा रा॥
असरारि अज़ल रा न तू दानी व न मन्।
ईं हर्फ़ि मुअम्मा न तू ख्वानी व न मन्।
हस्त अज़ पसे पर्दः गुफ्तगूये मनो तू
चू पर्दः बियुफ्तद न तू मानी व न मन्॥

अर्थात्—मदिरा और शराब की पोथी पढ़ो, इस चक्कर खाने वाले आस्मान और प्रकृति के रहस्य के पीछे मत पड़ो। इस मुअम्मे को, इस अंधेरी कोठरी को, हिक्मत के, फ़ल्सफ़ा के, दर्शन शास्त्र के, बल से न कभी किसी ने खोल पाया है न पावेगा। सृष्टि का आरम्भ कैसे और क्यों हुआ, यह न तू जानता है न मैं। इस गोल अस्पष्ट लिपि को न तू पढ़ सकता है न मैं। पर्दे के (शरीर के) आड़ से तू और मैं बात कर रहे हैं। जब पर्दा उठ जायगा तब न तू रहेगा न मैं।*

---

* इन शेरों, श्लोकों, का गूढ़ अर्थ भी है—केवल शुष्क तर्क और न्याय के बल से, जो बाह्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष विषयों को ही स्वीकार करते हैं, संसार के रहस्य कारण और हेतु का पता नहीं चलता। आत्मश्रद्धा, आत्मभक्ति, सर्वव्यापी मनुष्यप्रेम, जीवदया, सर्वभूतदया, महाकरुणा, परार्थ चिन्ता, परोपकार, इश्क़-हक़ीक़ी की मदिरा पीओ और वीणा बजाओ, नारद के जैसी, तब इस अंधेरे में रौशनी मिलेगी। "तमसस्तु परे पारे," "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्," "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन,"

पर एक दिन ऐसा आता है जब, अपने समय से, अपने ऋतु में, यह पारमार्थिक चिंता अन्य सब चिन्ताओं को दबा लेती है, खाना, पीना, दुनिया का काम, भोग विलास, ऐश इशरत, कुछ अच्छा नहीं लगता। यह तो सब नश्वर है, अनित्य है, अंत में दुःखमय है, विष मिला हुआ मिष्टान्न है, हमको तो नित्य अनश्वर पदार्थ चाहिये—यही एक इच्छा हृदय को छा लेती है। बुद्धदेव, राज की समृद्धि को छोड़, अति प्रिय पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को छोड़, इस परम सात्त्विक उन्माद से प्रेरित, आधी रात को राजधानी कपिलवास्तु से बाहर चले गये, और नगर के द्वार पर घूम कर, खड़े होकर, बाहु उठाकर, उन्होंने प्रतिज्ञा की,

जननमरणयोरदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा।

"जन्म मरण के रहस्य का पार देखे बिना मैं कपिलवास्तु के भीतर फिर पैर नहीं रक्खूँगा।" पार देख कर, फिर जैसा प्रारब्ध कर्म बचा हो, चित्त में जैसा वासनाशेषरूपी अधिकार अवशिष्ट हो तदनुसार, सांसारिक कर्त्तव्य का निर्वाह करे,

---

"नाऽविरतो दुश्चरितात् प्रज्ञानेनैनं आप्नुयात्," इत्यादि उपनिषद्वाक्यों का भी यही अर्थ है। जब तक शरीरभेद के पर्दे में जीव, अन्तरात्मा, छिपा ढँका है, जब तक यह समझ रहा है कि "मैं यह देह ही हूं," तब तक मैं और तुम और यह इत्यादि जीव और जीव में उसको भेद जान पड़ता है। जब शरीरकृत भेदबुद्धि का पर्दा उठा तब न "मैं" और न "तू" (अलग) रहे, और संसार का भेद (रहस्य) खुल गया।"

अथवा सन्यास ले। एक प्रकार की सूक्ष्मरजोमिश्रित शुद्धप्राय सत्त्वरूपिणी करुणा से, धर्मसंस्थापनबुद्धि से, अपने प्रारब्ध कर्मों का निर्यापन करने की इच्छा से, अन्तरात्म-परमात्म प्रवर्तित संसारचक्र अनुवर्तन की अवश्यकर्तव्यता के भाव से, प्रेरित होकर, राजगुह्य-राजविद्या धारी प्राचीन राजर्षियों नें, (गृहस्थ) जीवन्मुक्तों ने, अवतारों ने, राम, कृष्ण, जनक, अलर्क, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि ने, प्रजापालन, साधुपोषण, दुष्टदमन का कार्य किया। अतिसूक्ष्म उत्तमतमोमोहमिश्रित शुद्ध सत्त्वप्राय दूसरी प्रकार की दया ने प्रेरित होकर "महा(करुणा) यान" पर चलकर लोकहितैषिता के, संसारिजीवोद्धारिणी बुद्धि के, "श्वेतांबर" से आच्छन्न होकर, (वानप्रस्थ) वसिष्ठ, व्यास, महावीर जिन, बुद्धदेव, ईसा, आदि महर्षियों ने, मनुष्यों की बुद्धि जगाने का, और संसार के भय से तारने वाले तारक सात्त्विक ज्ञान का, प्रचार किया। कोई जीव, और भी थक कर, इस महाकरुणा के शुभ आचरण से, शुभ वासना से, भी, अपारा अति विरक्त होकर, "दिगम्बर" वत्, (सम) "हीनयान" पर चल कर प्रत्येक-(एकाकी)-बुद्धवत्, परम सन्यासी, परमहंस, होकर, केवल कैवल्य की, विदेहमुक्ति की, ओर झुके। ऐसी कथा महा-पुरुषों की, बड़ों की पुराणों में, लोक की शिक्षा के लिये, ऐसे ही वत्सल वृद्ध लिख गये हैं। "महाकारुणिको मुनि" "संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यम्"। (भागवत), तथा "महर्षयोऽपि गैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णा कैवल्यं प्रसरन्ति (शांकर शारीरक भाष्य), तथा "ब्रह्मणा सह मुक्ति", इत्यादि। यह सब कथा, मुमुक्षा की चिंता के साथ

होने के, जीवन्मुक्ति के लाभ होने के, पीछे की है ।

अपने मन में क्या कैसे और क्यों की चिंता उठने पर, दर्शन शास्त्र के ग्रंथ, संस्कृत के, अंग्रेजी के, यथाशक्ति मैं देखता विचारता रहा । समानशीलव्यसन वाले मित्रों के साथ वाद विवाद संवाद भी यथावसर करता रहा । पूर्वोक्त भक्ति मार्ग और आरंभवाद, कर्ममार्ग और परिणामवाद, ज्ञानमार्ग और विवर्त्तवाद के विविध आकार प्रकारों पर, अवांतर वादों पर अपनी थोड़ी शक्ति के अनुसार बहुत क्षुण्णक्षोद करता रहा । अंततः संवत् १९४४ (सन१८८७ ई०) में मेरे हृदय में इस बुद्धि का उदय हुआ कि जिस नित्य पदार्थ को तुमको खोज है वह परमाभीष्ट, परमप्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ, परमस्थिर, परमनित्य, परमनिश्चित, परमवास्तव परमतत्त्व, परमसत्य, परमपदार्थ "मैं", "अहम्", है, इस "मैं" का, इस (अहम्, चेतना, चित, चिति, चैतन्य, द्रष्टा, पुरुष, पुरुषोत्तम, परमेश्वर, ब्रह्म,) परमात्मा का, संपूर्ण स्वरूप, (स्वभाव, प्रकृति, मूल-प्रकृति, प्रधान भाव), "अहम्-एतत्-न", "मैं-यह-नहीं", यह अखंड (एकरस, अनवरत, शाश्वत, सकृत्प्रभ, एकाकार, निर्विशेष) बोध (भावना, धारणा, दर्शन, ख्याति, संवित्, वेदन) है, और इस स्वरूप में ही सब शंकाओं और प्रश्नों का समाधान और उत्तर निहित है ।

अपने संतोष के लिये, और विचार को स्थिर और विशद करने के लिये, चौदह सूत्र संस्कृत में लिखकर छपवा लिये । ये हैं ।

वेदांतहृदयसूत्रम्।

१ "अहम्- (अनहम्=अहम् इतरत्=अन्यत्=) एतत् न (अस्मि)" इति निष्क्रिय अकाल अक्षर पूर्ण शाश्वत "पर-ब्रह्म", "परमात्मा" वा।

२ "एतत्"-समष्टि-उपाधि उपहित, "एतत्-न (अस्मि) इति "ज्ञान"वान्, "अहम्" एव पुरुष, सूत्रात्मा, ईश्वर। (स्यात् अच्छा होता यदि इस सूत्र के स्थान में यों लिखा जाता—

२ F केवल, स्वस्थ, स्वरूपेऽवस्थित, अन्तर्गुरु "अहम्" =प्रत्यगात्मा, प्रत्यग्चिति। अनाद्यनन्तासत्य-एतत्-समष्ट्युपाधि उपाधेश्च निषेधश्च "अहम्"=मायाशबल ब्रह्म, परम ईश्वर वा। उपाध्युपाधानदृष्ट्या सगुण। तन्निषेधदृष्ट्या निर्गुण। ब्रह्माण्डादिरूप "एतद्"-व्यष्ट्युपाधि-उपहित अहम्-एतत्-न इति भाववान् "अहम्"=ईश-सूत्रात्म-विराडात्मक ईश्वर।)

३ "अहम्"-ऐक्यविरोधाद् "एतत्" "नाना," "अणु"-रूपम् इति। 'एतत्" एव "अहम्-एतत्" इति निर्वचनात् सद्भाववती, "एतत् न (अस्मि)" इति निषेधात् असद्भावावष्टम्भिनी। सदसद्भ्यो प्रधान अव्यक्त-इत्यादि-अपर-नाम्नी अनंत अणु-रूपा "मूलप्रकृति"।

('निषेधात्" से विपरीतता दिखाने के लिये "निर्वचनात्" के स्थान पर कोई दूसरा शब्द, "व्याधानात्" "विधानात्", "उपादानात्", "सेवनात्", "विवेकात्", "अनुशयात्", "संकल्पात्",

"उद्भावनात्", "संभावनात्," "प्रतिज्ञानात्," के ऐसा होता तो अच्छा होता। "निषेध" का प्रथित उल्टा "विधि" है। इससे स्यात् "विधानात्" ही सबसे अच्छा होता। प्रचलित वेदांत के सांकेतिक, "विधि निषेध" के समानार्थक, बहुत अच्छे शब्द "अध्यारोप अपवाद" हैं।)

४ अणुरूप-"एतत्"-व्यष्टि उपाधि उपहित "अहम् एतत्-" इति (अ-)ज्ञान(=मिथ्याभाव)वान् "अहम्"="जीव", "जीवात्मा" वा।

५ "अहमा" "एतद्" प्रत्यक्षीकरण एव "ज्ञान"।

६—७ तत एव "ज्ञाता" "ज्ञेय" च।

(यहाँ "इच्छा" "एष्टा", "इष्ट," और "क्रिया" "कर्त्ता", "कर्म", की चर्चा भी होनी चाहिये।)

८ "अहम् एतत्-न (अस्मि)" इति पूर्णज्ञान (संवित्) महत्, बुद्धि, ब्रह्म, "विद्या" वा।

९ "अहम् एतत्" इति अंशज्ञान (खण्डित ज्ञान, अज्ञान, भावन) "अविद्या।"

१० "एतत्-न (अस्मि)" इति नितांतविरोधेऽपि "अहमेतत्" इति अत्यंत संरोधाद् "अहम्-एतदो" "अन्योऽन्याध्यास"।

११ "एतद्" "अहम्"-अपरिमितत्वविरोधेन परिमितत्वम्। परिमिते च "एतदि", "अहमेतद्" इति सयोगस्य, "न-(अस्मि)" इति च वियोगस्य यौगपद्यासंभवात् "प्रवृत्ति निवृत्ति"—सृष्टि-संहार—अध्यारोप-अपवाद—रूपक्रमजन्म।

१२ क्रम एव "काल।"

१३ एकस्मिन् काले नानानाम् संभव एव "देश" (स्थ,

आकाश) । (इस १३ सूत्र के स्थान में स्यात् अच्छा होता कि यह लिखा जाता, "यौग-पद्यमेव देश" । काल का स्वरूप नाना भावों का क्रम है । देश का स्वरूप नाना वस्तुओं का यौग-पद्य, युगपत् विद्यमानता, सह-अस्तिता है । एकस्मिन् देशे नाना-नाम् समवस्थानं कालः, एक देश में अनेक वस्तु, भाव, रूप, आदि कालात्मक "क्रम" से होते हैं । यथा एक काल में अनेक पदार्थ, देशात्मक 'यौगपद्य" से होते हैं । क्रमसम्भव, अथवा क्रमबीज, काल, तथा यौगपद्यसम्भव, अथवा यौगपद्यबीज, देश, ऐसा भी कह सकते हैं ।)

१४ "अहम्-एतत्-न (अस्मि)।"-इति वाक्यान्तर्गत (स्वभावान्तर्गत) क्रमस्य (च यौगपद्यस्य च) "आवश्यकत्वं" एव "माया", शक्तिः, दैवीप्रकृतिः इत्यादि-बहुनाम्नी भगवती स्तुविरातमहत्त्वाधिष्ठातृदेवता ।

(नोट— ऊपर के लिये सूत्रों में जो शब्द कोष्ठकों के ( ) भीतर हैं वे अब बढ़ाये हैं, इनके मूल स्वरूप में, जो सन् १८८७ में लिखा गया, नहीं थे ।)

इस प्रकार से, संस्कृत के भी असंस्कृत अपरिष्कृत टूटे फूटे शब्दों में, हृदय के प्रिय भावों के लिये मंजूषा, पेटी, बना ली । (विषय ऐसा सूक्ष्म है, "मनोवाचाम् अगोचर" है, कि कितना भी शब्दों को उलट पुलट करें, पूर्ण भाव प्रकट होता नहीं, किसी को किसी प्रकार से किसी को किसी अन्य प्रकार से अधिक सन्तोष होता है, इसीलिये विविध रीति से यत्न होते हैं ।) इन सूत्रों का हिन्दी में भावार्थ यों है ।

१ "मैं—यह—नहीं (हूँ)", यह बोध (सवित, चेतना, वेदना, भाव) ही ब्रह्म का, परमात्मा का, स्वरूप है, स्वभाव है, तत्त्व है। यही परमात्मा है।

२ "यह" अर्थात् दृश्य, भोग्य, विषयभूत, अनन्त पदार्थों की समष्टि को, समस्त "एतत" पदार्थों को, ध्यान में धर कर, उनकी उपाधि से उपहित होकर, "यह-नहीं (हूँ)", (अर्थात मैं यह नहीं हूँ, मै मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ नहीं हूँ और मैं से अन्य कुछ नहीं हैं, इस "यह" में कुछ सत्ता नहीं है, "मैं" से स्वतन्त्र "यह" 'नहीं" है, मिथ्या है, मूठ है) ऐसे भाव वाला "मैं" पदार्थ हीपरम-पुरुष परम ईश्वर, है। इस एतत् समष्टि रूप उपाधि को ओढता और छोड़ता हुआ "मायाशबल ब्रह्म" कहला सकता है। ओढ़ने की ओर यदि किंचित् विशेष दृष्टि की जाय तो 'सगुण"। छोड़ने की ओर, तो "निर्गुण"।

अकेला, केवल, "अहं" पदार्थ, एतत्-पदार्थ से प्रतीप अंचित, प्रत्यक्, "एतत्' से मुँह फेरे हुए, स्व स्थ, स्व में स्थित, अन्तर्मुख, "प्रत्यगात्मा" है। और "एतत' के किसी विशेष ब्रह्माण्ड आदि अंश या समूह से निर्मित उपाधि को धारण किये हुए। पर साथ ही "यह—नहीं- हूँ" ऐसा बोध रखता हुआ, अहम, ''ईश—सूत्र—विराट्" आदि रूप वाला, व्यष्ट्यात्मक, व्यष्ट्यात्मक "ईश्वर' है।

३ 'मैं" एक है। उसके विरोध से, उसका उल्टा, उसका विवर्त होने के हेतु से, "यह" अनेक है, नाना है, असंख्य अणु रूप है। "मैं" ने इस "यह" का ध्यान किया है, "मैं-यह" कह-के "यह" का उद्भावन, सम्भावन, आवाहन, सकल्पन, विधान,

उपादान अध्यारोप किया है, इसलिये इस "यह" में सत्ता का भाम आया है। पर, साथ ही "यह-नहीं (हूँ)" ऐसा भी ध्यान करके, निषेध, प्रतिषेध, निरास, पर्युदास, निवारण, खंडन, निर्मूलन, अपमापन, अपकृतन, हान, अपवाद भी किया है, इसलिये इस "यह" को असत्ता भी स्पष्ट है। ऐसा सदसत्, हाँ भी नहीं भी, मिथ्या, झूठा "यह" ही अनतानन्त अणु-रूप मूल प्रकृति है, जिसी के दूसरे नाम अव्यक्त, प्रधान, इत्यादि हैं। प्रत्यगात्मा का मूल-प्रकृति, प्रधान प्रकृति, उसीका स्व-भाव, है। क्योंकि "मैं" ही तो "यह" का उद्भावन करता है, अपने भीतर से उसको निकालता है, ध्यान में लाता है। "प्रकरोति सर्वं" सब कुछ करती है, इससे प्रकृति। प्रधीयते अस्मिन् सर्वं, सब कुछ इसमें भरा पड़ा है, इससे प्रधान। व्यक्त, व्यंजित, नहीं किन्तु अव्यक्त रूप से, जैसे बीज में पेड़, इससे अव्यक्त। इत्यादि।

३ अनंत असंख्य अणु-रूप "यहों" में से एक "यह" को, व्यष्टिरूप शरीर को, उपाधि को पहिन कर, "मैं-यह" ऐसी भावना करता हुआ "मैं" ही "जीव" है, "जीवात्मा" है।

५ "यह" का "मैं" जो ध्यान में प्रत्यक्ष करता है, अपने सामने रखता है, वही "ज्ञान" है।

६ ज्ञान के साथ साथ एक ओर ज्ञाता और एक ओर ज्ञेय का भाव उत्पन्न हो जाता है। ("मैं" का "यह" को ध्यान में अपनाना ही "इच्छा" है, जिसके साथ साथ "एष्टा" और "इष्ट" के भाव उत्पन्न होते हैं। तथा "मैं" का "यह" की ओर बढ़ना, अथवा उसको अपनी ओर खींचकर आत्मसात् करना, उसका ग्रहण करना, ओढ़ना, और फिर छोड़ना, यही

"क्रिया" है, जिसके साथ साथ "कर्त्ता" और "कर्म" के भाव उत्पन्न होते हैं।)

८ "मैं-यह नहीं (हूँ) ऐसा पूर्ण ज्ञान ही (जिसमें समस्त, समष्टि, असंख्य "यह" का, और उनके आविर्भाव तिरोभाव के नियमों का बोध हो) महत्, बुद्धि, परा "विद्या" है, जिसका पौराणिक रूपक में नाम "ब्रह्मा" कहा है, अर्थात् ब्रह्म का कथंचित् किंचित् व्यक्त भाव।

९ "मैं-यह" ऐसा खण्डज्ञान, अज्ञान, "अविद्या" है।

१० "यह-नहीं" करके अत्यंत विरोध भी है, तथा "मैं-यह" करके नितांत सरोध संयोग भी है। इसलिये इन विरुद्ध पदार्थों में परस्पर विरुद्ध गुणों का अन्योऽन्याध्यास हो जाता है। "मैं" में "यह" के गुण, और "यह" में "मैं" के गुण, देख पड़ने लगते हैं।

११ "मैं" अपरिमित है, आदि अंत रूपी परिमिति इसमें नहीं है। इसका आदि अंत किसी ने देखा नहीं। देश काल क्रिया से अनवच्छिन्न है, अतीत है, परे है। जो पदार्थ कुछ क्रिया करै, जिसमें कुछ परिवर्त्तन हो, अदल बदल हो, वही देश और काल से परिच्छिन्न होगा। इस स्थान से इस स्थान तक, इस समय से इस समय तक। देश, काल, क्रिया, यह तीनों अन्योऽन्याश्रित हैं, अलग नहीं की जा सकतीं। जहाँ, जिसमें, क्रिया नहीं, वहाँ देश, काल, आदि, अंत, भेद, मर्यादा, हद भी नहीं। "मैं" में ये तीनों नहीं। इसका विरोधी "यह" सर्वथा परिमित है। और "यह" का "मैं" से, "मैं-यह" करके, संयोग होता है, और "यह-नहीं (हूँ)" करके वियोग। इन दोनों अत्यंत

निरुद्ध भावों का यौगपद्य, "मैं" को अपरिमित पारमार्थि संपूर्ण दृष्टि से तो समझता है, पर "यह" को परिमित, व्यावहारिक खंड दृष्टि से नहीं समझता। इसलिये अयौगपद्य, अर्थात् क्रम उत्पन्न होता है। पहिले प्रवृत्ति, तदनन्तर निवृत्ति। पहिले सृष्टि पीछे लय, जन्म तब मरण, अध्यारोप फिर अपवाद।

१२ इस "क्रम" ही का नाम 'काल' है। यथा देश, एक स्थान, में अनेक वस्तुओं,पदार्थों का समवाय—यह क्रम से, काल से, होता है। अथवा यह सम्भव हो, इस समवाय का बीज, हेतु, कारण, मूलरूप ही काल है।

१३ अनेकों का, "नाना" का, एक साथ, एक काल में समय, महास्तित्व, यौगपद्य ही "देश", खं, आकाश है।

१४ "मैं-यह-नहीं-(हूँ)" इस स्व-भाव के अंतर्गत जो क्रम की, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सृष्टि-लय, रूपा संसरण की, संसार की, आवश्यकता है, अवश्यंभाविता है, तथा क्रम रूप वस्तुओं, पदार्थों, सर्वदा वर्त्तमान अणुओं, के यौगपद्य की आवश्यकता, निश्चितता, नियति, है, यही 'माया', शक्ति, मूलप्रकृति आदि बहुनाम वाली भगवती, सहस्रों स्तुतियों और उपासनाओं की इष्ट देवता है।

अर्थसिद्धि।

जिन सज्जनों ने पहिले कही हुई "प्रणव की पुरानी कहानी" के पूर्वांश को पढ़ लिया है, उनको सूचना मिल गई होगी कि मैं "अहं-एतत्-न" की भावना को किस मार्ग से पहुंचा।

आरम्भवाद से चलकर परिणामवाद । उससे चलकर विवर्त्त-वाद, आभासवाद, अध्यासवाद। पर वेदांत के उपलब्ध ग्रंथों से एक यह अंतिम शंका दूर नहीं हुई, कि क्रियातीत ब्रह्म और क्रियामय माया का क्या संबंध, क्यों, कैसे। रज्जु-सर्प, शुक्तिका-रजत, जपा-कुसुम, नदी तीर, चंद्रद्वय, मरुमरीचिका, स्वप्न-नगर इत्यादि उपमाओं से संतोष नहीं हुआ। क्यों, कहाँ से, कैसे ? मिथ्या भी, झूठ भी, सपना भी, सही, माना। पर क्यों, कहाँ से, कैसे ? ब्रह्मसूत्र में कहा, "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"। यह सब संसार परमेश्वर की केवल लीलामात्र है। पर भागवत में शंका उठाई है,

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चि मात्रस्याविकारिण ।
लीलया चापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रिया ॥
क्रीड़ायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यत ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य तथाऽऽन्यत ॥

जो आप्तकाम है निर्विकार है, परिपूर्ण है, नित्यतृप्त है, "अन्यत्" से, 'आत्मेतर" से, निवृत्त है उसको यहाँ के ऐसी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा रखने वाला, दूसरों का भरोसा करने वाली आमरा देखने वाली, लीला क्रीड़ा की भी इच्छा क्यों ? "परिपूर्णस्य का स्पृहा ?" "यदपरिणामि तदकारणम्। यदकारणम् तदपरिणामि।" जिसमें परिणाम नहीं वही अकारण है, स्वयंभू स्वयंसिद्ध, स्वाधीन, स्वस्थ, स्वतंत्र, है। जिसका कोई कारणकर्त्ता कारक नहीं वही अपरिणामी है। जो परिणामी, परिवर्त्ती, बदलनेवाला नहीं, उसका कोई उत्पादक कारण प्रेरक हेतु आदि नहीं हो सकता, न वह स्वयं किसी अन्य

का कारण या उत्पादक आदि हो सकता है। क्योंकि दोनों रीति से परिणाम मिद्ध हो जायगा। कठिनता यह है कि "चितिशक्ति परिणामिनी" (योगसूत्र) और "परिवर्तिनि संसारे मृत: को वा न जायते"। दोनों का संबंध कैसे बने? दूसरे शब्दों में—निराकार साकार का संबंध क्यों और कैसे? साकार में ही क्रिया, निराकार में क्रिया नहीं। आकार का अर्थ ही परिमिति, परिच्छिन्नता, आद्यंतवत्ता। निराकार में आदि अन्त नहीं। दोनों का सम्बन्ध कैसे बने?

विष्णु पुराण में भी यही पूछा है, निर्गुण पदार्थ सगुण की सृष्टि कैसे और क्यों करता है?

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मन ।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥

उत्तर क्या दिया?

शक्तय: सर्वभावाना अचिन्त्यज्ञानगोचरा ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तय ।
भवंति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥

अर्थात्, थोड़े में, ब्रह्म की शक्तियां अचिन्त्य हैं जैसे आग में गर्मी। भागवत में भी यों ही काम चलाया किया है,

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।

यह भगवान् की माया है जो सब नय से, न्याय से, विरुद्ध हो चलती है।

अथवा जैसा नारायणसंहिता में कह दिया

सृष्ट्यादिकं हरिनैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु ।
कुरुते केवलानंदाद् यथा मत्तस्य नर्तनम् ॥

पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः ।
मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः ॥

अर्थात्, जैसे उन्मत्त का, पागल का, मदिरामत्त का, नाचना, वैसे अखिलात्मा की यह सब चक्कर खाती, भ्रमती, प्रत्यक्ष नाचती, हुई सृष्टि। पर यदि यही कह के संतोष करना था तो दर्शनों और वादों और तर्क वितर्कों की छान बीन करने का महा आयास प्रयास सब व्यर्थ ही हुआ। पहिली बात ही "खाओ, पीओ, चैन करो", ही अच्छी? शंकराचार्य के शारीरक भाष्य में, उक्त लीला विषयक सूत्र के भाष्य में, इस उन्मादवाद का प्रत्याख्यान भी किया है।

अनुगीता (अ० ३४-३५) में भी ऐसी शंका उठाकर, गोल ही उत्तर दे दिया है।

प्रश्न—अतः परन्तु यद् गुह्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोश्चापि संबंधः केन हेतुना ॥

उत्तर—विषयो विषयित्वं च संबंधोऽयमिहोच्यते।
विषयी पुरुषो नित्यः सत्त्वं च विषयः स्मृतः ॥
अनित्यं द्वंद्वसंयुक्तं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः।
निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ॥
सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते।
जलबिंदुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ॥

प्रश्न यह है कि क्षेत्रज्ञ, पुरुष, निष्क्रिय का, सत्त्व, प्रकृति, सक्रिय से संबन्ध क्यों? उत्तर यह कि विषय विषयी का यह संबंध है। विषय के गुणों से व्यतिषक्त होकर भी विषयी लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता पानी से। पर

इससे तो कुछ संतोष नहीं होता। विषय आया ही कहां से ? क्या विषयों से स्वतंत्र अन्य पदार्थ है ? तो परिणाम वाद के झगड़े उठते हैं। और यदि पृथक् स्वाधीन पदार्थ हो भी तो विषयों को क्या गरज पड़ी थी कि उनमें व्यतिषंग हो ?

बौद्ध ग्रन्थों में भी सक्रिय निष्क्रिय के संबंध की चर्चा उठाई है। यह भी उन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि बुद्धदेव कभी तो, "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं" न्याय से, उत्तर ही नहीं देते थे, चुप रह जाते थे, कभी यह कह देते थे कि यह प्रश्न अनुपयोगी है, इस विषय की ज्ञान ध्यान से कोई उपयोग नहीं, हमारे काम का नहीं। स्यात् प्रष्टा को अपरिपक्व कषाय, मृदु जिज्ञासु, केवल कुतूहली, अनधिकारी समझ कर ऐसा करते हों। शान्तिदेवकृत बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ के, सक्रिय-निष्क्रिय की शंका के विषय के, कुछ श्लोक ये हैं।

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत् स्फुटमक्रियः ।
प्रत्ययान्तरसंगेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ॥
यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृतम् ।
तस्य क्रियेति सम्बन्धे कतरत् सन्निबन्धनम् ॥
कश्चिदिच्छन्ति नागच्छन् स्रष्टायत्तः प्रवर्तते ।
इच्छन्नपीरघायत्तः स्वात् कुर्वन् कुतः स्वतः ॥

अर्थात्—व्योम, आकाश शून्य की तरह ऐसा नित्य, निराकार, निर्विकार, नित्य (चेतन हो भी तो) अकेला (के ऐसा) अवश्य स्पष्ट ही अक्रिय, क्रियाहीन है। यदि उसमें भिन्न कोई प्रत्यय, हेतु कारण, उसका प्रेरक हो भी तो

निर्विकार की क्या क्रिया हो सकती है। जो क्रिया के काल में भी, क्रिया करते समय भी, जैसा पहिले था ठीक वैसा ही बना रहता है, तो उसने क्रिया का क्या किया, कौन अंश किया, किया ही क्या ? "उसकी क्रिया," यह जो (षष्ठी से कर्त्ता और कर्म का) संबंध दिखाया जाता है, उस संबंध का क्या स्वरूप है, दोनों का परस्पर बंधन, निबंधन, क्या है ? यदि अपनी इच्छा से कुछ करता है, तो निर्विकार नहीं, इच्छा रूपी विकार उसमें आया, और इच्छा के अधीन हुआ। यदि बिना इच्छा के करता है तो दूसरे के बलात्कार से करता है, और ईश नहीं है, पराधीन है। इत्यादि।

पर यहां तो काम की और बेकाम की बात की चर्चा नहीं। काम की बात तो साधारणतः "खाओ, पीयो," हो ही गई। बुद्धदेव की महाकरुणा, महाभिनिष्क्रमण, महातपस्या, महाबोधि, महापरिनिर्वाण का फल कुछ और भी होना चाहिये। और है। जैसा योगवासिष्ठ में वसिष्ठ ने राम से कहा है, यदि प्रष्टा का, जिज्ञासु का, शुश्रूषु का, अतिप्रश्नों के भी उचित उत्तर से, संतोष न हुआ, तो मुनियों का जन्म ही व्यर्थ हो जायगा।

सकललोकचमत्कृतिकारिणो
ऽप्यभिमत यदि राघवचेतस ।
फलति नो तदिमे वयमेव हि
स्फुटतर मुनयो हतबुद्धय ॥ और प्रतिज्ञा की है,
विवेकवैराग्यवतो बोध एव महोदय ॥

जिसको विवेक और वैराग्य और दृढ खोज हागी

उसको संतोषकारक बोध मिलेगा ही। "मनोरथानामगतिर्न विद्यते।"

यह चिंता ऐसी है कि जब एक बेर मन में घुस जाती है तो फिर चैन नहीं लेने देती। थोड़ी थोड़ी देर के लिये दबा दी जाय, पर जान नहीं छोड़ती। फिर फिर आती और जोर करती है। सब काल, सब देश, सब मानव जातियों में अपना प्रभाव दिखाती रही है। जितने धर्म, मज़हब, "रिलिजन" छोटे, मोटे, भले, बुरे, संस्कृत, असंस्कृत, तामस, राजस, सात्त्विक, पैदा हुए हैं, या होंगे, जितने मार्ग जितनी उपासना, जितने दर्शन, बनाये गये बनाये जा रहे हैं, या बनेंगे— सब इसी मूल चिंता के विशेष विशेष प्रकारों के, शाखा प्रशाखाओं के, मृत्यु के भय और अमर होने की इच्छा के, फल हैं।

जब तक दुःख है, जब तक मृत्यु है, जब तक मनुष्य को दोनों का भय है, तब तक यह चिंता, और उसके कार्यरूप कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, और भक्ति (उपासना) काण्ड, तरह तरह के, हैं। भारतवर्ष में वैदिक धर्मावलम्बियों ने संस्कृत भाषा में दार्शनिक दृष्टि से, आरम्भवाद परिणामवाद, विवर्तवाद तक, द्वैतवाद से लेकर अद्वैत के प्रकारों तक, विशिष्टाद्वैत से शुद्धाद्वैत तक, विचार को पहुँचाया। पश्चिम के देशों में, ईसाई आदि धर्मावलम्बियों ने, अन्य भाषाओं में, "फ़िलासोफ़ी" के शब्दों में, "क्रियेशन", "ट्रान्सफ़ार्मेशन", "मनिफ़ेस्टेशन् विद् ऐंड इमानेशन", के नाम से, अथवा "रिलिजन" और "थियालोजी" के शब्दों में, "थीइज़्म", "पैन्थीइज़्म", "मोनिज़्म" के नाम से, इन्हीं वादों के आस पास के भाषण करे। पौच्छ के देशों में, इस्लाम-

धर्मावलम्बियों ने, अरबी फ़ारसी में, "ईजादिया", "शुहूदिया", (और "दहिया"), "वुजूदिया" आदि के नाम से, प्राय वही भाव दिखाये। बहुत दूर तक विचार को लाये बहुत रास्ता साफ़ किया, मार्ग शोधा। एक वही अन्तिम गांठ, निष्क्रिय-सक्रिय के समन्वय की, सुलझाने को बाकी रह जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

पर क्रिया का होना ही, सोये आदमी का जागना ही, पलक भाजना ही, तो सत् का असत्, असत् का सत्, भाव का अभाव, अभाव का भाव, होना है। इसको समझाइये।

जब यह ठीक समझ में आजाय, कि "मैं" ही *निष्क्रिय* भी सक्रिय भी, तभी अपनी अमरता और स्वतन्त्रता सिद्ध हो, तभी दु ख का, मृत्यु का, अपने से अन्य किसी दूसरे प्रभुताशाली प्रभु का, जीव को सुख दु ख दे सकने वाले की ईशता का, हुकूमत का, अपनी पराधीनता परवशता का, भय छूटे, तब धर्म मजहब की आवश्यकता न रहे। तब मनु का श्लोक चरितार्थ हो,

सर्वं परवशं दु ख सर्वमात्मवश सुखं ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदु खयो ॥
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधि को निषेध ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य माम् (अहमम) एक शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि (प्यति) मा शुच ॥
सोऽहं ब्रह्म तत् त्वम् अपि असि।
यस्तु मूढतमो लोके यश्च बुद्धे पर गत ।
उभौ तौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जन ॥

परवशता दुःख, आत्म-वशता सुख—बस इतना निचाड़ लक्षण दुःख और सुख का जानो। पर जिसको यह पराधीनता और स्वाधीनता को चिंता उठो ही नहीं, जो दुनिया में मस्त है, वह भी सुखी, एक चाल से। जो चिंता को पार कर गया वह भी सुखी। बीच वाला जीव चिंता मे पड़ा हुआ, दुःखी। चिंता वाले की चिंता से, चिंता के पार पहुँचा जीव भी, जीव-मुक्त भी, करुणारूपी अतिम उत्तम तमस् से चिंतित और दुःखी। "ससारिणः करुणया"। पर वह भीतर से, दृढ़ निश्चय से जानता है कि बीच वाले भी, आगे पीछे, जल्दी देरी, पार पहुँचेगे ही, क्यों कि सभी तो, उसी एक ही परमात्मा के अंश हैं, अग हैं, तद्रूप हैं।

नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सकृदुपदर्शयताह तुल्यताम ॥ (महाभारत, शांति॰)

कोई भी जीव किसी दूसरे जीव से, इस समय का अनीश्वरजीव भी इस समय के ईश्वर जीव से भी, तत्त्वतः, वस्तुतः, अंततः, सुख दुःख को संपूर्ण मात्रा में, भूत, भविष्य, वर्तमान काल के अनुभवों का जोड़, मीजान, निकालने पर, कम नहीं निकलेगा। किसी की गति किसी से, परमार्थतः, अततः, अधिक नहीं है। सब बराबर है। भर्तृहरि ने भी कहा है, "अन्योऽन्य भाव भ्रम"। इस हेतु से, ज्ञानी कारुणिक जीवन्मुक्त अधिकारी ईश्वर जीव जो हैं, वे बद्ध संसरमाण अज्ञानी जीवों के लिये चिंतित होकर भी, भीतर से, हृदय से, शांत ही रहते हैं। वे निश्चय से जानते हैं कि जीव आत्मा स्वयं ही बद्ध होता है, स्वयं ही राग द्वेष पुण्यपाप करता है, स्वयं ही फलरूप सुख

दुःख भोगता है, स्वयं ही मुक्त होता है, तथा कालचक्र और आकाशगोल में; पारी पारी से, सभी जीव सब प्रकार के सुख दुःख भोग लेते हैं।

जीवन्मुक्त, शंकामुक्त, निस्त्रैगुण्य ज्ञानी को, विधिनिषेध की, धर्म-मजहब की, आवश्यकता नहीं—इसका यह अर्थ नहीं कि वह दुराचरण भी मनमाना करे और तदुचित दण्ड न पावे। नहीं। अर्थ इतना ही है कि अब स्वयं उसके भीतर, (योग सूत्रोक्त) 'धर्ममेघ', धर्मान् मेहति, वर्षति, धर्म बताने वाला, उचितानुचित कर्म विवेक कराने वाला, ज्ञान उदित हो गया है। वह स्वयं अन्तरात्मा की प्रेरणा से, अपने मन से, बिना किसी दूसरे कानून क़ायदा पोथी पत्रा शास्त्रादि की अपेक्षा के, धर्म-निर्णय और धर्माचरण करता है, और जिस शरीर से आचरण करता है उससे उस आचरण का फल भोगता है। यदि उससे कोई दुराचरण बन जाय, तो उसका दुष्ट फल भी, दुःखरूप, वह प्रपन्न और प्रसन्न भाव से, सिर झुकाकर भोगेगा। वसिष्ठ ने राम से कहा कि ज्ञान के उदय हो जाने के पीछे, "पिब, खाद, मुङ्क्ष्व, यथेच्छमास्स्व राजन्"। पीयो, खाओ, खेलो, जैसे चाहो उठो बैठो। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो मन में आवे, करो, तुमको सुख ही होगा। इसका अर्थ इतना ही है कि, जैसे माता पिता लड़के को पाल पोस लिखा पढ़ा कर बालिग़ कर देते हैं, और उससे कहते हैं कि, प्रिय पुत्र, अब तुम अपने पैरों पर खड़े हो गये, अब हमारी जिम्मादारी, उत्तरदातृता, छूटी, अब तुम भला बुरा स्वयं पहिचान सकते हो। तुम्हारी आँख खुल गई, जान गये हो कि भले काम का फल भला, बुरे का बुरा।

अब तुम स्वय सोच विचार के जैसा उचित समझो वैसा करो। परमात्मज्ञान के लाभ होने पर यही "समावर्त्तन कर्म' और अधिक उत्कृष्ट और गभीर रूप से दुहराया जाता है, ऐसा समझना चाहिये। साधारण समावर्त्तन कर्म में तो विद्यार्थी का स्थूल शरीर और बहिर्मुख मन, मनोमय कोष, परिपक्वता को यौवन प्रौढ़ि, सवयस्कता, बुलूग़ियत को, प्राप्त होता है। इस आत्मज्ञानरूपी पुनर्जन्म में, ("तृतीय यज्ञदीक्षायां") आत्मज्ञान दीक्षा में, सूक्ष्म शरीर अन्तर्मुख बुद्धि, विज्ञान मय कोष को यथाकथंचित् यौवन प्राप्त होता है, और जीव जीवन्मुक्त होकर, विविध प्रकार के (प्रकृतिलय, सालोक्य, आदि) मुक्तों के "महागार्हस्थ्य' में प्रवेश करता है, और योग्यता और वासनाशेष आदि के अनुसार 'अधिकार" की "वृत्ति" करता है। ऐसा पुराणऋषि आदि महापुरुषों के उपदेश से जान पड़ता है। पर यह स्वप्न में भी नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान मिल गया, ज्ञानी हो गये, अब जो चाहे सो उच्छृङ्खल आचरण करें, कोई दण्ड देने वाला नहीं है। बड़े बड़ों से बड़ी बड़ी चूक हो जाती है। देवों को, ऋषियों को, शाप पाकर अवतार आदि लेना और प्रायश्चित्त करना पड़ता है। "ईश्वरैरपि भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभ"। "प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षय"। विष्णु को तिर्यक् और मनुष्य योनि में, और उनके पार्षदों को दैत्य राक्षस आदि योनि में जन्म लेना पड़ा, और ऋषियों को दैत्य राक्षस आदिकों का भक्ष्य बनना पड़ा, इत्यादि। इसलिये यही जानना चाहिये कि जिन्होंने ज्ञान का अभिमान किया उन्होंने सच्चा ज्ञान नहीं

पाया, सच्चे "अह" को, परमात्मा को, नहीं पाया, "अह-कार" ही को पाया, और अभी उनको बहुत भटकना, भोगना, दंड पाना बाकी है। माया देवी की शक्ति अनंत, अपार, अथाह, अदृश्य, असह्य, अवार्य, अजेय है। ज्ञानियों को भी पकड़ के मोहकूप में फेंक देती है, यद्यपि पीछे फिर दया करके निकालती भी अवश्य है। क्योंकि अविद्या है तो विद्या भी है। इसलिये सदा उस परमात्मा जगदात्मा की जगद्धात्री शक्ति के आगे हृदय से प्रणत ही रहना चाहिए।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाक्षिप्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
विश्वामित्रपराशरप्रभृतय वाताम्बुपर्णाशना
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गता।
शाल्यन्नं दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुंजते मानवा
तेषामिंद्रियनिग्रहो यदि भवेद् विंध्यस्तरेत्सागरे॥
कामं चेज्जयन् केचित् तेऽपि क्रोधवशं गता।
उभौजित्वातु लोभेन मोहेनाथ मदेन वा॥
मत्सरेणाथ वा केचित् व्याविता विवशीकृता।
कामक्रोधावुभौ देव्या द्वाकारौ सदातनौ।
सैव गौरी च काली च कलास्तस्या मदादय॥
शिवमपि ताडवनृत्ये ज्योतिश्चक्रे भ्रमे महति।
देवी सा विनियुंक्ते किं पुनरन्ये पृथग्जीवा॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वां ॥

अस्तु। यह जो अतिम सर्वविरोधसारभूत महाविरोध, निष्क्रिय सक्रिय का, विषयी विषय का, पुरुष प्रकृति का, मैं-यह का है, इनका महासमन्वय, इन दोनों के बीच में जो तात्त्विक वास्तविक संबध "न"-कार का है, उसकी भावना करने से, इस "न" को इन दोनों के साथ लगा देने से जो महामंत्र, महावाक्य, देख पड़ने लगता है, उससे, सिद्ध हो जाता है। इसका दिग्दर्शन पहिले किया गया है। "मैं"-यह-नहीं (हूँ) इन सम्पूर्ण पारमार्थिक दृष्टि से निष्क्रियता है। यह देश, काल, क्रिया, सब अतीत है, परे है। पर देश, काल, क्रिया, सब इसके भीतर हैं। "सर्वं सर्वत्र सर्वदा।"

"मैं" है, इसमें कोई विवाद हो नहीं सकता। किसी को यह संदेह नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं हूँ।

नहि कश्चित्संदिग्धेऽहं वा नाऽहं वेति। (भामती)

इंद्रियां अपने अपने विषय की वस्तुओं की प्रमाण हैं। पर इंद्रियों का प्रमाण क्या है? "यानींद्रियाणि प्रत्यक्षसाधनानि तानि स्वयमेवाप्रत्यक्षाणि।" किसी आँख ने अपने को नहीं देखा। किसी कान ने अपने को नहीं सुना। किसी नाक, जीभ, हाथ ने अपने को नहीं सूंघा, चीखा, छूआ। यह जो वस्तु मेरे सामने है इसको "मैं" कान से, हाथ से, आँख से, जीभ से, नाक से, सुनता हूँ, छूता हूँ, देखता हूँ, चीखता हूँ, सूँघता हूँ। ये मेरी पाँच इन्द्रियाँ इस वस्तु की सत्ता और गुणों की प्रमाण हैं। पर ये इंद्रियाँ हैं—इसका क्या प्रमाण? "मैं" उनका

अनुभव कर रहा हूँ, इसके सिवाय और कुछ नहीं। जैसे दीपक अपने को भी दिखाता है और दूसरी वस्तुओं को भी, वैसे आत्मा स्वत प्रमाण, स्वयंसिद्ध, स्वयंभू होकर, सब "अन्य" प्रमाणादिकों का प्रमाण है।

सर्व प्रमाणसत्तानां प्रमाणमहमेव हि ॥

तथा "मैं" अजर अमर अनादि अनन्त अखंड निराकार निर्विशेष स्वयंसिद्ध है। इसका अपलाप न कभी हुआ न हो सकता है। "मैं" के आदि अंत का अनुभव कभी किसी को नहीं हुआ। यदि हुआ तो अनुभव करने वाला भी तो "मैं" ही हुआ, उस आदि के पहिले "मैं" रहा और उस अन्त के पीछे भी "मैं" ही है।

सविदो व्यभिचारस्तु नानुभूतोऽस्ति कर्हिचित् ।
यदि तस्याप्यनुभवस्तर्ह्ययं येन साक्षिणा ।
अनुभूत स एवात्र शिष्ट संविद्वपु स्वयम् ॥

(देवी भागवत)

सो अखंड "मैं" सब अनन्त सम्भावनीय खण्डरूप "यहों" का, एक साथ, युगपत, संभावन भी और निषेधन भी, अनुध्यान भी अपध्यान भी, करता है। अखण्ड "मैं" के लिये तो यह सम्भव है। पर खण्डरूप "यह" के लिये, "यह" की दृष्टि से, होना और न होना, भाव और अभाव, जन्म और मरण, दोनों बात एक साथ नहीं हो सकती। क्रम से होती है। इसी क्रम की आवश्यकता का नाम माया है। "या मा", जो "नहीं—है", नहीं भी और है भी। "मैं (मैं से अन्य=) यह नहीं-हूँ", यह संवित् ही परमात्मा है। सब अनन्त भूत वर्तमान भविष्य

(अर्थात् कालत्रय का) संसार, अर्थात् "यह" पदार्थ का समरण, अमंख्ययोनियों, शरीरों, उपाधियों, "यहों" का जन्म-मरण, इसमें सर्वदा वर्तमान ही है। पीछे, यहाँ, आगे (अर्थात् देशत्रय) की सब वस्तु यहाँ ही हैं। सर्व सर्वत्र सर्वदा। प्रत्यक्ष ही मैं में सब है। मैं बिना कुछ नहीं है। सब क्रिया इस निष्क्रिय मैं में है। मैं निष्क्रिय है। "यह" की आविर्भावतिरोभावरूपिणी अनन्त क्रिया, आभास-मात्र, माया-मात्र, "यह" के स्वरूप के कारण, उसके परिमितत्व की, ख ण्डत्व की, आवश्यकता के कारण, देख पड़ती है।

"मैं-यह-शरीर-नहीं हूँ।" मैं इससे अलग हूँ, भिन्न हूँ। इस शरीर के जन्म से पहिले भी मैं था, इस के मरण के पीछे भी मैं हूँगा, इस समय भी यह कथंचित् "मेरा" हो, पर "मैं" नहीं हूँ यद्यपि व्यवहार ऐसा हो रहा है माना "मैं यही-हूँ।" अच्छा, तो जिस जीव को यह बोध है कि "मैं (शरीर, और ममता-द्वारा इससे सम्बद्ध सकल जगत्) नहीं हूँ", उस जीव की चेतना में, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल में, "यह" का निषेध है, और साथ ही, इस वर्तमान काल में "यह" से "मैं" के संयोग का और इसलिये "यह" के आभासिक अस्तित्व का अनुभव भी हो रहा है। जिस वस्तु का निषेध करते हैं उस के अस्तित्व की संभावना कर के ही तो उसका अनस्तित्व वस्तुतः कहेंगे। चेतना के लिये आलाप-अपलाप, संभावन निषेधन, साथ ही होते हैं। "इस स्थान पर मेरे सामने पुष्प नहीं है"—ऐसे कहने विचारने के लिये आवश्यक है कि पुष्प की संभावना भी की जाय और

निषेध भी, अध्यारोप भी और अपवाद भी। चेतन में दोनों युगपत् हैं। क्रियातीत कालातीत देशातीत हैं। पर पुष्प की दृष्टि से एकबेर पुष्प उत्पन्न होगा, दूसरी बेर नष्ट होगा। क्रम से, स्थान में, क्रिया द्वारा। ऐसे ही, शरीर की व्यावहारिक अपूर्णदृष्टि से शरीर जन्मते हैं और मरते हैं, पर आत्मा की पारमार्थिक सपूर्ण त्रिकालातीत त्रिदेशातीत दृष्टि से सदा, कभी भी, "नहीं हैं"। क्रमरूपी काल ही मिथ्या है, शून्य है, स्वप्न है, मेरे भीतर है, 'मैं' इसके भीतर नहीं हूँ— यह ठीक ठीक पहिचानने से निष्क्रिय सक्रिय का समन्वय होता है।

बात थोड़ी है। सीधी सादी है। इतनी सीधी सादी कि शीघ्र विश्वास नहीं होता कि "मैं यह-नहीं" इन तीन अति साधारण शब्दों में ससार की सृष्टि-स्थिति-लय का रहस्य रक्खा होगा। प्यास लगने पर पानी की बहुमूल्यता जान पड़ती है। गला दबने और श्वास रुकने पर वायु में श्रद्धा उत्पन्न होती है। "अतिपरिचयादवज्ञा"। सुलभ पदार्थ में आस्था नहीं होती। स्यात् इसी विचार से प्राचीन दयामय वृद्धों ने सब कुछ कह कर भी कुछ नहीं कहा। अतिम रहस्य को "संध्या-भाषा" में, प्रहेलिका के ऐसा, छिपा दिया है। जिसमें सच्चा खोजी, सच्चा लगनवाला, खूब भूखा प्यासा होकर, उसको अत में स्वय ढूंढ निकाले, और तभी पूरा सन्तोष पावे। पास तो उसे पहुँचा दिया है। प्रथम पुरुष के शब्दों में कह दिया है। अब उत्तम पुरुष के शब्दों में वह स्वय अनुवाद कर ले, और पुरुषोत्तम ही जाय। माता ने बच्चे के आगे भोजन की सामग्री रखदी, खाय और अपने शरीर में जीर्ण करे, यह उसका काम है।

अस्ति ब्रह्मे ति चेद्वेद परोक्ष ज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मे ति चेद्वेद साक्षात्कार स उच्यते ॥
इस "संध्या भाषा" के उदाहरण कुछ देखिये ।
किमर्थं केन द्रव्येण कथं जानामि चाखिलं ।
इत्यथ चिंत्यमानाय मुकुंदाय महात्मने ॥
श्लोकार्धेन तया प्रोक्तं, भगवत्याऽखिलार्थदं ।
सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम् ॥
(देवी भागवत)
अहमेवास पूर्वं तु नान्यत् किंचिन्नगाधिप ।
सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम ॥
(दे० भा०)

"अहं—इदं अन्यत् सर्वं—न", यहाँ अखिलार्थ का देने वाला है ।

पहिले कहा कि (विष्णु अथवा श्रीमद्) भागवत में शंका उठाकर काम चलाने को कह दिया कि यह भगवान की माया नय से, न्याय से, विरुद्ध चलती है । पर फिर घुमा फिरा कर, स्थान स्थान पर, इशारा सफेत किया है, उस परम न्याय का जो साधारण पञ्चावयव न्याय से, तर्क से, अनुमान से, परे है, और इन सबका मूल भी है ।

अहमेव न मत्तोऽन्यद् इति बुद्धयध्वमञ्जसा (११-१३-२४)
अहमेवासमेवाग्रे नाऽन्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यद् एतत् च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
(२-९ ३२)

अहमेवासमेवाग्रे नाऽन्यत् किंचान्तरं बहिः ।

"अहं-अन्यत्-न" । "एतत्" के निषेध के पीछे जो बच जाय सो "मैं" "अहम्" हूँ । मैं मैं ही हूँ । अपरिमित ,मैं, मैं से इतर, भिन्न, अन्यत्, कुछ भी, यह या यह या यह, अनंत असंख्य दृश्यभूत, विषयभूत, परिमित, पदार्थ नहीं हूँ । इसमें किसको विवाद हो सकता है ।

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावन ।
समासेन हरेर्नान्यद् अन्यस्मात सदसच् च यत् ।।
(२७५०)

आत्माऽऽनानामत्युपलक्षण । (३५२३)
"अह-नाना-न" यह जो मति है वही आत्मा है ।
तद् ब्रह्म तद् हेतुर् अनन्यद् एकम् । (६ ८-३०)
त्व ब्रह्म पूर्णं अविकार अनन्यद् अन्यत ।
(८-१२७)

पुरुष यद्रूप अनिद यथा । (१०-२-४२)
अनिद चिन्ा । (२-२-२७)

पुरुष का स्वरूप, स्वभाव, "अनिद", "इद न", "एतत् न" है

इत्येवमनिदं रूप ब्रह्मण प्रतिपादितम् ।
निर्नाम्नस्तस्य नामैतत् सत्य सत्यमिति श्रुतम् ।।
(अनुभूतिप्रकाशसारोद्धार)

इदं-बुद्धिस्तु नाप्यार्थे हाहं-बुद्धिस्तथात्मनि ।
इदमर्थे शरीरे तु याऽऽहमित्युदिता मति ।
सा महाभ्रातिरेव स्यात् अतस्मिंस्तद्ग्रहत्वत ।।

तस्मात् चिद्रूप एवात्माऽहंबुद्धेरर्थ ईरित ।
अचिद्रूपमिदंबुद्धेरनात्मैवार्थ ईरित ॥
(सूतसंहिता)

"इद" "यह" बाह्य है, विषय है, अचित् है, जड़ है, दृश्य है, शरीर है, अनात्मा है। "अहं", "मैं", चित् है, चेतन है, आत्मा है। "इद" शरीर को "मैं" समझना–यही महा भ्राति है, अविद्या है। पर आवश्यक है। और "क्रम" श अविद्या के पीछे विद्या, "इद" को "मैं-न" समझना, "मैं" को "अनिद" समझना, "यह-नहीं हूँ" समझना–यही विद्या है, और इस विद्या का भी उपजना आवश्यक है। यह दोनों आवश्यकता ही माया-शक्ति का स्वरूप हैं।

उपलब्ध वदांत के ग्रन्थों में, इस सम्बन्ध म, "इद" शब्द का ही प्रयोग अधिक मिलता है, "एतत्" का प्राय नहीं। पर "एतद्" कुछ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वैयाकरणों का श्लोक है,

इदमस्तु सन्निकृष्ट समीपतरवर्त्ति चैतदो रूप ।
अदसस्तु विप्रकृष्ट तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥

"तद्" शब्द का प्रयोग ऐसी वस्तु के लिये होता है जो आँख की ओट में हो, परोक्ष हो। "अद" थोड़ी दूर वाला के लिये। "इद" पास की वस्तु के लिये। "एतद्" जो बहुत पास हो उसके लिये। इस हेतु से शरीर के लिये, उपाधि के लिये, "इद" से "एतद्" कुछ अधिक अच्छा जान पड़ता है। ("एतद्" का पुल्लिंग) "एष अहं", (किसी ने पुकारा कि, अमुक कहाँ हो, तो उत्तर में, मैं यह हूँ) कुछ अधिक सहज

पड़ता है, (इद =) "अय अह" से। (हिंदी भाषा में इदम् और एतत् के ऐसे विवेकी शब्द नहीं देख पड़ते)। "अहम् एतत्" के अनतर दूसरी काष्ठा की एकता का भाव "मम एतत्" है। अहं ता से अव्यवहित ही ममन्ता है। जिस अविद्या का घना भाव अहं ता है उसी का कुछ पतला, तरल भाव, ममता है। जिस वस्तु में "अहं" सर्वथा मग्न होगया, मीन गया, वह तो अहम्मय शरीर हो गया। "मैं चल रहा हूँ, 'मैं" बोल रहा हूँ", "मैं" खा, पी, जाग, सो, उठ, बैठ, रहा हूँ। साधारण जन ऐसा ही कहते हैं। ऐसा नहीं कि "मेरा शरीर, मेरा हाथ, मेरा पैर', ऐसा ऐसा काम कर रहा है।

मन तू शुदम् तू मन शुदी
मन तन शुदम् तू जाँ शुदी।
ता कस् न गोयद् बाद अज ई
मन् दीगरम तू दीगरी ॥

जिस समय 'मैं' की और "यह" शरीर की एकता का भाव, आग्रह, अभिनिवेश, कुछ हल्का हो जाता है, और दोनों के भेद का मान कुछ होने लगता है, उस समय "मेरा' शरीर हाथ, पैर, इत्यादि का प्रयोग होने लगता है। जिस वस्तु में "अहं" "मैं" की सत्ता संस्पृष्ट है, छूई है, पर निमग्न नहीं है, उसके लिये "मम" "मेरा" का प्रयोग होता है। इससे भी आगे बढ़कर "मेरा" (शरीर) का भी प्रयोग छूट जाता है। यथा भारतवर्ष में कोई सन्यासी ऐसा कहते देख पड़ते हैं, कि, 'यह शरीर इतने वर्ष का है, अमुक देश में जन्मा है, स्वस्थ है, अस्वस्थ है, अमुक रोग से पीड़ित है," इत्यादि।

ममेति बध्यते जंतुन ममेति विमुच्यते ।

यह तो ठीक है ही, पर निर "अहं"-कारिता एक गुना और अधिक संनिकृष्ट है, मुक्ति के, निर-"मम"-ता की अपेक्षा से ।

अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते । (गीता)

अर्थात शरीर में अहं-भाव रखनेवाला जीव अपने का (जीवात्मा को) कर्त्ता मानता है, यद्यपि समग्र क्रियाओं का निष्क्रिय कर्त्ता एक परमात्मा ही है, "कारण कारणानां" । अनतर्द्वंद्वात्मक उत्पत्ति-लयरूप क्रिया प्रतिक्रियाओं का समूह यह भूत भवद् भविष्य संसार उस "मैं" परमात्मा की एकरस धारणा में, ध्यान में, अखण्ड अनवरत एकाकार ज्ञान में, भावना, चित्, संवित में, एक साथ ही विहित भी और निषिद्ध भी होकर सदा निहित है । परिमित दृष्टि से क्रमशः आविर्भाव तिरोभाव की माया अनुभूत होती है, और परिमित कारण परिमित कार्यों की शृंखला परम्परा का भान होता है । संवित् शब्द का अर्थ यों है,

विद्यते स च सर्वस्मिन् सर्वं तस्मिंश्च विद्यते ।
तस्मात् संविदिति प्रोक्तो महान् वै बुद्धिमत्तरैः ॥
(वायुपुराण)

परमात्मा की प्रकृति स्वभाव, का किंचित् काफी रूप व्यञ्जन ही, महान आत्मा, महत्तत्व, बुद्धितत्त्व, सामूहिक बुद्धि, बुद्धिसमष्टि, सर्वदेशकालद्रव्य में व्याप्त, व्यापक बुद्धि (अंग्रेजी में "यूनिवर्सल् माइंड", "कलेक्टिव इंटेलिजेंस," फारसी में "अक़्ल-कुल्ल") को संवित् इसलिये कहते हैं कि इसमें सब

कुछ, भूत-वर्तमान-भविष्य, पश्चात-इह-अग्रे, विद्यमान है, और सब कुछ में यह विद्यमान है। "अचैतन्य न विद्यते", चेतना विना कुछ नहीं है। जो है, वह विद्यमान, "विद् से"। जो जाना जाय वह विद्यमान, "विद्यते"। विद् धातु के दोनों अर्थ। और ठीक ही। तत्त्वत दोनों अर्थ एक ही बात हैं। जो है सो जाना जाता है। जो जाना जाता है सो ही है। जो नहीं है वह जाना नहीं जाता, जो जाना नहीं जाता वह नहीं है। इस सवित् का नाम चित् भी है।

सर्वसंचयनात् चित् स्यात् चैतन्य चेतना चिति।
प्रारब्ध सचिताद्ंशश्चित्तमित्यभिधीयते ॥
चित्तस्य धर्म स्मरण सचितस्मरणात्क्रमात्।
क्रमेण व्यजन चित्तेऽव्यक्तस्य स्मरण भवेत्।
यद् हि प्रत्यभिजानाति चेतति स्मरतीति वा ॥

मन असख्य अनन्त भूत-भवद्-भविष्य भावों, ज्ञानों कर्मों का सचय इसमें सदा भरा है, इसलिये इसका नाम चित्, चिति, चैतन्य, चेतना। इस सचित की समष्टि में से किसी एक अ श का, जो अवच्छिन्न, परिमित, देश-काल में आरम्भ हो कर चेष्टा कर रहा है, व्यक्त हो रहा है, उसका नाम चित्त। चित्त का धर्म स्मरण। जो सदा क्रमरहित होकर संचित है, उसको अनत असख्य अशों में विभक्त करके (माया से) एक एक करके क्रम से उलटना, देखना, अनुभव में लाना, यही स्मरण। अव्यक्त समष्टि का चित्त में क्रमश व्यक्तीभवन, व्यञ्जन, ही स्मरण है। "स्मरति", "चेतति," "चेतयति", "प्रत्यभिजानाति" यह सब पर्यायप्राय हैं। हिन्दी में भी "चेत करो" का अर्थ

"याद करो" है। चित् का व्यञ्जन स्थान, अपरिमित चिति शक्ति की एक परिमित व्यक्ति, चित्त। अस्तु।

जैसे भागवत में घुमाफिरा कर इशारे से शंका का समाधान किया है, वैसे ही विष्णुपुराण में।

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नाऽऽन्यत् ततः कारणकार्यजातम्।
ईदृङ् मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति॥ (१ २२-२६)

"अहं (जनार्दन)—इदं (=एतत् अन्यत्, सर्वं कारणकार्यजातं)—न", इन्हीं तीन शब्दों पर ध्यान जमाना चाहिये। "अहं-इदं-न"—ऐसा जिसका मन, बुद्धि, भाव, होगया, उसको सांसारिक द्वन्द्व के रोग नहीं सताते। श्लोक का अन्वय और अर्थ दूसरे प्रकारों से भी किया जा सकता है। पर उनसे वह अर्थ सिद्धि नहीं।

योगवासिष्ठ में भी कहा है,

अकिंचिन्मात्रचिन्मात्रमस्म्यहं गगनादणु।
इति या शाश्वती बुद्धिर्न सा संसारबंधनी॥
(निर्वाण प्र०)

'अहं-अकिंचित्", अर्थात् "अहं-(किंचित् =) एतत्-न"।

पुनः पुनः ऐसे श्लोक मिलते हैं, यथा,

अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत्।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते॥
(मुमुक्षु प्र०, १ सर्ग)

अर्थात्, (अविच्छिन्नचिदात्मा एक) पुमान् (=अहं) —इतरत् (आत्मन: अन्यत् = एतत्)—न।

भागवत के पहिले ही श्लोक में चित् और जड़ का, आत्मा और अनात्मा का, विषयी और विषय का, विरोध दिखाने के लिये "इतरत" शब्द का प्रयोग किया है। ये दोनों एक दूसरे से इतर हैं, अन्य हैं। मैं का इतर यह। यह का इतर मैं।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत । (भागवत)

अर्थात्, जन्मादि अस्य दृश्यस्य यत इतरत, दृश्याद् य इतर अन्य तत, पुरुषत, अनु-अयात। सार्व-विभक्तिकस्तसिल्। यत, इसलिये कहा कि सब विभक्तियों का काम, प्रथमा से सप्तमी तक का, इससे निकल जाता है। और आत्मा, "मैं", सब तरह से "यह" का कारक है, कारण है। कर्त्ता भी, करण भी, कार्य (कर्म) भी, अधिष्ठान, उपादान, निमित्त, सहकारि, समवायि, इत्यादि सभी।

यस्मिन् यस्य च यस्माच् च यस्मै येन च य तथा।
यश्चेद च परोऽस्माच् च तस्मै सर्वात्मने नम ॥

जिसमें यह सब है, जिसका यह सब है, जिसमें से यह सब है, जिसके लिये यह सब है, जिससे यह सब है, जिसको यह सब है, जो यह सब है, जो इस सबसे परे भी है, उस सर्वात्मा "मैं" को नमस्कार है। यह भावविभक्तिक संबंध संसार का, 'यह' का, "मैं" से ही बनता है, "मैं" के सिवाय और किसी से बनता ही नहीं। प्रत्यक् ही "मैं" ही, "यह" का निषेध करता हुआ, सर्वात्मा है, परमात्मा है।

महाभारत, शांतिपर्व, सुवर्चला श्वेतकेतुसंवाद (अ० २२४) में भी गोल शब्दों में ऐसा ही संकेत किया है। सुवर्चला ने शंका किया कि पर पदार्थ अचिंत्य है, ऐसा पुराने लोग कहते हैं, फिर इस विषय की चर्चा व्यर्थ है। तो श्वेतकेतु ने कहा, नहीं,

> वेदगम्यं परं शुद्धमिति सत्या परा श्रुतिः ।
> व्याहृत्याने न (=ए)तदित्याह व्युपलिंगे च वर्तते ॥
> साधनस्योपदेशाच्च ह्युपायस्य च सूचनात् ।
> उपलक्षणयोनि व्यावृत्त्या च प्रदर्शनात् ॥
> वेदगम्य पर शुद्ध इति मे धीयते मतिः ॥
> अध्यात्मध्यानसंभूतमभूत भूतवत्सुटम् ।
> ज्ञानं विद्धि शुभाचार तेन याति परां गतिम् ॥
> यदि मे व्याहृतं गुह्य श्रुत नो वा त्वया शुभे ।
> तथ्यमित्येव वा शुद्धे ज्ञानं ज्ञानविलोचने ॥

अर्थात्, परमपदार्थ, शुद्ध परमात्मा, वेदगम्य है। श्रुति ने, उसका स्वरूप "न-एतत्" ऐसी व्याहृति से, एतत् का विधि-निषेध मात्र ही करके स्वतो व्याहृत संसार के रूप से, एतत् की व्यावृत्ति से, कहा है। इस परम पदार्थ का साक्षात् लिंग या लक्षण तो मिलता नहीं है। निजबोधैकगम्य, स्व-लक्षण, स्वप्रमाण, स्वप्रत्यक्ष, स्वयंसिद्ध है। "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"? जानने वाले को किसी दूसरे, किसी अन्य लिंग, के द्वारा कैसे जाने? जानने वाला ही अपने आपको भी, दूसरों को भी, जानता है। दूसरा के द्वारा आप नहीं जाना जाता, प्रत्युत दूसरों के निषेध प्रतिषेध द्वारा जाना जाता है। इसलिये साक्षात्

लिंग वा लक्षण से नहीं, किंतु वि-पर्व रूप, उलटे, विरुद्ध, वि-उप-लिंग से, उप-लक्षण से, जाना जाता है। "मैं" क्या हूँ ? मणि, वनस्पति आदि स्थावर उद्भिज्ज हूँ ? नहीं। स्वेदज ? नहीं। अंडज ? नहीं। पिंडज ? नहीं। इत्यादि। इस परपदार्थ, परमात्मा, के बोध स परागति, पराशांति, प्राप्त होती है। इससे इसको अचित्य कहके छोड़ नहीं देना चाहिये। यह मैंने तुमसे गुह्य, गुप्त, रहस्य बात कही, तुमने पहिचाना कि नहीं ?

गीता में भी सकेत किया है,

महात्मानस्तु मा पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता ।
भजति अनन्य-मनस ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
अनन्या श्चितयतो मां ये जना पर्युपासते ।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यह ॥

अर्थात्, जो महात्मा जीव, मेरी दैवी प्रकृति, अप्रमेय शक्ति, का आसरा करके, मुझको सब भूतों महाभूतों का अव्यय अनादि आदि कारण मान कर, अनन्य चित्त होकर, दूसरे और (अपर) किसी को मन में न रखकर, मुझे भजते हैं, सदा मेरी चिंतना उपासना करते हैं, मुझसे, मैं में मनका नित्य अभियोग किये रहते हैं, सदा मेरी याद बनाये रहते हैं, मैं उनका योग क्षेम साधता हूँ। अप्राप्त वस्तु का पाना, योग। प्राप्त की रक्षा, क्षेम।

भक्ति पक्ष में, यह सब बात श्रीकृष्ण के (बिभ्रद् वपु सकलसुंदरसन्निधानं) सकलसौंदर्य के निधिभूत लोकातिशायी शरीर में ही लगा दी जा सकती है। पर जिन जीवों को इतने

बात ठीक है, पर अपने से दूर है । इस वाक्य का अनुवाद प्रथम पुरुष से उत्तम पुरुष के शब्दों में करना होगा। जब तक प्रथम पुरुष का प्रयोग होता है तब तक अर्थ दूर रहता है । अपने पास नहीं आता । अपने गले के नीचे नहीं उतरता। अपना देह में उसका रस नहीं भीनता । "यह" "तत्" अपने से, 'मैं" से, दूर है, समझ में नहीं आता । किसी सूफ़ी ने कहा है,

गायब जो हो खुदा से आत्म है उसको "तू" का ।
अनानियत है जिसमें मौका नहीं है "तू" का ॥

अर्थात् जो जीव, जो रूह खुदा से, आत्मा से, गायब हो, ओट में हो, छिपा हो, दूर हो, जिसमें परायापन, गैरियत, नकमानियत हो, और जिससे खुद परमात्मा छिपा हो, उसके लिए 'तू", "यह" "तत्" शब्द का कहना, प्रथम पुरुष का सीगै-गायब का, प्रयोग करना ठीक है, उचित है । पर जिसमें 'अनानियत", "अपनापन", "मैं-पन', "आत्मता" उत्पन्न हो गई है, जिसमें यह बोध जाग गया है कि "मैं" ही परमात्मा "हूँ", उसके लिये "तू" कहने का भी अवसर नहीं है मध्यम पुरुष, "त्व्‌ त्वं" भी दूर पड़ता है, "यह" प्रथम पुरुष तो "गायब" हो ही गया, "मैं" ही "मैं" रह गया । सीग़ा ग़ायब व सीग़ा हाज़िर या मुख़ातिब दोनों गायब हो कर सीग़ा मुतकल्लिम ही रह गया । प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष दोनों उत्तम पुरुष में लीन हो गये ।

दूसरे सूफ़ी ने इसी अर्थ को, कोमल भी और प्रौढ़ भी विनोद के साथ, उत्तमता से कहा है,

जाहिदे गुमराह के मैं किस तरह हमराह हूँ ।
वह कहे अल्लाह है औ मैं कहूँ अल्लाह हूँ ॥

क़ुरान में भी कहा है,

इन्नि अनल्लाहु ला इलाहा इल्ला अना ।

जिसका अक्षरश अनुवाद यह पूर्वोक्त भागवत का श्लोकार्ध है,

अहमेव न मत्तोऽन्यत् ।

बाइबल् में भी अक्षरश यही कहा है,

"आइ, ईवन आइ, ऐम् दी लार्ड, ऐंड बिसाइड् मी देयर इज नो सेवियर । - आइ ऐम् गाड ऐंड देयर इज नन् एल्स ।"
(इशाया, अ० ४३, ४५, ४६)

"मैं", "अना", "आइ" । "इल्ला", "एल्स", "अन्यत्" । "नो," "ला", "न" । "मैं" के सिवाय कोई दूसरा खुदा, गाड, नहीं है, मैं के सिवाय और (अपर, अन्य) कुछ, नहीं (हूँ और है) ।

गीता में कहा है,

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर ॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽह अक्षरादपि चोत्तम ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥

विष्णु पुराण में कहा है,

विष्णो स्वरूपात्परतो हि तेऽन्ये
रूपे प्रधान पुरुषश्च विप्र ॥

क्षर, अर्थात् प्रकृति की सब नश्वर विकृतियाँ, नाना रूप, प्रतिक्षण परिणामी, परिवर्त्ती, सक्रिय, संसरमाण, अस्थिर। तथा अक्षर, अर्थात् सदा स्थिर, निष्क्रिय, कूटस्थ, अविकारी, एकरूप, प्रत्यग-आत्मा, अनादिप्रवाहवती प्रकृति से मानो प्रत्यक् उलटे खींचा हुआ, प्रत्याहृत, अलगाया हुआ, मानो उसका प्रतिद्वन्द्वी, विरोधी। इन दोनों से अतीत और उत्तम। क्षर से तो अतीत, स्पष्ट ही। और केवल अक्षर से भी उत्तम, अर्थात् शून्यवत् नहीं, अहम्मात्र नहीं, प्रत्युत समस्त क्षरों को अपने भीतर लेकर निषेधता हुआ, अक्षर, एतत्-न कहता हुआ अहं। मूलप्रकृति और प्रत्यगात्मा का समाहार, परमात्मा। एतत् हुआ क्षर, प्रकृति। अहं हुआ कूटस्थ, अक्षर, प्रत्यगात्मा। "एतत्-न" ऐसा समझता बूझता (सम्बुध्यमान, बुध्यमान) "अहं", "अहं-एतत्-न" इति संपूर्णसंवित्स्वरूप अहं जो है, वही परमात्मा पुरुषोत्तम है। बिना इस उत्तम पुरुष "मैं" की, पुरुषोत्तम की, शरण लिये, बिना मैं में पुरुषोत्तम की भावना किये, बिना अपने को पुरुषोत्तम समझे बूझे, गति नहीं। प्रथम पुरुष से, मध्यम पुरुष से, "यह" से, 'तुम' से, काम नहीं चलने का। "मैं" को सर्वोत्तम, सर्वज्येष्ठ, सर्वश्रेष्ठ करके पहिचानना (प्रत्यभिज्ञान करना) होगा। तभी कल्याण होगा, भय जायगा, अमरता मिलेगी, अर्थात् यह स्मृति उत्पन्न होगी, याद आ जायगी, कि "मैं" तो सदा अमर है ही, हूँ ही। "ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति"। सूफ़ियों ने भी कहा है, "अल्‌आन कमा कान", "मैं जो हमेशा था सो अब भी हूँ।" (सूफ़ियों की इस्तिलाह अर्थात् पारिभाषिक शब्दों में, परमात्मा

को ऐनि मुरक्कब या खुदा-इ मुरक्कब, प्रत्यगात्मा को ऐनि मुजर्रद या खुदा इ-मुजर्रद, और जीवात्मा को ऐनि-मुअय्यन कहेंगे।)

अनंतद्वन्द्वविरोधपरिहार।

सब द्वन्द्व-द्वन्द्व, दो दो, जोड़ा जोड़ा-विरोध, असत्य, अनंत, इस संवित् के भीतर हैं। सबका समन्वय, मेल, समझौता, वैरपरिहार, सब आश्चर्य भी इसके भीतर है।

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्या।
तद् ब्रह्म विश्वभवमेकमनंतमाद्य
आनंदमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ (भागवत, ४ ९-१६)
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभिर्
द्रव्यक्रियाकारकचेतनादिभिः।
तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे॥ (४-१७-२८)
सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनाऽनशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः॥ (२ ६-२०)

"मैं-यह"=अविद्या, और (मैं) यह नहीं=विद्या, दोनों अत्यन्त विरुद्ध भाव इस संवित् में प्रत्यक्ष ही हैं। अव्यक्तावस्था में दोनों साथ हैं, युगपत् हैं। व्यक्तावस्था में क्रमशः, आनुपूर्व्या। अविद्या और विद्या, इन दो विरुद्ध शक्तियों के अवांतर भेद, जो सुखद दुःखद, जीवक मारक, विकासक संकोचक, उत्क्षेपक पातक, पोषक नाशक, इत्यादि विरुद्ध गति वाली विविध शक्तियों के रूप में हैं, वे सब भी अवश्य ही इसके भीतर हैं।

जब ये दोनों परमविरुद्ध "मैं" और "न मैं" (यह), "हूँ" और "नहीं (हूँ)", इसके भीतर आगये तो कौन विरोधी जोड़ा बाहर रह सकता है ? अव्यक्त में दोनों साथ प्रत्यक्ष हैं। व्यक्त में आनुपूर्व्या, क्रमशः, भी प्रत्यक्ष हैं। यही विरोध का परिहार समाहार है। संपूर्णदृष्ट्या युगपत् निष्क्रिय। खंडदृष्ट्या क्रमशः सक्रिय। अंत में हां-नहीं एक साथ। मुँह से एक बेर हां, दूसरी बेर नहीं। "अहं-एतत्", "मैं-यह", यह आदिम पहिला जोड़ा, पुरुष प्रकृति का, पुमान-योषिता का। विरुद्ध भी, और अन्योन्याध्यास से समान भी, विदृश भी सदृश भी। जैसे दर्पण की मूर्ति और मूल, दक्षिण-वामा।

"एकाकी नारमत, आत्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां" (बृह०)।

अकेले यह नहीं रमा, तब अपने को इसने दो कर डाला, पति और पत्नी हो गया।

एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं सर्वाणि वामानि (विरुद्धानि, द्वंद्वानि) अभिसंयंति, एष उ वामनी, एष हि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ भामनी, एष सर्वेषु लोकेषु भाति। (छां०)

इसका नाम संयद्वाम है। सब वाम, विरुद्ध पदार्थ, इसके भीतर बैठे हैं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (ईश)

वह चलता भी है, नहीं भी चलता है दूर भी है, पास भी, सबके भीतर, सबके बाहर।

अणोरणीयान् महतो महीयान् ।
आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सर्वत ।
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति । (कठ)

छोटे से छोटा, बड़े से बड़ा। ठहरा हुआ भी दूर दूर चल रहा है। सोया हुआ भी सब जगह घूम रहा है। इस "मैं" और "न-मैं" (अनात्मा, एतत्) दोनों को अपने भीतर रखने वाले देव को "मैं" से "अन्य", मैं के सिवाय दूसरा, कौन जान सकता है ?

अस्थूलोऽनणु, रमध्यमो मध्यमो,ऽव्यापको व्यापको, हरि-रादिरनादि, रविश्वो विश्वा, निर्गुणस्सगुण इति। तुरीयमतुरीय, आत्मानमनात्मान, उग्रमनुग्र, वीरमवीर, महान्तममहान्त, विष्णुमविष्णु, चलतमचलत, सर्वतोमुखमसर्वतोमुख, इति।
(नृसिंहतापनी)

गर्भीकृतमहाकल्पो निमेषोऽसावुदाहृत ।
आक्रान्तकल्पेनानेन न संत्यक्ता निमेषता ॥
अकुर्वन्नेव ससाररचना कर्तृता गत ।
कुर्वन्नेव महाकर्म न करोत्येव किंचन ॥
(योग वा०, नि प्र०, पू० अ० ३६)

न स्थूल है, न अणु, । मध्यम भी है और आगे पीछे भी। व्यापक भी है और परिमित भी। आदि भी और अनादि भी। विश्व भी और अविश्व भी। निर्गुण भी सगुण भी। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से परे भी, और उनमें अनुस्यूत भी। आत्मा भी अनात्मा भी। उग्र भी नम्र भी। वीर भी भीरु भी। बड़ा भी छोटा भी। विष्णु भी, सबमें व्याप्त, सबको सोये हुए,

का, एक समुदाय का, एक समाज का, एक राष्ट्र का, एक महाराष्ट्र का। और भी। बहुत सी छोटी छोटी जातियाँ मिलके एक महा जाति बन जाती है, फिर महा जाति बिखर कर बहुत सी छोटी छोटी जातियाँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं। बहुत से छोटे छोटे राज्य एक में मिल कर एक साम्राज्य बन जाता है, फिर वह बिगड़कर, छोटे छोटे राज्य हो जाते हैं। एक से अनेक, अनेक से एक। यथा भारतवर्ष के इतिहास में, युधिष्ठिर से पहिले और पीछे। चन्द्रगुप्त और अशोक से पहिले और पीछे। हर्षवर्धन से पहिले और पीछे। समुद्रगुप्त से पहिले और पीछे। तथा पश्चिम में पारसीक, मिस्र देशीय, रोम, मकदूनिया (सिकंदर) आदि के साम्राज्य के पहिले और पीछे। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज। एक से अनेक, अनेक से एक। और जो कथा एक मानव व्यक्ति, या कुल, समाज, आदि की, वही कथा ब्रह्म के अंडों, ब्रह्मांडों, पृथ्वी, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, आदि ग्रहों, सूर्य, अगस्त्य, सप्तर्षि आदि तारों, तथा सौरसंप्रदायों, और अनंतानंत ऋक्षों और ऋक्षसंप्रदायों और ब्रह्माण्डसमूहों, विराटों और महाविराटों, की है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (गीता)

यह सब आवागमन की अनादि अनंत परम्परा खंड दृष्टि से, व्यवहार दृष्टि से, "मैं-यह" और "यह-नहीं" के दो टुकड़ों की दृष्टि से, क्रममय प्रतीत होती है। जभी इससे चित्त खिन्न होता है, जभी यह आवागमन उसको असह्य भार सा

जान पड़ने लगता है, जभी यह इससे घबराता है, तभी उस चित्त के पीछे जो द्रष्टा है, चित् है, प्रत्यगात्मा, परमात्मा है, जिसमें असख्य चित्त, चेतित "यह", "जीवात्मा", मन, अत:-करण, भरे पड़े हैं, वह सम्पूर्ण दृष्टि से, परमार्थ दृष्टि से, "मैं-यह-नहीं (हूँ)" की एकरस एकाकार निर्विशेपदृष्टि से, इस सब अनंत चक्र और भ्रम को अपने भीतर बंद, समाप्त, लीन, शात, देखता है। "शेते च सर्वमापीय", सबको पीकर सोता है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

अर्थात्, स्वयभू ने, आत्मा ने, अपने लिये जो इंद्रियाँ बनाईं, उनको बाहर की ओर फोड़ निकाला, इस लिये बाहर की ओर, पराक् वस्तु को, अपने से अन्य और बाह्य माने हुए दृश्य को, देखता है। जब थक कर, धीर होकर, भीतर की ओर आँख फेरता है, तब अपने को, प्रत्यक् वस्तु को, आत्मा को, देखता है।

संसार की किसी वस्तु के बृहत् परिणाम से ही जीव को भयभीत नहीं होना चाहिये। दीर्घ विचार से इसको स्थिर करना चाहिये कि संसार की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु, जो कुछ भी दृश्य है, विषय है, अथवा सुख और दु ख के असंख्य प्रकारों का अनुभव है—सभी चित्त की, अंत करण की, वृत्तियाँ ही हैं। बात प्रत्यक्ष है।

यदि आप कहते हो "एक घंटा", तो अवश्य एक घटा का जो कुछ अर्थ है, इतना काल, इतना समय, वह आपके चित्त में है, आपकी चित्त की वृत्ति है, आपका चित्त तदाकार हो रहा है। यदि "एक वर्ष", तो भी वही दशा है। यदि "दस वर्ष', तो भी। यदि "सौ वर्ष"—तो क्या अब आपको सदेह होने लगा? मेरी आयु तो इतनी नहीं है, मेरे चित्त के भीतर सौ वर्ष कैसे आ सकता है! और जब लाख या कोटि वर्ष की चर्चा की तब तो यह सदेह बहुत दृढ हो जाता है। तो क्या जब आप "सौ या लाख या कोटि वर्ष" कहते हो, तो ये शब्द आपके मुँह में अर्थ रहित हैं? ऐसा नहीं। सार्थ हैं। यही कथा, जो काल के परिमाण की है, वही देश के परिमाण की भी है, यथा एक हाथ, एक कोस, एक योजन, एक सहस्र या लाख या कोटि योजन। एक कोस, एक योजन आदि सभी आपके शरीर के परिमाण स अधिक हैं, पर ये शब्द आपके मन में बहुत ही सार्थ हैं। शरीर के कालकृत देशकृत अवच्छेद में और चित्त की वृत्ति में समानता नहीं। अथवा समदर्शिता के नियम से समानता ही चाहिये तो समानता भी आपको मिल सकती है। यह जो खगोल का अर्ध आप चर्म के चक्षु से देखते हो, यह तो विस्तार में अनत कोटि योजन है, इसमें अनत कोटि ब्रह्माड, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्र तारा, भरे पड़े हैं, पर सबका सब आपकी आँख के एक अति सूक्ष्म भाग पर प्रतिबिंबित हो जाता है। छोटे से छोटे दर्पण में भी। तो फिर चित्त में क्यों नहीं। प्रत्यक्ष ही चित्त, मन, अतःकरण, जीव भी,

आत्मा के अध्यास से अणोरणीयान् महतो महीयान् है। जब जीव कोटि वर्ष या कोटि योजन का ध्यान करता है, तो यह सब उसके भीतर आ जाता है। जीव उससे बड़ा हो जाता है। छोटे पदार्थ के लिये छोटा हो जाता है। छोटा, बड़ा, दूर, पास, यह सबही चित्त के भाव हैं, वृत्तियाँ हैं।

योग वासिष्ठ में कहा ही है,

इमे समुद्रा गिरयो ब्रह्माडानि जगन्ति हि।
ममात्त करणस्यैव खडा बहिरिव स्थिता ॥

तथा सभी सुख दुःख। इसको दृढ़ रूप से निश्चय कर लेने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी कि यह सब ससार, आत्मा की लीलामात्र है, नाटक है, सुख को भी दु ख को भी आत्मा अपने ऊपर अध्यारोप करता है, दु ख में भी नाटक के रौद्र भयानक वीभत्स करुण आदि रसों का इच्छापूर्वक आस्वादन करता है, सुख में भी शृ गार, हास्य, वीर, अद्भुत आदि का, और सर्वोपरि शात का। क्योंकि संपूर्णदृष्टि से यह सब लीला, महाशिलासत्तावत्, निश्चल है, निष्क्रिय है।

समदर्शिता का अर्थ यही है कि जो ही नियम, जो ही अन्योऽन्यभाव, जो ही अनुपात या निष्पत्ति, छोटे के जीवन का नियमन करते हैं, वे ही बड़े का। यथा पिंडे, तथा ब्रह्माडे। यदि गुणन अनंत है तो भाजन भी। यदि महत्त्व का अंत नहीं तो अणुत्व, लघुत्व, अल्पत्व का भी अंत नहीं।

विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन ॥

इसका यह अर्थ तो प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता कि हाथी और चींटो का परिमाण बराबर हैं, और सड़क पर चलने को दोनों को तुल्य परिमाण का ही अवकाश मिलना चाहिये। इसका अर्थ यही है कि जो आत्मा के नियम एक में देख पड़ते हैं, वे ही दूसरे में भी।

यावानय वै पुरुष यावत्या सस्थया मित ।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया ॥

जैसे एक पुरुष के शरीर में अगों का सस्थान है उसीके समान महाविराट् पुरुष के शरीर में विविध लोकों का सस्थान है। जैसे एककी उत्पत्ति, स्थिति, लय, तैसे दूसरे की।

इतिहास में पुराण मे, महाकाव्य में, हजारों अथवा लाखों वर्ष के क्रमिक इतिवृत्त एक साथ ही लिखे पड़े हैं। उनके लिखने वाले महा कवि के चित्त में, स्मृति में, भी सब उद्द त एक साथ ही भरे हैं। अव्यक्त रूप से। लिखने या पढ़ने वाला लिखने या पढ़ने लगे तो एक एक को क्रम से ही लिखे पढ़ेगा। लिखना पढ़ना वद कर दे तो फिर ज्योंकी त्यों निष्क्रमता और अव्यक्तता हो जाती है। यह भी परिमित दृष्टि से ही, निष्क्रमता और सक्रमता में क्रमिकता देख पड़ती है। अपरिमित दृष्टि से दोनों, अव्यक्तावस्था, कारणावस्था, प्रसुप्तावस्था, निष्क्रमता और व्यक्तावस्था, कार्यावस्था, जागरावस्था, सक्रमता, सब एक साथ हैं। [सूफियों के सकेत में, अव्यक्त को निहाँ, (तिरोभूत, छिपा) बातिन (भीतरी) खुफ्ता (प्रसुप्त) कहते हैं, और व्यक्त को अयाँ, (प्रकट, आविर्भूत), जाहिर (बाहरी), बेदार (जागता)। "लहा" शब्द अरबी का है,

इसका अर्थ लीला, नाटक, खेल है। अलिफ लाने से महत्त्व का अर्थ उत्पन्न होता है। जैसे "किब्र' का अर्थ बड़ा, तो अकबर का अर्थ सबसे बड़ा। इसी तरह "लहो" का अर्थ लीला, तो "अल्लाह" का अर्थ सबसे बड़ा लीला करने वाला। अध्यारोप अपवाद को तशबीह-तनजीह, निर्गुण-ब्रह्म को जाति-ला-सिफ़ात, सगुण को जाति-बा-सिफ़ात, सत् चिद्-आनंद को वुजूद-नूर-शुहूद, नेति अथवा निषेध को इसक़ातुल-इशारत, सूफ़ियों की इस्तिलाह में कहते हैं। ऐसा सूफ़ी दोस्तों से मालूम हुआ। उपनिषदों में जगद्रचयिता के लिये, इसी आशय से, "पुराण कवि' आदि नाम मिलते हैं।]

य स्वात्मनीद निजमाययाऽर्पित
क्वचिद्विभात क्व च तत्तिरोहित ।
अविद्धदृक् साक्ष्युभय तदीक्षते
स आत्ममूलोऽवतु मा परात्पर ॥ (भागवत)

अर्थात् यह परम मायावी लीलाशील परमात्मा मैं, अपने स्व भाव रूप संसार की व्यक्तावस्था और अव्यक्तावस्था दोनों का, एक साथ ही अनुभव करता है।

विरोधी द्वन्द्वों से संसार बना है इस बात को क़ुरान में भी पहिचाना है।

"मिन् ख़लक़्ना कुल्ले शयेन् ज़ौजैन्।"

"मैंने, परमात्मा ने, अल्ला ख़ुदा ने, सब चीज जोड़ा जोड़ा पैदा की हैं"। (अरबी में अल्ला के कई नाम भी ऐसे ही विरुद्धशक्तिद्योतक जोड़ा जोड़ा कहे हैं, जैसे रहमान-जब्बार अर्थात् शकर-रुद्र, ह्हई-मुमीत अर्थात् पालक-

सहारक, मुजिल-हादी अर्थात् मायी-तारक, बंधदाता मोक्ष दाता, वगैरह)। और ये विरोधी एक दूसरे का नाश कर देते हैं, जैसे जोड़ और घटाव, गुणन और विभाजन, लहना और देना। और फल सदा शून्य, "ख", सिफर, जीरो, रह जाता है, जो परमात्मा का, ब्रह्म का, मैं का स्वरूप है। महाजन का कारखाना बड़ा भारी है, लाइतिहा है, अनंत है, अनगिनत आदमियों से अनगिनत पावना है और अन गिनत आदमियों को अनगिनत चुकावना है। पर जितना ही सब लहना है उतना ही सब देना है। दोनों की मीजान बराबर है। असली पूंजी 'कुछ-नहीं" है, "अ किंचित्", "एतन-न", माया है। और जितने लहनेदार और देनदार हैं, वे सब भी मेरे ही रूपांतर हैं, मैं ही हैं।

विद्या चाऽऽविद्या च यस्तद्वेदोभय सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽऽमृतमश्नुते॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽऽमृतमश्नुते॥
(ईशोप०)

अविद्या को और विद्या को, दोनों को, जो एक साथ (सह) जाने वह(स ह) अमृत का स्वाद ले, अमर हो। "मैं-यह (शरीर हूँ)" यही अविद्या। अनित्य, अशुचि, दु:खमय अनात्मा को, हाड़ मास के पिंड को, "यह" को, नित्य, शुचि, सुखमय, निराकार आत्मा, "मैं" मान लेना—यही अविद्या है। "अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या (योगसूत्र) "मैं (ही, यह नहीं, हूँ), यही विद्या। "तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽव-

स्थान", "स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति", (योगसूत्र)। अपने स्व रूप में प्रति-स्थित, प्रतिष्ठित, दृढ़ रूप से स्थित, द्रष्टा, चेतना, चिति शक्ति, "यह-नहीं-हूँ" ऐसे अपने रूप को पहिचानने पर। अविद्या से मृत्यु का, नश्वरता का, अनित्यता का, अनुभव होकर, उसके पार जाकर, विद्या से नित्यता का, अमरता का अनुभव होता है। दोनों सह, एक साथ, युगपत्, इस महावाक्य से सूचित सवित् में विद्यमान हैं। "यह" की सभूति, संभव, और उसका विनाश, दोनो इसमें सदा साथ ही मौजूद हैं। विनाश के द्वारा मृत्यु के पार पहुँचता है, मैं की अनंत सत्ता के सयोग से, अध्यास से, एतत् में, यह में, जो अनत आविर्भाव तिरोभाव की संभूति आगई है, उसके द्वारा अमरत्व का अनुभव करता है। अजन्मा, अजर, अमर तो है ही, पर शरीरों, उपाधियों, के आविर्भाव तिरोभाव के अनादि अनत प्रवाह के द्वारा विशेष रूप से अमरता का अनुभव करता है।

अविप्रणाश सर्वेषा कर्मणामिति निश्चय ।
कर्मजानि शरीराणि शरीराकृतयस्तथा ॥
महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रयात् ॥
तेषा च नित्यसंवासो न विनाशो वियुज्यताम् ॥
(म० भा०)

अर्थात्, मैं विषयी, द्रष्टा, आत्मा, प्रत्यगात्मा, परमात्मा, नित्य है। अनात्मा, आत्मेतर, आत्मा से अन्यत, "यह", विषय, दृश्य, अनित्य है। अनित्य तो है, पर नित्य आत्मा के ध्यान में, अवधारण में, सवित्, चित्, बोध, ज्ञान में है। इसी हेतु

से तो जो कुछ भी क्षणिक सत्ता का आभास उसमें है सो है। "मैं" "यह" का उद्भावन संभावन करता है, अपलाप के वास्ते। इतने ही उद्भावन से उसमें सत्ता का आभास आ जाता है, और अपलाप स असत्ता उसमें देख पड़ती है। पर यदि अनित्य पदार्थ भी नित्य से छू गया, तो उसमें नित्यता का आभास भी आ जायगा, जैसे ही सत्ता का। नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत। सत् और नित्य, एक ही वस्तु, एक ही भाव। जहाँ सत्ता वहाँ नित्यता। जहाँ सत्ताभास वहाँ नित्यताभास भी। इसका विवर्त्त भी ठीक है कि जहाँ असत्ता और असत्ताभास तहाँ अनित्यता और अनित्यताभास भी। ऊपर देख चुके हैं कि मैं और यह में परस्पर अन्योऽन्य गुणों का अध्यास हो जाता है। पर एक ही चीज नित्य भी अनित्य भी, अनित्य भी नित्य भी—यह कैसे बने? तो ऐसे बने। अन त असंख्य आविर्भाव-तिरोभाव से। भूताधिपति आत्मा का संश्रय होने से सब कर्म, सब कर्म से जनित शरीर, सब शरीरों के सूक्ष्म से सूक्ष्म आकार प्रकार, सब महाभूत, तत्त्व आदि, सभी नश्वर पदार्थ भी अनश्वर हो जाते हैं, क्यों कि "अह -एतन्-न" इस महाबोध में एतत् के असंख्य भेद रूप ये सभी सदा "वर्त्तमान" हैं। भूत नहीं, भविष्य नहीं, सदा "वर्त्तमान" हैं, कारणावस्था में, अव्यक्त, अनुद्बुद्ध, स्मृति रूप से, "कारण मस्त्यव्यक्तम्"। मेरी स्मृति में जो बातें भरी पड़ी हैं, उनको फिर फिर जगाता और सुलाता रहता हूँ, बाहर प्रकट करता हूँ और फिर अन्तर्हित कर देता हूँ। यह दशा समस्त ससार की है।

क्रीड़न्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ।
यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शांतात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥
एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यां इदं सर्वं चराचरं ।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ (मनु)

जब ब्रह्मा जागते हैं तब सृष्टि उत्पन्न होती है। पुराकल्प की "स्मृति" के अनुसार इस अपने जगत् की रचना आदि करते हैं। वेद अर्थात् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक ज्ञानसार, ज्ञानसमूह, ज्ञानसर्वस्व, जो सदा ब्रह्म में है, अथवा ब्रह्मस्वरूप है, उसका स्मरण प्रत्येक ब्रह्मा, व्यक्त ब्रह्माण्ड के अधिपति, करते हैं। जो अनन्त ज्ञान ब्रह्म में, परमात्मा में, अव्यक्तरूप से सदा "वर्त्तमान", "विद्यमान" है, वह व्यक्त ब्रह्मा की बुद्धि में क्रमिक, भूत भवद्-भविष्य रूप क्रम से, उपजता है। जब ब्रह्मा सोते हैं तो सारा उनका जगत् भी सो जाता है, प्रलीन हो जाता है। "ब्रह्मणा सह मुक्तिः"। और यह क्रिया सोने जागने की प्रत्येक ब्रह्मा, परमेष्ठी, पुनः पुनः, मानों क्रीड़ा से, लीला से, करते रहते हैं।

निष्कर्ष यह कि परमात्मा के ज्ञान में अनित्य भी अव्यक्त रूप से नित्य हो गया। विनाश हो जाने पर भी पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है। और यह अनन्त वार पुनरुत्पत्ति का संभव ही उसकी आभासिक नित्यता है, अविप्रणाश है। दूसरी ओर, नित्य आत्मा को भी शरीर में पड़ जाने के कारण मरणरूपी अनित्यता के आभास अभ्यास का "पुनः पुनः" अनुभव होता है।

"कोऽहम्" । "मैं" क्या है, क्या हूँ ? स्थावर, परमाणु, अणु, तत्त्व, महाभूत, अश्मा, मणि, उद्भिज्ज, ओषधि, वनस्पति, गुच्छ, गुल्म, तृण, वीरुत्, वृक्ष, वल्ली, आदि बीज-काण्डरुह, हूँ ? नहीं ।

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ (मनु)

स्वेदज, दंश, मशक, कीट, पतंग हूँ ? नहीं । अण्डज, मछली, कछुआ, साँप, मगर, घड़ियाल, छिपकिली, गोह, गरुड़, गृध्र, हंस, शुक, काक, बक, चटक, आदि हूँ ? नहीं । पिंडज, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बकरी, भेड़, मृग, सिंह, व्याघ्र, तेंदुआ, बिल्ली, चूहा, नेवला आदि हूँ ? नहीं । वानर, लंगूर, वनमानुस, आदि हूँ ? नहीं । काले, पीले, लाल, सफ़ेद, जात, परजात, ऊँची जात, नीची जात, भले, बुरे, पुण्यवान्, पापी, सुखी, दुःखी, मोटे, पतले, रोगी, स्वस्थ, धनी, निर्धन, मूर्ख, विद्वान्, शूर, भीरु, श्रमी, आलसी, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, हूँ ? नहीं । भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, रक्षस्, पूतना, कूश्माण्ड, अप्सरा, गंधर्व, सिद्ध, विद्याधर, मुनि ऋषि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि, उपदेव, देव, इन्द्र, वरुण, सोम, मरुत, अग्नि, ब्रह्म, विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य आदि हूँ ? नहीं । "मैं" "मैं" ही हूँ । मैं के सिवा अन्य इतर अपर, (और) कुछ नहीं हूँ ।

एतद्-अन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्या समुदाहृता ॥ (मनु)

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम् ।

कूर्माश्च नवलक्षं च दशलक्षं च पक्षिण ॥

त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः ।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ब्रह्मज्ञानं ततोऽभ्यगात् ॥
(बृहद्विष्णुपुराण)

इसमे दो लाख मनुष्यादि योनि जोड देने से इस ब्रह्माड की प्रसिद्ध चौरासी लाख योनियों की गिनती पूरी हो जाती है। माया से आत्मा इन योनियों को, शरीरों को, क्रम से, ओढ़ता और छोड़ता भासता है। पर वस्तुत यह सब अनन्त ओढने-छोड़ने की क्रिया एक ही अपरिमित असीम क्षण मे, (महाशिलासत्तावत्) परमात्मसंवित् मे "वर्त्तमान" है, कालातीत है, क्रमत्रय से परे है। और भी माया की लीला को देखिये। जीव भाव को, भेदभाव को, असख्य योनियों की उपाधियो में बद्ध भाव को, आत्मा स्वय ओढता-छोड़ता है, पर मोहवश, जब छोड़ना चाहता भी है, तब भी छोड़ने से डरता भी है।

अष्टावक्र गीता में कहा है,

इहामुत्रविरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
सततं मोक्षुकामस्य मोक्षादेव विभीषिका ॥

ऐहिक और आमुष्मिक सुखों से विरक्त भी है, नित्य और अनित्य का विवेक भी निश्चय स कर रहा है, मोक्ष की इच्छा भी सतत लगी है, तौ भी माया का, वासना का, प्रभाव ऐसा है कि जब मोक्ष सामने आती है तब एक बेर उसीसे भय जान पड़ने लगता है। कारण यह कि अभी परमात्मा में दृढ़ निश्चय, निष्ठा, नहीं हुई है, डरता है कि शरीर छोड़ने से सर्वथा नाश हो न हो जाय। पर शीघ्र ही निष्ठा, नितरां स्थिति, हो जायगी।

अंध तम प्रविशति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥ (ईश)

जो अविद्या में पड़े हैं, वे तो अंधकार में हैं ही। पर जा विद्या की उपासना करते हैं वे एक बेर तो मानों उसस भी वहुत गहरे अंधेरे में घुसते हैं। अह का, मैं का, अर्थ, चिर काल से, परिमित शरीर समझ रक्खा है। "मा न भूव हि भूयासमिति प्रेमात्मनोक्ष्यते," मैं सदा वना रहूँ, मेरा नाश कमी न हो, ऐसा स्वाभाविक प्रेम आत्मा को अपने से है, और उस आत्मा को शरीर समझ रक्खा है, तो ऐसी प्रिय वस्तु को छोड़ते अवश्य बड़ा मोह, बड़ा भय, बड़ी करुणा, उमड़ती है। साकार को ढूंढ़ता है, शुद्ध निराकार में पर विश्वास ढो होकर हटता है। पर, नहीं, वही तो अंतिम शरण है, अंत में "मैं" "मैं" पर ही आस्थित, आस्था-युक्त, होता है। "तमसस्तु परे पारे", गहन अंधकार के पार, उस ज्योति को दृढ पहिचानता है और शांति पाता है ❀। शौनक ने सूत स पूछा,

---

❀ मौलाना रूम की मसनवी में उपनिषदों के इसी आशय का अनुवाद है।

सजल्ली गर तू ख्वाही नूरि जातस्त ।
व तारीकी दरू आये हयातस्त ॥

गहिरे अंधरे के भीतर आत्मा का अद्वितीय अनुपम सर्वश्रेष्ठ प्रकाश, "वरेण्य भर्ग" छिपा हुआ है। "उद्वय तमस परि ज्योतिष्पश्यन्त," "तमसः पारं दर्शयति" (छां०), "यस्य तमः शरीर" (बृ०), "आदित्यवर्णं तमस परस्तात्" (श्वेत०) "तमसः परस्तात्" (मु०, कैव०, महाना०, नृ उ०)।

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि श्रुतानि च।
तस्मात् साधोऽत्र यत्सारं तदुद्धृत्य मनीषया।
ब्रूहि न श्रद्दधानानां येनात्मा संप्रसीदति॥

अर्थात्, शास्त्र बहुत, अरु कर्म बहुत, सब सुनत करत न ओराय,
सो, साधो, जो सार चुन्यौ तुम, अपनी बुद्धि बराय,
वही कहौ, जो सुनि श्रद्धालुन की आतमा जुड़ाय।

सूत के उत्तर का निचोड़ यह है,

मां (अहम्) विधत्तेऽभिधत्ते मां (अहम्) विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः सर्वमास्थाय मां भिदां।
मायामात्रमनूद्याते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥

(भागवत)

सब वेद, और सब संसार, का काम इतना ही है कि "मैं" के ऊपर असंख्य अनंत भेदों से भिन्न भावों का अध्यारोप, ऊहन, अभ्युपगमन, विशेष कल्पन, संकल्पन, उद्भावन, संभावन करके, पीछे उनका अपवाद, अपोहन, निरसन, अप कल्पन, वि(गत)कल्पन, खंडन, प्रतिषेधन, निषेधन करें, सबको मिथ्या "मा-या" मात्र, "या-मा", "जो नहीं है" सिद्ध करें।

यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचन्।

इस ब्रह्मांड में क्रमिक विकास-संकोच ("ईवाल्यूशन इन्वोल्यूशन) के नियमों के अनुसार जीव उपर्युक्त "चौरासी लाख" योनियों का, शरीर के प्रकारों का, अपने ऊपर अध्यारोप करता है, और फिर उनका अपवाद करता है।

यह विकास का क्रम, स्थावर, वनस्पति, जलजन्तु, कूर्म,

पक्षी, पशु, वानर, मनुष्य, पाश्चात्य विद्वानों ने भी अब पहिचाना है।

इनमें अविद्यावश होकर जीव भ्रमण करता है। बाद म विद्या प्राप्त करके, अर्थात् यह स्मरण करके, कि मैं मैं ही हूँ यह सब नहीं हूँ, अपनी सर्वदा निकटस्थ पर तो भी खोई हुई, अमरता को, स्थिरता को, पूर्णता को, पाता है।

"चित्तनदीयमुभयतोवाहिनी, संसारप्राग्भारा वहति तु पापाय, कैवल्यप्राग्भारा वहति कल्याणाय" । (योग भाष्य)

यह चित्त की नदी दोनों ओर, विरुद्धगति से, बहती है, ससार की ओर झुककर पाप की ओर बहा ले जाती है। "पुण्य च पाप च पापे," पुण्य और पाप दोनों ही परमार्थ दृष्टि से पाप हैं। सोने की साकल हो तो, लोहे की शृखला हो तो, दोनों ही सिकड़ी पैर को बाधती ही हैं। पुण्य और पाप दोनो ही जीव के बंधन हैं। जब चित्त नदी कैवल्य की ओर ढुरती है तब जीव को कल्याण की ओर बहा ले जाती है, पुण्यपाप दोनों से छुड़ाकर शांत में पहुँचा देती है। यही अर्थ मनु ने कहा है।

सुखाभ्युदयिक चैव नैश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्त च कर्म द्विविधमुच्यते॥

कर्म दो प्रकार के, प्रवृत्त और निवृत्त। एक अभ्युदयसाधक और, जीवबंधक, दूसरा ऋणनिर्मोचक, संसारबाधक, निःश्रेयससाधक, जिसको नैष्कर्म्य कहते हैं अपनी पूर्णता को भूलना, यही अविद्या है, संसार है, पुण्यपापात्मक, धर्मार्थ कामरूप त्रिवर्गात्मक, अभ्युदयात्मक बंधी है। अपनी पूर्णता को

पहिचानना, याद करना, यही परम कल्याण है, पापपुण्यातीत निःश्रेयस है, चतुर्थवर्गात्मक, परमपुरुषार्थरूप, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, ब्रह्मभाव, परमपद है।

अखिलार्थदम्।

"एतत्" का, "यह" का, रूप द्वन्द्वात्मक क्यों है, स्त्री और पुरुष क्यों हैं, पुरुष 'और' प्रकृति (जैसा सांख्य मे) कहना ठीक है, कि पुरुष, 'की' प्रकृति (जैसा वेदान्त में) कहना ठीक है सब द्वन्द्व नितरां विरुद्ध और विदृश हैं, कि सरुद्ध और सदृश भी हैं, और हैं तो क्यों हैं स्त्री-पुरुष परस्पर वाम-दक्षिण क्यों हैं, इनमें सर्वथा गुणभेद लिंगभेद ही है, कि तम प्रकाशवत, युष्मद् अस्मत् प्रत्ययवत्, विषय विषयिवत्, विरुद्ध होकर भी इनमे गुणों का परस्पर अध्यास और उभयलिंगता और अर्धनारीश्वरता भी है शिव और शक्ति में भेद है या नहीं है, है तो क्या और क्यों है, आकस्मिकता और आवश्यकता, यदृच्छा और नियति, और पुरुषकार, दैव यह दो भिन्न पदार्थ हैं या नहीं हैं, और हैं तो क्या और क्यों। यदि सब ससार, यदि यह सब जगत्, परमात्मा की केवल लीला है, यदृच्छा है, 'न खलु परतन्त्रा प्रभुधिय,' तो इसमें नियति, नियम, बहुत कड़ा अनिवार्य कार्य-कारण संबंध, पुण्य-पाप का अनुबंध, नियत पुनर्जन्म, अवश्य "सुखस्यानंतर दुःख दुःखस्यानंतर सुखं", "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च", "ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं", "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय", बीज से वृक्ष वृक्ष से बीज, इत्यादि कड़े नियम से बँधा क्रम क्यों देख पड़ता है, प्रत्येक

कार्य के लिये कारण की खोज मानवबुद्धि को क्यों अवश्य मेव होती है, होना तो मनमानी, निर्यंत्र, स्वच्छंद, उच्छृंखल, व्यतिक्रांत, अनुसंधातीत, सम्बन्धन रहित होना चाहिये फिर गणित के, विज्ञान के, प्रकृति के विभिन्न विभागों में अनति क्रमणीय अनिवार्य अबाध्य अनुल्लंघ्य अखंडनीय नियम क्या, पाँच ही महाभूत, ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, अंगुली, आदि क्यों, न्यूनाधिक क्या नहीं, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीन ही शरीर क्या, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीन ही अवस्था क्यों, तीन ही गुण, तीन ही शक्ति क्यों, ज्ञान इच्छा-क्रिया, सत्त्व-रजस्-तमस्, द्रव्य गुण कर्म, सत्-चिद्-आनंद, क्या और क्यों, राग द्वेष-शांति, प्रवृत्ति-निवृत्ति-अनुवृत्ति क्या और क्यों, तात्त्विक मोक्ष, सद्योमुक्ति, चित्तविमुक्ति से, और सांकेतिक-मोक्ष, क्रममोक्ष से, क्या भेद और क्यों, सांकेतिक मोक्ष के विविध प्रकार क्या और क्यों, तात्त्विक मोक्ष और सिद्धियों में क्या भेद और क्यों, जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त में क्या भेद और क्यों, जीवन्मुक्त अथच अमुक्त अधिकारी जीवों में और अधिकार-वासना रहित जीवन्मुक्तों और जीवों में क्या भेद और क्यों, प्रत्येक प्रश्न के दो पक्ष, पूर्वपक्ष, और उत्तर-पक्ष, तथा निर्णयात्मक तीसरा, उभय समन्वित मध्यस्थ सिद्धान्त क्यों, दर्शनों के विविध वाद क्यों, इत्यादि असंख्य प्रश्नों के कुछ न कुछ परस्पर संगत उत्तर इस महावाक्य के विचारने से, हेरने फेरने से, मिल जाते हैं। समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र, आधिभौतिक, आधिदैविक सभी शास्त्रों के भी मुख्य मुख्य मूल सिद्धांत सब इसी आध्यात्मिक शास्त्र के

चीज वा सारभूत महावाक्य से निकल सकेंगे। पर,

नम पतत्यात्मसम पतत्रिए ।

जिस पक्षी के परों में जितना बल होगा उतना ही ऊँचा और दूर आकाश में उड़ सकेगा। जिसको जितने शास्त्र आते हों, और जितनी शक्ति खोजने की उसको हो, जितना धैर्य, धृति, धामना, निर्बन्ध, विविध और विशेष ज्ञान की प्राप्ति का, हो, उतना ही इसमें से पावेगा। ऐसा इस लेखक का विश्वास है। और 'ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा", "अध्यात्मविद्या विद्यानां", यह अति प्राचीन वेद, गीता, आदि का प्रवाद है ही।

अन्य पुस्तकें।

ऊपर लिखे प्रश्नों के, और उनसे सबद्ध अवांतर प्रश्नों के, विषय में, इस महावाक्य की सहायता से, जो कुछ थोड़ा बहुत मेरी समझ में, इस जन्म में, इस शरीर से, आया, वह मैंने "दी सायंस् आफ् पीस्' (अर्थात् "शांतिशास्त्र", वा "मोक्षशास्त्र",) नामक अंग्रेजी भाषा में लिखे ग्रन्थ में कहने का यत्न किया है। तथा, अविद्या और अस्मिता (अहंकार) के परिणामस्वरूप राग और द्वेष, "मैं" और "यह" के, एक और अनेक के अभेद और भेद के, संयोग वियोग से किस प्रकार उपजते हैं, तथा अभेद-बुद्धि प्रधान राग और भेद-बुद्धि प्रधान द्वेष के बहुविध अवांतर भेद और विकार, शाखा-प्रशाखा रूप से, कैसे फैलते हैं, इच्छा का क्या स्वरूप है, तीन एषणा क्या और क्यों हैं और उनका इन क्षोभविकारों से, संरभविकारों से, क्या संबन्ध है, प्रसिद्ध षड्रिपु, काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, का राग द्वेष के मुख्य प्रकारों में कैसे समावेश होता है, साहित्य और रस अलंकारादि का क्या स्वरूप है, नव रसों का राग और द्वेष के नीचे विभजन राशीकरण कैसे होता है, और क्यों इनकी संख्या नौ ही मानी है, राग द्वेष आदि का निग्रह, नियमन, दमन, शोधन, सदुपयोजन कैसे हो सकता है, अध्यात्म शास्त्र वा शांतिशास्त्र वा मोक्षशास्त्र के अंतर्गत क्षोभशास्त्र, संरंभशास्त्र, रागद्वेषशास्त्र के जानने से क्या फल हो सकते हैं, इत्यादि विषय "दी सायंस् आफ् दी ईमोशन्स्" ("क्षोभशास्त्र") नामक ग्रंथ में दिखाने का प्रयास किया है। मानव समाज की नींव, नींव, प्रतिष्ठा, किस प्रकार से अध्यात्मशास्त्र के सिद्धांतों पर, प्राचीन काल में, इस भारतवर्ष में की गई, और अब फिर समस्त पृथ्वीतल पर हो सकती है, कैसे ज्ञान, इच्छा, क्रिया (सत्त्व, तमस्, रजस्) की, विशेष गुण की, स्वभाव में प्रधानता के अनुसार, तीन द्विजवर्ण और एक एकज वर्ण बनते हैं, और इनमें किस प्रकार से कर्मविभाग, वृत्ति-विभाग (जीविका विभाग), उपायन-विभाग (राघस्, पारितोषिक, धन, शुल्क, दक्षिणा, इनाम का विभाग) होना चाहिये, ("मैं", "मैं-यह", "यह-नहीं", और "मैं-यह नहीं-हूं" इसके अनुसार) चार आश्रम क्या और क्यों हैं, चार वर्ण और चार आश्रम की व्यवस्था से कैसे मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन से संबंध रखने वाले सभी प्रश्न उत्तीर्ण हो सकते हैं, इत्यादि विषय "दी सायंस आफ् सोशल् आर्गेनिजेशन" ("समाज-व्यवस्था-शास्त्र") में तथा

अन्य ग्रन्थों में कहने का यत्न किया है। प्रचलित सभी मतों, सम्प्रदायों, धर्मों, मजहबों के मूल सिद्धात एक ही हैं, यह दिखाने का प्रयास "दी सायस् आफ् रिलिजन्" ("धर्म-शास्त्र") नामक ग्रन्थ म किया है। प्रणववाद का अंग्रेजी अनुवाद "दी सायस आफ दी सेक्रेड वर्ड" (ओंकार-शास्त्र) के नाम से जो प्रकाशित हुआ, उसकी चर्चा पहिले कर चुका हू। पूर्वोक्त "वेदांतहृदय सूत्र" का आशय "थियासोफिस्ट" नामक मासिक पत्र में (जो एक दो वर्ष बबई से निकल कर अब आड्यार, मद्रास, से, प्राय पचास वर्ष से निकल रहा है) पहिले सन १८९४ ई० (१९५१ वि०) में दो लेखों में प्रकाश हुआ (प्रणववाद के अनुवाद को छोड़ कर अन्य ग्रन्थों को उसी आशय का विस्तार समझना चाहिये।

जिस जिस समय ये लेख और ग्रथ लिखे और छापे गये उस उस समय अन्तरात्मा की प्रेरणा ऐसी ही हुई कि ये अंग्रेजी में लिखे जायँ। स्यात् इनके द्वारा पश्चिम के देशों में इन प्राचीन विचारों का कुछ थोड़ा प्रचार हुआ हो। भारतवर्ष में तो ये भाव पुराने हैं, और समय समय पर सस्कृत प्राकृत भाषाओं में विविध प्रकारों से कहे गये हैं। युग-भेद से, वक्ता श्रोता की प्रकृति के अनुरूप कहने सुनने के प्रकार में, शब्द विन्यास में, वाक्यों की रचना और क्रम में, प्रत्येक जीर्णोद्धार के समय न्यूनाधिक भेद होता रहा है। इस लेखक को "अहं एतत्-न" के प्रकार से विशेष संतोष हुआ, इस लिये, इस आशा से कि लेखक के चित्तमल का क्षय हो, तथा, स्यात्, अन्य जिज्ञासु खोजी भाई बहिनों को भी इस प्रकार से

कुछ सहायता मिले, अंतरात्मा की प्रेरणा से इसको लिख दिया।

मधुस्फीता वाच परमममृत निर्मितवतस्
तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
ममत्वेता वाणीं गुणकथनपुण्येन भवत
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता॥
त्रयी सांख्य योग पशुपतिमत वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिन्मद पथ्यमिति च।
रुचीना वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषा
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥
(शिवमहिम्नस्तुति)

प्रणव-महिमा।

जैसा पहिले कहा, जब से "अहं-एतत्-न' महावाक्य का उदय मेरे हृदय में हुआ, तबसे मैं इस खोज में रहता था कि कोई प्राचीन संस्कृत ग्रंथ मिल जाय जिससे यह महावाक्य, सर्वशास्त्रसाधाता, अखिलार्थद, स्वयसिद्ध, स्वत प्रमाण होता हुआ, परत प्रमाण भी, आप्तवाक्यसमर्थित भी, हो जाता, तो अन्य जिज्ञासुओं को इसकी ओर फेरने फिरने में सौकर्य होता। अवश्य बीच बीच में मेरे मन में आता रहा कि हो न हो प्रणव के तीन अक्षरों में यही अर्थ होगा। पर निश्चित प्रमाण नहीं मिलता था।

माण्डूक्य उपनिषद् में, गोपथ ब्राह्मण में, अन्य ग्रंथों में, कई कई अर्थ इन तीन अक्षरों के किये हैं। महिम्नस्तुति का श्लोक प्रसिद्ध है,

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस् त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत् तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानम् अणुभिस्
समस्तं व्यस्तं त्वा शरणद गृणाति ओम् इति पदम् ॥

अर्थात् तीन वेद, तीन वृत्ति (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) तीन लोक, (तीन गुण, तीन शक्ति,) तीन देव (ब्रह्मा विष्णु, महेश) को तीन अक्षरों से (क्रमशः) सूचित करता हुआ, (तीनों अक्षरों को एक साथ, एक ध्वनि से, उच्चारण करने पर) सब विकृतियों, विकारों, से उत्तीर्ण, अतीत, (क्रमरहित), तुरीयावस्था को सूचना भी करता हुआ हे परमात्मन्!, हे महान्!, शरण देने वाले, भय से मोक्ष देने वाले, यह ॐ पद तुम्हारे व्यस्त (क्रमिक, सक्रिय, जगद्) रूप को भी और समस्त (क्रमातीत, निष्क्रिय, निश्चल) रूप को भी कहता है। कुछ और उक्तियों को देखिये।

ओंकार प्रणवस्तार प्रातिभ सर्वविन्मति । (कोष)

सर्वविन्मति, सर्वज्ञबुद्धि, वही पूर्वोक्त अविशिष्टा शाश्वती बुद्धि, सकृत्प्रभ, सकृद्विभात, सकृद्विद्युत आदि शब्दों से उपनिषदों में कही बुद्धि।

वेदादिस्त्रिगुणो ब्रह्म सत्यो मन्त्रादिरव्ययः । (तंत्र)

वेदों का आदि, मूल, त्रिगुण, ब्रह्म, सत्य, मंत्रों का आदि, मूल, अव्यय।

अक्षर प्रणौति (परमात्मानं प्रणौति, स्तौति, स्तवीति)।
(छांदोग्य)

प्र नूयप्रकर्षेण स्तूयते प्राप्यते आत्मा अनेन इति प्रणव।

सर्वं (दर्शन, बोध, संसार, जीवन) प्रकर्षेणनवी करोति, इति प्रणव ।

आत्मा की स्तुति करता है, याद दिलाता है, और ब्रह्म ज्ञान द्वारा सब दर्शन को, सब जीवन को, नवीन कर देता है। द्रष्टा की आँख को नया कर देता है। वह सब संसार को, सब भावों को, नई आँख से देखने लगता है।

अवति इति ओम् ।

अवति, रक्षा करता है।

तस्य वाचक प्रणव । तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्। प्रातिभाद्वा सर्वम् तारक सर्वविषय सर्वथाविषय अक्रम चेति विवेकज ज्ञान । (योगसूत्र)

परमेश्वर का वाचक प्रणव है। उसमें सपूर्ण सर्वज्ञता का बीज है। प्रातिभ, आकार के स्वरूप और अर्थ के ज्ञान वाली तारक प्रतिमा से सर्वज्ञान प्राप्त होता है। अपनी प्रतिमा में उत्पन्न इस तारक, (मैं और यह के) विवेक (अर्थात् अन्यता) रूप, ज्ञान में, सब विषय, सब प्रकार से, एक ही क्षण में, क्रम रहित, क्रमातीत, होकर वर्तमान हैं।

ॐ इत्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्ठ नाम, यस्मादुच्चार्यमाण एव ससार भयात्तारयति तस्मादुच्यते तार इति ।

यह ॐ ब्रह्म का सबसे पासवाला नाम है। इसके उच्चारण से ही जीव भय से तर जाता है, इसलिये, इसको तार, तारक-मंत्र, भी कहते हैं।

ॐ कारप्रणवोद्गीततारतारकादीनि च नामानि तस्य।

ओमित्यनुमतौ प्रोक्त प्रणवे चाप्यनुक्रमे ।

सत् का वाचक है, इसलिये अनुमति का भी द्योतक है। "हां, जो आप कहते हो यह ठीक है, सत्य है, एसी मेरी भी अनुमति है"। अनुक्रम के लिये आरंभ के लिये भी इसका प्रयोग होता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ (गीता)

जो मुझको, मैं को, आत्मा को, स्मरण करता और ॐ का उच्चारण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
ओंकार एवेदं सर्वम्। (छान्दोग्य) (प्रश्न उ०)
ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। (तैत्तिरीय)

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। (माण्डूक्य, तारसार)

ओंकार ही सब कुछ, पर और अपर है। भूत भवद्, भविष्य, सब उसीका फैलाया है, व्याख्यान है।

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो "नाऽन्य", एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥
(भागवत, ९-१४-४८)

पुराकाल, सत्ययुग, मे, एक ही वेद, सर्ववाङ्मय प्रणव रूप था। तथा एक ही देव नारायण, "अन्य-नहीं", एक ही अग्नि, और एक ही वर्ण था।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये। ओमित्येतत् ॥ (कठ, गीता)
एतद् हि एव अक्षरं ब्रह्म एतद् हि एव अक्षरं परम्।
एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठ)

जिस परमपद का ही सब वेद आमनन करते हैं, जिसीको सब तपस्वी बखानते हैं (व्याख्याति, वदंति), जिसी को पाने की इच्छा से तपस्वीजन घोर ब्रह्मचर्य करते हैं, उस पद को मैं थोड में तुमसे कहता हूँ, यह ॐ है। यही अक्षर ब्रह्म है, परम अक्षर है, इसको जानकर, जीव जो चाहै वह पावै। (ऊपर कह आये हैं कि जैसे विद्या पढ़कर, समावर्त्तन संस्कार से संस्कृत होकर, बालिग, वय प्राप्त, प्रौढ़ होकर, युवा जो चाहै उस वृत्ति, "वर्ण" का वरण और आरंभ कर सकता है, वैसे ही इस महासमावर्त्तन संस्कार से, प्रणवनिष्ठ ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, से, संस्कृत होकर, इस प्रणव के द्वारा जिस गति को चाहे, जिस प्रकार की विशेष मुक्ति को (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, देव-सायुज्य, को। योगशास्त्रोक्त विदेह, प्रकृतिलय, को अथवा ऋषित्व, देवत्व, सूर्यत्व आदि को, अथवा शुद्ध विदेहकैवल्य को) चाहै, वह उसको मिल सकती है। मनु में भी कहा है,

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद् वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ इत्यादि
(सर्वमेतत् त्रिवृत त्रिवृत्—ऐसा भी कहा है।)

इत्यादि । अधिकांश उपनिषदों में प्रणव की महिमा मिलती है। पुराणों में, तन्त्रों में, सभी जगह कहीं है। जो विशेष विशेष देव देवियों के आराधनमंत्र हैं उनके आदि अंत मे भी इसीका प्रयोग है। बिना इनके वे अकिंचित्कर हैं। पर क्यों और कैसे इसका उपलब्ध ग्रंथों से पता नहीं चलता। "अहं-एतत्-न", ऐसा अर्थ किसी ख्यात ग्रंथ में स्पष्ट शब्दों में नहीं मिलता। प्रणववाद में मिला, उसकी चर्चा विस्तार से दूसरे लेख मे की जा चुकी है।

यहाँ इस ओर ध्यान दिलाने का प्रयोजन यह है कि प्रणव का यह अर्थ, "अहं-एतत्-न", बोधात्मक, बौद्ध, विचारात्मक, ज्ञानात्मक, चित्तविमुक्तिसंबंधी, ज्ञानयोगविषयक है। प्रक्रियात्मक नहीं। इस ज्ञान से संसार का स्वरूप और उसके नियम, उसके प्रकार, समझ में आजायँ और शांति मिले। पर इससे कोइ सृष्टि-स्थिति-संहारशक्ति, कोई सिद्धि, कोई विभूति, महाभूतों और द्रव्यशक्तियों पर वशिता, तत्क्षण प्राप्त नहीं होती। ऐसी सिद्धियों की कथा न्यारी है। जैसे ब्रह्मचर्य मे अध्ययन अच्छी तरह करके ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होकर, उस आश्रम को समाप्त कर, समावृत्त होकर, गृहस्थी में प्रवेश करके, जिस रोजगार व्यापार व्यवसाय की ओर उसकी प्रकृति झुके उसको कर सकता है और उससे जीविकालाभ कर सकता है, वैसे ही "एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत्', अध्यात्मज्ञान को पाकर जो कुछ वासनाशेष रह जाय, चित्त में जो वासना का अधिकार, प्रारब्धशेष का अधिकार, और उसके कारण जीव की जो कुछ अधिकारिता,

बच जाय, तदनुसार वह छोटी या बड़ी सिद्धियाँ साधकर जीवन्मुक्तावस्था में संसार का कार्य कर सकता है। इन सिद्धियों की मात्रा में बहुत भेद होता है। पर ज्ञान के रूप में नहीं। जो ही ज्योतिष्मत्ता छोटे दीपक में है, वही सूर्य मे। प्रकाश गुण एक है। पर प्रकाशन क्रिया के विस्तार में, तेजस् में, क्रियाशक्ति में, भारी भेद है। ये सिद्धियाँ कर्मसाध्य हैं।

कर्मणैवमहेन्द्रत्व ब्रह्मत्व चैव कर्मणा।

कर्मणैव च रुद्रत्व विष्णुत्व चैव कर्मणा॥ इत्यादि।

जैसे एक छोटे मानव राज्य में चौकीदार से लेकर राजा तक अधिकारियों की परम्परा सतत है, वैसे ही अनन्त ब्रह्माडों के प्रबंध में, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि ईश्वर कोटि के मुख्य अधिकारियो से, और तदधीन मनु और इंद्र, सप्तर्षि और लोकपाल, से, लेकर, बहुत छोटे दर्जों तक। (सूफी संकेत में, फरिश्ते, कुतुब, औताद, अब्दाल, औलिया, नबी, रसूल, आदि)। और जैसे मनुष्य राज्य मे, जो अधिकारी कर्मचारक कार्य वाहक, जितना ही अधिक निस्स्वार्थ, लोकहितैषी, विश्वास पात्र होता है, उतना ही अधिक अधिकार, अख्तियार, सर्कारी खजाना, उसके सुपुर्द किया जाता है, वैसे ही इस ईश्वरीय, ब्रह्माडशासन में भी जान पड़ता है। "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्" (योगसूत्र)। ज्यों ज्यों योगी की अस्तेय के यम में, व्रत में, स्थिति दृढ़ होती जाती है, त्यों त्यों अधिक रत्न उसके पास आते हैं। यह सब चित्त-परिकर्म से साध्य है।

विविध शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न भी शरीरधारी साधारण मनुष्य स्थूल शरीर से, आकाश में नहीं उड़ सकता,

पानी के भीतर घटों नहीं डूब सकता। पर चिड़िया तो उड़ सकती है, मछली तो डूब सकती है। जन्म ओषधि-मंत्र-तप-समाधि-जा सिद्धय (योगसूत्र)। इन जन्तुओं को यह सिद्धियाँ सहज, सहजात, जन्मजा हैं, जो मनुष्य को नहीं। विज्ञान से विदित होता है कि कीटों को, चींटी चीटों को, फनगों पतगों को, कुत्ते शृगाल आदि पशुओं को, तरह तरह के अति-सूक्ष्म गंध और र ग और रस के ज्ञान, बहुत दूर से, भी होते हैं, जो साधारण मनुष्य को नहीं होते। ज्ञानवान् मनुष्य यदि उड़ना चाहे या डूबकर पानी में चलना चाहे तो उसको बड़े श्रम से वायुयान या अन्तर्जलचर वहित्र बनाना होगा, या उससे भी अधिक श्रम से योगमार्गों से अपने स्थूल सूक्ष्म शरीर में यह शक्तिया सम्पादन करना होगा। यह सब क्रियायोग का विषय है। शुद्ध अध्यात्मज्ञान का नहीं। शुद्ध ज्ञान, सिद्धियो के अत में भी, शाति का ही काम देता है।

महर्षयोऽपि ऐश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णा कैवल्य प्रविशति।
(शारीरक भाष्य)

जब ब्रह्मा के निद्रा का समय पास आता है, और इस हेतु से जगत् की शक्तिया शिथिल और मद गति होने लगती हैं, और इस कारण से महर्षियो की सिद्धिया, शक्तिया, ऐश्वर्य, क्षीण होने लगते हैं, तब वे भी निर्विण्ण, खिन्न, विरक्त होकर, अधिकारिता से (जगत् की अफसरी से, ओहदादारी से, विशेष विशेष विभागों की रखवारी के काम से) थककर, कैवल्य-पद, परमपद, विदेहमोक्ष, में प्रवेश करते हैं। ऊपर योग-

वासिष्ठ के श्लोक का उद्धरण हो चुका है, परमेष्ठी, हरि, भव भी शान्त हो जाते हैं।

काकभुशुण्ड (योगवासिष्ठ में) कहते हैं,

गरुड़वाहन वृषभवाहन वृषभवाहन विहगवाहन ।
विहगवाहन गरुड़वाहन कलितजीवित कलितवानहम् ॥

अर्थात्, अपनी अति दीर्घ आयु में मैंने विष्णु को शिव, शिव को ब्रह्मा, ब्रह्मा को विष्णु होते देखा है। इन सब छोटे से छोटे, बड़े से बड़े, अधिकारियों के पीछे, सब लीला का अकेला मालिक, वही केवली "कारण कारणानां," परमात्मा है। अधिकारिता भी उसी की लीला का एक अंश है।

ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (गीता)

ईश्वर, परमात्मा, सर्वभूतानां, ब्रह्मविष्णुशिवादीनामपि, प्रकृते, परमात्मन प्रकृते, अहङ्कारविमूढात्मा, ब्रह्मादिरपि, "अजमानिनो मे" (भागवत)।

प्रणव की महिमा के वर्णनों की एक और अर्थ परम्परा इस प्रकार के सिद्धि साधक क्रियायोग से सम्बन्ध रखने वाली हो सकती है। प्रणव की उपासना योग का एक मुख्य अङ्ग है। "यथाभिमतध्यानाद् वा" कहते हुए भी, योगसूत्र में फिर फिर प्रणवाभ्यास पर जोर दिया है। "ईश्वरप्रणिधानाद् वा," "तस्य वाचक प्रणव," "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः", "स्वाध्याय, प्रणवादि पवित्राणां जप, मोक्षशास्त्राध्ययनं च,"

इत्यादि, "अनाहत" नाद भी इसी का स्यात् अति सूक्ष्म मूल प्रकार है। उपनिषदों में प्रतिज्ञा है कि प्रणव ही से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहृति होती है। इस प्रतिज्ञा का ठीक व्याख्यान तो, आधिभौतिक आधिदैविक शास्त्रों के रहस्यों में निष्णात परमसिद्ध पुरुष ही कर सकते हैं, जो "श्रुति प्रत्यक्षहेतव" हों, सुनी बात को कर दिखा सकते हों। हम लोग कुछ यों ही समझ कर मन का सम्बोधन समाधान कर सकते हैं कि, प्रणव की ध्वनि, गूँज, शब्दतन्मात्र वा शब्द सामान्य का स्वरूप है जो आकाश तत्व का व्यंजक, उत्पादक गुण है, जैसे अन्य तत्त्वों वा महाभूतों के अन्य तन्मात्र, स्पर्शसामान्य, रूप (वर्ण) सामान्य, रससामान्य, गंधसामान्य, तथा जगत् की सृष्टि की प्रक्रिया में प्रायः उपनिषत्, दर्शनसूत्र, पुराण आदि में यह माना गया है कि शब्द और आकाश से क्रमशः अन्य सब तत्व और गुण प्रादुर्भूत हुए, और उसी मे क्रमशः प्रतिप्रसव मे लीन हो जाते हैं, जैसे मृत्तिका के सब विकार, मिट्टी की बनी सब चीजें, फिर मिट्टी में मिल जाती हैं, वैसे मिट्टी पानी में, पानी आग में, आग हवा में, हवा आकाश में; तो यह कहना उचित हो जाता है कि आकाश के व्यंजक आविष्कारक प्रणव से सर्व जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहृति, सब कुछ, होती है। ध्वनिशक्ति, मंत्रशक्ति, मंत्रशास्त्र, "दी सायन्स आफ् साउण्ड," सब इस स्थान पर चरितार्थ होता है। बिना इस शास्त्र के पुनरुद्धार के, बिना अव्यक्त शब्द अर्थात् ध्वनियों की शक्तियों के ज्ञान के, वेद के कर्मकाण्डांश का अर्थ नहीं लग सकता। एक ही गूँज की

ध्वनि, व्यक्ताक्षरहीन, थोड़े से भेद से हर्षसूचक, थोड़े से भेद से शोकसूचक, या भयसूचक, वा क्रोधसूचक, हो जाती है। चित्त के असंख्य विकार, सभी, एक इस मूलध्वनि के तत्तदनुरूप विकारों से सूचित हो सकते हैं, और होते हैं। और प्रत्येक ध्वनिविकार से एक विशेष स्पंदन, स्फुरण, आकाश तत्त्व में, पैदा होता है और यह क्रमशः अन्य गुणों और महाभूतों और उनके विकारों में परिणत होता है। प्रत्यक्ष ही, चित्त के, प्रत्येक विकार, काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि के अनुरूप मुख की आकृति में वर्ण, स्वर, हस्त पाद आदि की मुद्रा चेष्टा में, सारे शरीर के रस रक्त आदि धातुओं में, सभी अंशों में परिवर्त्तन हो जाता है। प्रणव ध्वनि की उपासना से, उस पर संयम करने से, स्यात् इन विषयों का ज्ञान और तत्संबधिनी क्रियाशक्ति प्राप्त हों।

आध्यात्मिक दृष्टि से, प्रणव के तीन अक्षरों का बोधात्मक अर्थ, "अह-एतत्-न" "मैं-यह-नहीं (हूँ)", यह संवित् ही, अखिलार्थ देनेवाली, चित्त की विमुक्ति शांति करने वाली, सब शंकाओं का समाधान सब प्रश्नों का उत्तर, सब विरोधों का परिहार, सब अनंत असंख्य भावों का महा समन्वय करने वाली है। इति॥

॥ ॐ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥ ॐ इत्येतत्॥

एतद् ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद् ध्येवाक्षर पर ।
एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत ॥
सर्व समान सर्वेण सर्वो भवति सर्वथा ।
सर्व सर्वेण संबद्ध सर्व सर्वत्र सर्वदा ॥
स्वय सदा संसरति नित्य प्रार्लीयते स्वयम् ।
स्वय जागति भूतेषु निवृत्त स्वपिति स्वयम् ॥
स्वय कर्माणि कुरुते युज्यते च फलै स्वयम् ।
स्वय वधे निपतति मुच्यते च तथा स्वयम ॥
स्वय करोत्यय सर्व न किंचित् कुरुते स्वयम् ।
स्वय सदैव सर्वत्र सर्व , किंचिच्च न स्वयम् ॥

कृपपरिणति चेत क्लेशवश्य क चेद्
क च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धि ।
इति चकितममंदीकृत्य मा भक्तिराधाद्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥
असितगिरिसम स्यात् कज्जल सिंधुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाल
तदपि तव गुणानामीश पार न याति ॥
जानाम्यधर्म न च मे निवृत्ति
जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

विश्वात्मा सर्वभूताना हृद्देशे ननु तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
सदुक्तमसदुक्त वा तव प्रेरणयैव तत् ।
त्वदीय वस्तु विश्वात्मन् तुभ्यमेव समर्पये ॥
जीवात्मने नमस्तुभ्य तुभ्य सूत्रात्मने नम ।
स्थिरात्मने नमस्तुभ्य नमस्तुभ्य चरात्मने ॥
प्रकृतात्मन्नमस्तुभ्य नमोऽस्तु विकृतात्मने ।
नमोऽव्यक्तात्मने तुभ्य नमस्ते व्यजितात्मने ॥
एकानेकात्मने तुभ्य नमश्च प्रत्यगात्मने ।
सर्वात्मने नमस्तुभ्य नमोऽस्तु परमात्मने ॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाह न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरग क्वचन समुद्रो न तारग ॥
देहबुद्ध्या तु दासोऽह जीवबुद्ध्या त्वदशक ।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाह पावयैतत्कुमापितम् ॥
नाथ वेद स्वमात्मान यच्छक्त्याऽहंधिया हृतम ।
त दुरत्ययमाहात्म्य भगवतमितोऽस्म्यहम् ॥
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते ॥
मनस्विनो यज्ञपरास्तपस्विनो
यशस्विनो मन्त्रदृश सुमगला ।
क्षेम न विदन्ति विना यदर्हण
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नम ॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै सद्गुरवे नमः ॥
जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धन
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं
धियं स नोऽव्यात् परमो गुरोर्गुरुः ॥

अमर भयौ मैं कहा कियौ तौ जौ तोहिं अमर न कीन्हौ,
कठिनहु यह सहजहु है अति यह, अपुनहिं आपा चीन्हौं।
करुना निबस महामुनि ज्ञानी सब याही सिख दीन्हौ,
भीतर आखि फेरि देख्यौ जिन तिनछिन भय जय लीन्हौ
जेइ दास भगवान कहैं यह जेइ दास भगवान सुनैं।
तेइ चीन्हिं भगवान गुनन कौ निर्गुन सगुन अभेद गुनैं॥

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥ ॐ

ॐ